वे मिलेंगे



— सुदर्शन सिंह 'चक्र'

वे मिलेंगे

[सुदर्शन सिंह 'चक्र']





प्रकाशन-विभाग

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान

मथुरा–२८१००१



प्रकाशन-तिथि : गीता-जयन्ती सं. २०३७ वि. (१८-१२-१९८०)

मूल्य : सजिल्द १७ रुपये, अजिल्द ११ रुपये

प्रथम संस्करण : ३१५० प्रतियाँ



मुद्रक :

पीयूष कुमार शर्मा

शारदा प्रिंटर्स, मथुरा ।

अनुक्रमणिका

चतुर्थ खण्ड

(ऋषिगण)

पंचम खण्ड

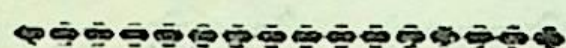
(देवगण)

"यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।"

विमल वन्धु व्रजेन्द्र नन्दन ।
तुम चपल, तुम अतिसदय,
तुम स्नेह - धन ॥
बहुत क्रीड़ा हो चुकी,
अब थक चुका मन ।
अब पधारो, ध्वस्त कर दो—
भटकता भव – देह - बन्धन ॥
दूरियाँ सब दो मिटा,
अब कनूँ मेरे ।
अब पुकारो,
सहज सुन्दर नन्द नन्दन ।

वे मिलेंगे प्राण के भी प्राण,
वे मिलेंगे,
नित्य मिलकर भी सदा जो-
अनमिले, अनजान ।।
वे मिलेंगे,
मिलन-आशामें कि जिनकी–
भटकता है, बौखलाया हुआ यह मन ।
वे मिलेंगे,
न्यस्त जिनमें हम स्वयं,
वे प्राण धन ।।

अपनी बात



विचार बहुत पुराना—'व्रजका एक दिन लिखना है' लेकिन मेरा विचार क्या काम आवे ? मैं कहाँ लेखक हूँ कि मेरी योजना मूर्तिमान बने। लिखाने वाला बहुत चपल है। वह कब क्या चाहेगा, कैसे पता लगे। उस समय तो 'प्रभु आवत' लिखा गया और मानस संघ रामवन (सतना) ने उसे प्रकाशित किया।

श्रीरघुनाथजी लंकासे पुष्पक विमानमें बैठकर चलने वाले हैं, यहाँसे लेकर पुष्पक अयोध्याकी धरा पर उतर गया। भरतलाल सिर पर श्रीरामकी पादुका उठाये चले आ रहे हैं। श्रीरघुनाथ विमानसे उतरकर दोनों भुजाएँ फैलाये भाईसे मिलने दौड़े—बस, इस मध्य श्रीरामसे सम्बन्धित लोगोंके मनमें क्या-क्या भाव उठे, यही 'प्रभु आवत' का विषय है।

बहुत रुचा 'प्रभु आवत' लोगोंको। अनेकोंने पत्र लिखे। अनेकोंने मिलनेपर उसकी प्रशंसाकी। भाई श्रीजयदयाल डालमियाने उसकी पर्याप्त अधिक प्रतियाँ अपने परचितोंमें बाँटी। वे तबसे आग्रह करते रहे—'ऐसा ही एक ग्रन्थ श्रीकृष्ण-चरितपर लिखिये।'

श्रीकृष्ण-चरितमें वियोगके दिनका वर्णन मैं लेना नहीं चाहता था। उसमें सबके अन्तःकरणके भावोंमें एकरूपता आवेगी। मिलनका दिन बहुत दिनों पश्चात् ध्यानमें आया—सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें मिलन। इस पुस्तकमें मिलन नहीं है, मिलनकी आशा, सम्भावनाकी उमंग है—मिलन-पूर्वका भावोद्रेक है।

मिलनका भावोद्रेक केवल व्रजजनोंमें ही तो नहीं था, द्वारिकाके लोगोंमें, बलराम-श्याममें कम था ? व्रज एवं द्वारिकासे बाहर भी दूसरे बहुत हैं पृथ्वीपर और देवादिलोकोंमें, जिनमें श्रीकृष्णसे मिलनकी तीव्र उत्कण्ठा है। मैने यह व्यापक दृष्टि लेकर-पात्र चयन किये हैं। कुछ वे भी जो विरोधी हैं—मिलनसे कतराते हैं।

असंख्य पात्र हैं। सबको लेना सम्भव नहीं था। श्रीकृष्णचन्द्रकी सब ससुरालोंके भी एक-एक व्यक्तिका नामोल्लेख अशक्य था। व्रजके, हस्तिनापुरके, द्वारिकाके भी बहुत थोड़े व्यक्ति ले सका मैं। जो स्वयं कृपा करके मेरे मानसमें पधारे, केवल उनको ले सका।

एक कठिन प्रश्न श्रीकृष्ण-चरित लिखते समय भी उठा था, इस समय भी उठा। यह कुरुक्षेत्र मिलन कब हुआ ?

ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्गसहिता आदिमें गोलोकमें श्रीराधाको श्रीदामके शापका वर्णन है। यह शाप था श्रीकृष्णसे सौ वर्ष वियोगका। अत: जिस कल्पकी कथाका इन ग्रन्थोंमें वर्णन है, उस कल्पमें कुरुक्षेत्र-मिलन श्रीकृष्णकी आयु एक सौ ग्यारह वर्ष हो जानेपर हुआ ; क्योंकि ग्यारह वर्षकी आयु तक वे व्रजमें रहें। धराधामपर श्रीकृष्णचन्द्र १२५ वर्ष रहे। अतः यह मिलन महाभारत युद्धके पीछे हुआ ; क्योंकि युधिष्ठिरने महाभारतयुद्धके पीछे तीस वर्ष राज्य किया है। युधिष्ठिरादि पाण्डव श्रीकृष्णके गोलोक जानेके कुछ मास पीछे (समाचार मिलते ही) महाप्रस्थान कर गये।

श्रीमद्भागवतमें कुरुक्षेत्र-मिलनका जो वर्णन है, वह सर्वथा भिन्न कल्पका है। उसमें भीष्म, द्रोणादि सबकी उपस्थितिका वर्णन है। उसमें द्रौपदीने श्रीकृष्णकी रानियोंसे उनके विवाहकी घटना पूछी है। इसका अर्थ है कि यह मिलन युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञसे भी पहिले हुआ। क्योंकि राजसूय यज्ञमें तो श्रीकृष्णकी रानियाँ इन्द्रप्रस्थ गयी ही थीं।

राजसूय यज्ञके लगभग तत्काल पीछे दुर्योधनके कुप्रयत्नसे पाण्डव द्यूतसभामें हारे। वे तत्काल वनवासको गये। बारह वर्षका वनवास, एक वर्षका गुप्तवास और फिर महाभारत युद्ध। यह देखते कुरुक्षेत्र-मिलन महाभारत युद्धके पश्चात् मानना होगा या राजसूय यज्ञके पूर्व। महाभारत युद्धमें भीष्म, द्रोणादि मारे गये। श्रीमद्भागवतमें इनलोगोंकी कुरुक्षेत्रमें उपस्थितिका वर्णन है। अतः यह कुरुक्षेत्र-मिलन राजसूय यज्ञसे पहिले मानना होगा।

मैंने अपने श्रीकृष्ण-चरितमें केवल अवतार लीला ली है। गोलोक तथा उसके शापादिका वर्णन नहीं लिया है। श्रीमद्भागवतमें वर्णित घटना एवं वर्णनको प्रधान माना है। फलतः कुरुक्षेत्र मिलन युधिष्ठिरके राजसूयसे पहिले हुआ, यह मानकर वर्णन किया है।

गर्ग-संहितामें सिद्धपुरमें दूसरे सूर्यग्रहण पर मिलनका वर्णन है। इस मिलनके पश्चात् श्रीराधा और गोपियाँ व्रज नहीं लोटीं। द्वारिकासे पृथक उनके लिए नगर निर्माण हुआ। यह मिलन महाभारत युद्धके पश्चात् हुआ। अपने श्रीकृष्ण-चरितमें 'श्रीद्वारिकाधीश' में मैंने यह ले लिया है। द्वारिकाके समीप गोपी तालाब और सौराष्ट्रमें पायी जानेवाली गोपजाति जो अपनेको नन्द-व्रजके गोपोंका वंशज मानती है, इन दोनों तथ्योंका समाधान सिद्धपुरमें होनेवाले मिलन को माननेसे हो जाता है।

इस ग्रन्थमें अपने कृष्ण-चरितके 'श्रीद्वारिकाधीश' के अनुसार कुरुक्षेत्रमें ग्रहणके समयका मिलन श्रीमद्भागवतके अनुसार युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके पहिले ही मैंने माना है। यह पृष्ठभूमि स्मरण रखेंगे तो इस ग्रन्थके पात्रोंकी भावना समझनेमें सुविधा होगी।

आप इसे भाव-चिन्तन कहें, उपन्यासकी कल्पना कहें या और कुछ कहें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। इस बहाने कन्हाईने तो मुझे चिन्तनमें ही लगाये रखा।

—सुदर्शन सिंह

मंगलवार, आश्विन कृष्ण षष्ठी २०३३ वि०
१४ सितम्बर १९७६
श्री कृष्ण जन्मस्थान
मथुरा।

उपक्रम--

अनन्त आकाशमें प्रत्येक पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण तथा प्रत्येक अमावस्याको सूर्यग्रहण कहीं न कहीं पड़ता ही है। राहु तो छाया पुत्र—छाया-समुद्भव है। सूर्य और चन्द्रमाके मध्य पृथ्वी आगयी तो पृथ्वीकी छाया चन्द्रमापर पड़ती कहीं न कहींसे दीखेगी ही। पृथ्वी और सूर्यके मध्य चन्द्रमाके आनेपर भी यही होगा। पूर्णिमाके दिन सूर्य तथा चन्द्रमाके लगभग मध्यमें पृथ्वी होती है। अमावस्याको पृथ्वी और सूर्यके लगभग मध्यमें चन्द्रमा होता है।

लगभगमें ही पूरा गणित शास्त्र है। सूर्य इतना बड़ा है कि पृथ्वी उसे पूरा नहीं ढक सकती। चन्द्रमा तो पृथ्वीसे बहुत छोटा है। अतः यह गणितका ही विषय है कि किस पूर्णिमाको पृथ्वीकी छाया चन्द्रमा पर कहाँसे कितनी पड़ती दीखेगी अथवा किस अमावस्या को चन्द्रमाकी छाया कहाँसे सूर्य पर कितनी पड़ती दीखेगी।

अनन्त अन्तरिक्षका हिसाब कोई भी गणितज्ञ नहीं रख सकता। उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है। जब पृथ्वी पर से पृथ्वीकी छाया किसी पूर्णिमाको चन्द्रमा पर पड़ती दीखे तो चन्द्रग्रहण और जब पृथ्वीपर कहींसे किसी अमावस्याको चन्द्रमाकी छाया सूर्यपर पड़ती दीखे तो सूर्यग्रहण, इतना ही हिसाब ज्योतिष रखता है; क्योंकि ग्रहणका प्रभाव वहीं पड़ता है, जहाँसे वह दिखायी पड़ता हो। जो ग्रहण पृथ्वीके किसी भागसे न दीखें, वे हम पृथ्वीके लोगोंके लिए निष्प्रयोजन है।

जिस ग्रहणमें सूर्य अथवा चन्द्र जितने अधिक छायासे ढक जायँ, वह ग्रहण उतना ही अधिक पृथ्वीपर प्रभाव डालने वाला होगा। इनमें खग्रास (सम्पूर्ण ढकनेवाला) चन्द्रग्रहण कुछ वर्षोंके अन्तरसे पड़ता ही रहता है; किन्तु खग्रास सूर्यग्रहण अर्थात् सूर्य पूर्णतः चन्द्रकी छायासे ढका दीखे, रात्रि जैसा अन्धकार होजाय, दिनमें तारे दीखने लगें, ऐसा कम होता है। बहुत वर्षोंके अन्तरसे होता है। कहते हैं कि कल्पकी समाप्ति पर, प्रलयसे पूर्व ऐसा सूर्यग्रहण हुआ करता है। जब बीचमें ऐसा सूर्यग्रहण पड़ता है, तब उसे बहुत बड़े विनाशका सूचक मानते हैं।

ग्रहोंका पृथ्वीपर प्रभाव कैसे पड़ता है, यह तो अन्वेषणका विषय है; किन्तु समूची सृष्टि परस्पर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखती है, यह स्पष्ट है। हम मनुष्य या पृथ्वी पूरे ब्रह्माण्डसे पृथक नहीं है। इसीलिए किसी बालकके जन्म समयकी ग्रहस्थितिके अनुसार उसकी जन्म कुण्डली बनती है। अच्छे ज्योतिषी उस कुण्डलीके अनुसार उस बालकके सम्पूर्ण जीवनकी प्रमुख घटनाएँ बतला सकते हैं। इसका अर्थ ही है कि हमारा जीवन ग्रहोंके प्रभावसे बहुत अधिक नियन्त्रित है।

हमारी पृथ्वीकी उष्णता एवं जीवनका स्रोत सूर्य है। इसी प्रकार जलतत्व, रसतत्व तथा मनका पोषक, नियन्त्रक चन्द्रमा है। पृथ्वी पर सूर्य तथा चन्द्रका प्रकाश ही सबसे अधिक पड़ता है। अतः जब सूर्य या चन्द्रमाके नैसर्गिक प्रकाशके मध्य कोई छाया आकर बाधा देगी, तब पृथ्वीके पदार्थों एवं प्राणियों पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा, यह बात समझमें आने योग्य है। ज्योतिष-शास्त्र ग्रहणोंका प्राणियों तथा संसार पर पड़नेवाला प्रभाव मानता है।

चन्द्रमाको मनका देवता माना गया है। यह रस–जल तथा कफको प्रभावित करता है। समुद्रके ज्वार-भाटे पर चन्द्रमाका प्रभाव माना ही जाता है। चन्द्रग्रहणका प्रभाव व्यक्तिगत शरीरमें मन पर, कफ पर पड़ता है। चन्द्रग्रहणके समय ये दुर्बल रहते हैं—विकृत रहते हैं।

सूर्य नेत्रके देवता हैं। उष्णता सूर्यसे आती है। अतः सूर्यग्रहणके समय नेत्र शक्ति तथा शरीरकी उष्णता--पित्त दुर्बल, विकारी रहती है। सूर्यग्रहण देखनेसे नेत्र ज्योतिहीन होते हैं, यह तथ्य तो अब वैज्ञानिक भी मानते हैं।

ग्रहणके निश्चित समय पूर्वसे उपवास, ग्रहणके समय स्नान, दान, जप, भगवत्स्मरण ग्रहणके प्रभावको मनुष्यके लिए निर्दोष तथा लाभकारी बनाते हैं, यह सर्वज्ञ ऋषियोंके द्वारा निश्चित किया गया शास्त्रीय विधान है।

जब सूर्य तथा चन्द्र एक ग्रह-पिण्ड हैं, एक निश्चित गणितके द्वारा इनके ग्रहणका पता लगता है, तब यह भी बात समझमें आनी चाहिये कि इनके ग्रहणका दुष्प्रभाव पृथ्वीके अमुक भागपर कम पड़ता होगा अथवा अमुक स्थानमें उस दुष्प्रभावको मिटानेकी विशेष क्षमता होगी। अपने पुराणोंके अनुसार चन्द्रग्रहणके समय वाराणसीमें गंगा-स्नानका विशेष महत्व है और सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें स्नानका विशेष महत्व है। अब भी चन्द्र या सूर्यग्रहणके समय इन स्थानोंपर श्रद्धालु लोगोंका भारी मेला एकत्र होता है।

पिछले द्वापरमें आज वि० सं० २०३३ से लगभग ५२४५ वर्षसे भी पूर्व (क्योंकि २०३३ वि० में श्रीकृष्ण सं० ५२०१ है। यह श्रीकृष्णके परमधाम जानेका काल है। इसमें युधिष्ठिरके राज्यकालके ३० वर्ष, वनवासके १३ वर्ष, उद्योगका एक वर्ष मिलादें तो उससे पूर्व-राजसूयसे पूर्व) भारतवर्षमें खग्रास प्रलयसेपूर्व जैसा सूर्य-ग्रहण पड़ता है, वैसा पूरा सूर्यग्रहण पड़ने वाला था। अब आपका मन हो तो महाभारत युद्धके महाविनाशका उसे सूचक मानलें। स्वाभाविक था कि ऐसे महान् सूर्य-ग्रहणके अवसर पर जिनके पास साधन थे, जो समर्थ थे, वे कुरुक्षेत्र पहुँचकर सूर्यग्रहणका स्नान करना चाहते।

उस समय सबसे समर्थ यदुवंशी थे। यादव सम्राट् उग्रसेनने विश्वजित् यज्ञ कर

लिया था। श्रीकृष्णने जरासन्धको सत्रह बार पराजित ही नहीं किया था—रुक्मिणी हरणके समय हतोत्साह कर दिया था। अतः श्रीकृष्ण ग्रहण स्नान करने पधारेंगे, यह सुनिश्चित था।

ग्रहण-स्नानका प्रलोभन न भी होता तो भी श्रीकृष्ण-मिलनका सुयोग श्रीनन्दराय और उनके अनुगत छोड़ नहीं सकते थे। पाण्डव इस योग्य हो चुके थे कि शीघ्र वे राजसूय यज्ञ कर सके। वैसे भी इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुरसे कुरुक्षेत्र दूर नहीं था।

दुष्टतम नरेश भी ग्रहण पर्वपर, तीर्थ-स्थलमें उत्पातकी बात नहीं सोच सकते थे। उस समय तक कुछ असुर थे ; किन्तु वे इतने मूर्ख नहीं थे कि ऐसे अवसर पर कोई उत्पात करके समस्त आर्य-नरेशोंके सम्मिलित विरोधको निमन्त्रण देते। अतः इस तीर्थ-यात्रामें किसी प्रकारकी कोई आशंका नहीं थी। तीर्थमें तो विरोधीको भी उपकृत करनेका ही प्रयत्न महानता मानी जाती है।

यादवोंके सम्बन्धी बहुत थे। प्रायः सभी नरेशोंसे यदुकुलके वैवाहिक सम्बन्ध थे। कुरुक्षेत्रमें ग्रहण-स्नानके साथ सम्बन्धियोंसे, विशेषतः श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलनेका सुयोग था।

श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन, इनका अपने परम सुहृद व्रजजनोंसे मिलाप देखना देवताओं तथा ऋषियोंके लिए भी परमाभीष्ट था। ऐसा सुअवसर कहाँ बार-बार सुलभ होता है।

ऋतु अनुकूल थी। बसन्त-ऋतु ; क्योंकि ग्रहण वैसाख मासकी अमावस्याको होना था। पैदलकी,रथ, गज, अश्व ऊँट या छकडों पर की जाने वाली यात्रा थी। ये वाहन कितने भी वेगवान हों, जो जितनी दूर था, उसे उतना पहिले अपने स्थानसे प्रस्थान करना था।

मार्गमें अनेक नदियाँ, पर्वत, दुर्गम-स्थान पड़ते थे। अनेक राजाओंके राज्य पड़ते ; किन्तु तीर्थयात्रीका सत्कार करना, उसे पूरी सुविधा देना सभी अपना सौभाग्य मानते थे। यात्री दलको भी सब सुविधा, सुरक्षाका प्रबन्ध करके चलना था। केवल कोई बड़ी आशंका न होने से सभी लोगोंने स्त्रियोंको साथ लेजानेमें कोई संकोच नहीं किया।

ऐसे वातावरणमें, ऐसी पृष्ठभूमिमें हृदयोंमें उमंग है—'वे मिलेंगे।'

द्वारिकाके लोगोंके मनमें भी यही उमंग है—'वे मिलेंगे' उनके वे व्रजजन ; किन्तु व्रजजनके, दूसरे सबके 'वे' कमल-लोचन वनमाली श्रीकृष्णचन्द्र।

'वे मिलेंगे' आपके मनमें भी यह अभीप्सा जागे, यह इच्छा होती है ? होती है ऐसी कुछ आशा ?



प्रथम खण्ड

(द्वारिकाके लोग)

श्रीवसुदेवजी

वृद्धावस्थामें भाई नन्दरायके एक कन्या हुई थी। लोग कहते हैं कि कंस अत्यन्त क्रूर था; किन्तु मैं उससे भी निकृष्ट, उससे भी निर्दय, उससे भी अधिक स्वार्थी निकला। मैंने अपने उन उदार भाईको, उनकी पत्नीको उनको एकमात्र पुत्रीका मुख देखनेका भी अवसर नहीं दिया। मैं कितना अधम–अपने पुत्रकी रक्षाके लिये मैंने अपने उन परम सुहृदकी कन्याका अपहरण किया। उस अबोध नवजात बच्चीको हत्यारे कंसके हाथमें देनेको उठा लाया। वह महाशक्ति निकली, अपने ही तेजसे बचकर गगनमें चली गयी, यह दूसरी बात; किन्तु मैंने तो श्रीनन्दरायको सन्तानहीन कर ही दिया। मेरा कुकृत्य कहाँ कम हुआ इससे।

मैंने यह विश्वासघात किससे किया? उससे जो उस समय कंसके कोपकी उपेक्षा करके मेरी पत्नी और पुत्रका पालन कर रहे थे, जब कोई स्वजन, सम्बन्धी वसुदेवको अपना कहनेका साहस नहीं कर पाता था। उन्होंने रोहिणीको सादर रखा था, उसे अपने सदनकी अधीश्वरका सम्मान दे रहे थे। मेरे पुत्रकी प्राणोंके समान रक्षा कर रहे थे।

आज वसुदेव राम-कृष्णको लेकर यादव श्रेष्ठ हो रहा है; किन्तु राम या कृष्णपर कोई स्वत्व है इसका? अपने औरस पुत्रके समान अपना मानकर जिन्होंने कृष्णको हृदयसे लगाये रखा, कृष्णके लिए कंसके असुरोंके उत्पात सहते रहे, कृष्णके लिए द्वार त्यागकर समस्त स्वजनोंके साथ गोकुलसे दूर जा बसे, कृष्ण उनका या मेरा?

उस दिन मथुरासे लौटते समय गोप उत्तेजित थे, मरने-मारनेको उद्यत थे, उनकी उत्तेजना उचित नहीं थी? कृष्णको वे बलपूर्वक ले जाते, वसुदेव रोक पाता?

उन महत्तमने तो मुझपर ही सब निर्णय छोड़ दिया। निर्लज्जके समान मैंने अपना कुकृत्य सुनाया; किन्तु एक शब्द, तनिक उलाहना भी तो नहीं दिया उन्होंने। वे कह सकते थे—'वसुदेव! तूने मुझे अन्धकारमें क्यों रखा? तूने मेरे उपकारका यह बदला दिया?'

वे धिक्कारते, थूकते मुझपर—उन्हें स्वत्व था; किन्तु नन्दराय सामान्य मानव तो नहीं हैं। सब सुनकर उन्होंने गोपोंसे ही कहा था—'सब लौट चलें। व्रजका कोई युवराज नहीं है।'

'व्रजका कोई युवराज नहीं है।' सुनकर गोपोंका शरीर क्षण भरमें रक्तहीन, प्राणहीन-प्राय हो गया था। लगता था कि नन्दरायका हृदय फट जायगा और मैं पिशाच बना यह सब देखता रहा। मुझसे उन महामानवकी पदधूलि भी मस्तकपर लगाते नही बनी—मैं क्षमा तक नहीं माँग सका। उन्होंने इसका भी अवसर नहीं दिया।

'कन्हाईके कमल लोचनोंसे अश्रु झरते हममें-से, कोई नहीं देख सकेगा।' नन्दरायने दो क्षणमें अपनेको सम्हाल लिया था—'हम बिना कातर हुए लोटेंगे। हम सब जीवित रहेंगे, । हम प्रसन्न रहेंगे, जिससे हमारे श्यामको रोना न पड़े।'

उतना वात्सल्य कभी स्वप्नमें भी सुलभ हुआ तुझे ? उनका वह 'हमारे श्याम' सचमुच कृष्णचन्द्र उनका नहीं है ?

उद्धवने, रामने भी व्रजसे लौटकर यही तो बतलाया था कि श्रीव्रजराज और उनकी गृहिणी, उनके सब गोप अब भी श्यामसे वैसा ही स्नेह करते हैं। अब भी उनका जीवन कृष्णसे मिलनेकी आशामें ही टिका है।

वे आवेंगे व्रजराज श्रीनन्दराय। वे अपने श्यामसे मिलने ग्रहण स्नानके अवसर-पर कुरुक्षेत्र आवेंगे ही। उनके साथ उनके गोप आवेंगे। उनकी गृहिणी आवेंगी।

वसुदेव तू ! अनन्त गौरव भाजन है, क्योंकि श्रीनन्दराय तेरे भाई हैं, तेरे मित्र हैं। तू उनका अपराधी, तू उनके साथ पैशाचिक विश्वासघात करनेवाला, तू कंगाल उनका क्या प्रत्युपकार कर सकता है; किन्तु वे आवेंगे, वे उसी सौहार्द्रसे भुजा फैलाकर तुझसे मिलेंगे।

कोई सुयोग नहीं कि तू उनकी पद-धूलि पा सके। वे परम संकोची; किन्तु तू उनका अङ्कमाल प्राप्त कर सकता है। उनका स्पर्श करके तेरे सब कल्मष ध्वस्त हो जायँगे। तू पवित्र हो जायगा। वें मिलेंगे, वे तेरे परम सुहृद, लोक-पावन लोकोत्तर वन्दनीय व्रजराज मिलेंगे तुझे।

श्रीवसुदेवजीके नेत्रोंसे अश्रुधारा झरती है। बार-बार वे इस प्रकार भुजाएँ फैलाते हैं, जैसे श्रीनन्दराय सम्मुख ही हों और उन्हें अङ्कमाल देने जा रहे हों।



माता देवकी

अहोभाग्य मेरा, मैं श्रीव्रजेश्वरीको अङ्कमाल दे सकूँगी। जीजी रोहणी कहती हैं कि उनकी पद-वन्दनाका कोई अवसर नहीं है। वे अत्यन्त संकोचशीला हैं। आयुमें पर्याप्त बड़ी होकर भी उन्होंने वर्णकी ज्येष्ठताको महत्ता दी और रोहिणी जीजीको सदा जीजी ही कहा। व्रजमें बड़ी बहिनका सम्मान दिया। ग्यारह वर्ष थोड़े तो नहीं होते; किन्तु इतने दीर्घकालमें, रात-दिन, साथ रहकर भी यशोदाजीमें एक क्षणको भी रोहिणी जीजीके सम्मानके प्रति शिथिलता नहीं आयी। ऐसी महिमामयीको संकोचमें तो नहीं डाला जा सकता।

अकल्पनीय उदारता—रोहिणी जीजी विपत्तिमें आश्रय लेने गयी थीं और उन्होंने पहुँचते ही इन्हें स्वामिनी बना लिया। स्वयं सेविका, आज्ञानुवर्तिनी बन गयीं और बनी ही रहीं। इतना औदार्य देवताओंमें भी दुलर्भ है।

मैं तो जन्मसे भाग्यहीना हूँ। मेरे कारण ही पूरे यदुवंश पर विपत्ति आयी। मेरे कारण ही मेरे स्वामीको कारागारमें रहना पड़ा। मेरे कारण ही मेरी बहिनें स्वामीका सान्निध्य त्यागकर दीर्घकाल तक वन, पर्वतोंमें निर्वासित जीवन ब्यतीत करनेको बाध्य हुईं।

मैं हतभागिनी—मेरे भाग्यमें पुत्र ही होते तो क्या मेरे ६ पुत्र उत्पन्न होते ही मार दिये जाते। मेरे अपने भाईने उस भाईने जिसका मुझपर शैशवसे अत्यन्त स्नेह था, जो मुझे पुत्रीके समान मानता था, मेरे पुत्र मार दिये। मैं उसे कैसे दोष दूँ? मेरा ही भाग्य फूटा था।

आज मैं पुत्रवती हूँ। यदुवंशी मुझे अपनी उद्धारिका, राजमाता और पता नहीं क्या-क्या कहते हैं; किन्तु यह किसका पुण्य प्रताप है कि हतभागा देवकीको इतना गौरव प्राप्त होगया?

मैं माता हूँ कृष्णचन्द्र की? किस बात की माता हूँ? मैंने उत्पन्न होते ही अबोध शिशुको घोर अन्धकार भरी रात्रिमें, मूसलाधार वर्षामें त्याग दिया और अब उसीकी माता हो गयी हूँ? जिसने उसे अपने हृदयका अमृत पिलाकर पाला, जिसने अपने आँचलकी छाया देकर उसकी प्रत्येक विपत्तिसे रक्षाकी, जो उसकी नींद सोती-जागती रहीं, वे उसकी माता हैं या देवकी है?

राम और कृष्ण प्रतिदिन पद-वन्दना कर लेते हैं, यह उनका शील; किन्तु दोनों रोहिणी जीजीको 'माँ' कहते हैं। देवकीको यह सम्बोधन पानेका अधिकार तो नहीं है। देवकीको वे 'माताजी' कहते हैं, यही क्या कम सौभाग्य है देवकीका।

रोहिणी जीजी कहती हैं कि दोनों भाइयोंकी 'मैया' तो एक ही हैं। उनके अतिरिक्त दूसरी किसीको दोनों भाइयोंने 'मैया' नहीं कहा। सचमुच दोनोंकी न सही, कृष्णचन्द्रकी 'मैया' तो वही हैं। देवकी—हतभागिनी, हतपुत्रा देवकी यदि मृतार्भका नहीं कहलाती, यह आज माता है, पुत्रवती है तो यह उन ब्रजेश्वरीका ही तो प्रसाद है।

उनकी कोख इस अभागिनीके कारण सूनी हो गयी; किन्तु उन्होंने इसका कभी नाम नहीं लिया। इसकी चर्चा तक ब्रजपतिने नहीं की।

आज यदुवंशकी जो श्री है, समृद्धि है, सुयश है, वह उनका आर्शीवाद, उनका प्रसाद ही तो है। यहाँ कोई भी उनकी ब्रजपतिकी क्या सेवा करेगा ? उनके उपकारोंका, उनके ऋणका किञ्चित् भाग भी दे सकें, ऐसा कुछ कहाँ है किसीके समीप और देवकी तो उनकी भिक्षाको पाकर आज जीवित है। इस कङ्गालिनीके समीप जो कुछ है, उनका दान ही तो है।

उनकी पदरज देवताओंको भी पावन कर सकती है। देवकीके ऐसे भाग्य नहीं थे कि उनके श्रीचरणोंकी छाया भी यह छू सकती; किन्तु उनका 'नीलमणि'—यही तो कहती हैं वे, वह उनका प्रसाद प्राप्त हुआ देवकीको तो उसका स्नेह उन्हें अब अवश्य कुरुक्षेत्र भी इस पावन पर्वपर ले आवेगा।

'यह आपके नीलमणिकी धाय !' मैं यह कहकर उनको प्रणाम करनेका अवसर पा सकती हूँ। वे कृष्णचन्दके नाते इसे अङ्कमाल देंगी, धन्य कर देंगी इस अपनी अपराधिनी को। इसका रोम-रोम पवित्र हो जायगा उनके भुवन पावन श्रीअङ्गका स्पर्श पाकर।

माता देवकीके चित्तमें केवल मैया ब्रजेश्वरी यशोदाके मिलनकी उत्कण्ठा है।

—+—

माता रोहिणी

अपना यही क्या कम सौभाग्य है कि एक बार फिर व्रजेश्वरी यशोदा मिल सकेंगी। मिलेंगे परम संकोची व्रजपति। मैं फिर व्रजपतिके उन गोप बालकोंको, बालिकाओंको एक बार अङ्कमें ले सकूँगी। कितने बड़े होगये होंगे वे? इन श्यामके ही तो साथी हैं। मुझे तो यहाँ आकर भी नहीं लगता कि श्यामसुन्दर पुत्र-पौत्रवान होगये हैं। राम अवश्य बड़ा लगता है; किन्तु कृष्ण तो पद-वन्दना करने आता है तो अभी भी शिशु ही लगता है; इसके वे सखा, वे बालिकाएँ—बरसानेकी वे बालिकाएँ कैसी होंगी? वे अब भी उसी प्रकार मिल सकेंगी?

मेरे स्वामी कहते हैं—'श्री व्रजेश्वरीके लिए, व्रजपतिके लिए, सब बालक-बालिकाओंके लिए वस्त्र, आभूषण, भरपूर उपहार ले चलो।

यह हो सकेगा मुझसे? मैं उन्हें उपहार दूँ इतनी परायी होगयी मैं?

मैं विपत्तिकी मारी व्रज गयी थी। ऐसी विपत्ति, कंसका इतना आतंक कि मेरी दूसरी सपत्नियाँ अपने पितृ-गृह जानेका साहस नहीं कर सकीं। उन सबको वन-पर्वतोंमें शरण लेनी पड़ी। गोकुल मथुराके मध्य केवल यमुना ही तो थीं। जब सगे स्वजन अपनी छाया भी पड़नेसे दूर भागते, मुझे पता ही नहीं लगने दिया यशोदाने कि मैं उनके यहाँ आश्रिता होकर पहुँची हूँ। पहिले दिन, पहिली ही घड़ीमें मैं पूरे व्रजकी सम्मानिता ही नहीं, उपास्या बना दी गयी। आयुमें कितनी बड़ी हैं व्रजेश्वरी मुझसे; किन्तु वे आज्ञाकारिणी अनुजा बन गयीं।

यह सब सोचना भी आज मुझे अद्भुत लगता है। उनका यह 'नीलमणि' यहाँ न होता, मैं उनको छोड़कर मथुरा आ पाती? उन्होंने मुझे आग्रह करके भेजा था—जीजी! नीलमणिके लिए आप वहाँ रहो। आप रहोगी तो मुझे आश्वासन रहेगा कि संकोची श्याम अपनी 'माँ' के समीप है। वह आपके अतिरिक्त वहाँ किसीसे कुछ नहीं कह सकेगा।'

मैं उनके अनुरोधसे मथुरा आयी। देवकी जननी सही; किन्तु कृष्णके स्वभावको क्या जाने। श्याम उसे केवल पद-वन्दनका सम्मान ही तो देता है। एक दिन भी तो उसके अङ्कमें सिर नहीं रखा कृष्णने।

यहाँ स्वामी हैं, यह कृष्णचन्द है, अतः मैं यहाँ हूँ। शास्त्र कहते हैं, समाज कहता है कि पतिका गृहही नारीका अपना गृह है। मैं भी यही जानती-समझती थी; किन्तु व्रज जाकर तो मुझे पता नहीं क्या होगया। मैं इतने वर्षोंमें भी यहाँकी नहीं हो सकी। एक क्षणको भी तो नहीं लगता कि मैं यहाँ की हूँ।

मैं मथुरामें थी, द्वारिकामें हूँ—लगता है कि अतिथि हूँ यहाँ। अधिकसे अधिक ऐसा जैसे नारी दीर्घकाल पतिगृह रहकर कुछ समयको पितृगृह पहुँच गयी हो। द्वारिकामें भी कुछ मेरा है, मन इसे मानता ही नहीं। केवल यह कृष्ण यहाँ है, इसलिए मैं यहाँ हूँ। यही यहाँ क्यों है ? बड़ा अटपटा लगता है। इसका तो व्रज है और व्रज है मेरा—मैं व्रजकी, जैसे सदा-सदाकी व्रजकी ही हूँ।

व्रजेश्वरीको, व्रजपतिको व्रजके बालकों को और उन भोली बालिकाओंको मैं उपहार दे सकूँगी ? मैं यहाँ से व्रज जाती—कदाचित जा पाती तो सबको उपहार देती—उल्लास पूर्वक देती, किन्तु तीर्थमें मुझ जैसी प्रवासिनीको—यहाँ मैं प्रवासिनी ही तो हूँ, अपने स्वजन मिलेंगे। मैं वहाँ उनको उपहार दे सकूँगी ?

उपहार तो मुझे देंगी व्रजेश्वरी यशोदा और मैं उसे अञ्चल फैलाकर लूँगी। मैंने इस कृष्णचन्दको उनका उपहार ही तो लिया है, किन्तु व्रजमें सब कुछ तो मेरा ही है। वहाँ उपहार भेजने या वहाँसे उपहार लेनेका क्या अर्थ ?

व्रजपति, यशोदाजी मुझसे व्रज चलनेको कहेंगे ? झूठे भी कहें—नहीं, कहेंगे, मिथ्या, शिष्टाचार उनमें है नहीं। व्रज उनका होता तो कदाचित् कहते भी, उसे तो उन्होंने मेरा बना दिया है। उनकी भेजी ही मैं यहाँ हूँ।

'माँ ! तुम घर नहीं चलोगी ?' बालक पूछेंगे। क्या उत्तर है मेरे समीप ? इस कृष्णचन्दको छोड़कर मैं जा भी नहीं पाती हूँ।

'माँ' !' कीर्तिकुमारी और उसकी सखियाँ इससे अधिक कदाचित् ही बोल सकें। इस विवशा रोहिणीके समीप उनके लिए क्या आश्वासन है ? यह उन्हें वस्त्राभरण दे पावेगी ? देनेका अवसर आया होता····।

'वे सब मिलेंगे।' माता रोहिणीके चित्तमें तो अनन्त-अनन्त स्मृतियोंका अन्धड़ चल रहा है।

—+—

संकर्षण

अद्‌भुत स्थिति हो गयी है मेरी—ग्रहण स्नान करने कुरुक्षेत्र न जाऊँ ? न जाऊँ तो यहाँ कोई मुझसे चलनेका आग्रह नहीं करेगा। कृष्णचन्द्र भी आग्रह नहीं करेंगे। वे केवल एक बार अपने विशाल दृगोंमें आश्चर्य लिये पूछेंगे—'आर्य ! आप नहीं चलेंगे ?'

हाय ! ब्रज छूटा और अपने इस छोटे भाईके लिए भी मैं 'आर्य' हो गया। मथुरा आते ही इसने यह शिष्ट-सम्भाषण सीख लिया। कृष्णके मुखसे वह सरल मधुर सहज सम्बोधन 'दादा' सुनना स्वप्न हो गया।

मैं ब्रज गया, कुछ क्षण रह आया वहाँ। वहाँ मैं कुछ मास रहा, यह तो मेरा हृदय अब भी नहीं मानता है। लगता है, कुछ क्षण रहा वहाँ और वे क्षण भी कितने विषम—मैयासे, बाबासे, सखाओंसे, सबसे ही तो मुझे मुख छिपाये रहना पड़ा। केवल अपने यूथकी गोपियोंके साथ वनमें जैसे छिपे रहनेको बाध्य था।

'श्यामसुन्दर कब आवेंगे ? आप अपने अनुजको नहीं ले आये ?' वे बरसानेकी भोली किशोरियाँ नहीं पूछती थीं, उनके प्राणोंका आर्तनाद था यह।

'कन्हाई नहीं आया ? दादा, तुमने भी उसे आनेको नहीं कहा ?' गोप सखाओंके नेत्रोंमें एक ही प्रश्न—अत्यन्त आतुर प्रश्न था।

'दाऊ ! मेरा नीलमणि सुखी है ?' मैया इतना ही पूछकर ऐसी हो गयी जैसे उसके शरीरमें रक्त ही न रहा हो।

'कृष्णचन्द्र कभी चर्चा करता है ब्रजकी ?' बाबाने पूछा और मूर्छित हो गये थे।

ब्रजके मनुष्य नहीं, पशु-पक्षी तक दौड़ आते थे मेरे समीप और उनके नेत्रोंकी भंगी, उनके प्राणोंका स्वर, सब तो यही पूछते थे—'कृष्ण कहाँ ? कब आवेंगे वे ?'

'आवेंगे—अवश्य आवेंगे !' मैं दूसरा क्या कहता उनसे। सब मुझसे आशा करते हैं, उचित आशा करते हैं। मैं अग्रज हूँ, और कृष्णचन्द्रने मेरे आदेशका कभी अपमान नहीं किया है। लेकिन मैं सचमुच आदेश दे पाता हूँ अपने इस नवघन सुन्दर अनुजको ? कृष्णको कोई आदेश दे भी सकता है ? इनके इंगितका अनुवर्तन करनेमें ही समस्त सृष्टिकी सार्थकता है।

मैंने ब्रजके उन प्रेमातुर प्राणोंको आश्वासन दिया था। उन्हें कितनी आस्था, कितना विश्वास था मेरी वाणीपर ; किन्तु मैं पूरा कर सका उसे ? मैंने कहा था। कृष्णचन्द्रने कहा—'आर्य ! व्रज जाकर फिर मुझसे द्वारिका आया जायगा ?'

मैं कैसे कह देता कि इस वाणीमें शाश्वत सत्य नहीं है। मैं किस प्रकार द्वारिकासे द्वारिकाधीशको ही सदाको विदा कर देता ? मैं आश्वासन दे आया था और कुछ नहीं कर सका। वे मिलेंगे बाबा, मैया, गोपसखा, गोपकुमारियाँ। मैं उन्हें मुख दिखलाने योग्य हूँ ? मैं न जाऊँ तो ?

मैं न जाऊँ—कोई आग्रह नहीं करेगा। द्वारिकाकी सुरक्षा अधिक सुनिश्चित रहेगी ; किन्तु मैं गये बिना रह पाऊँगा ?

बाबा, मैया, गोपसखा कितनी आशासे आवेंगे ? मेरे यूथकी वे भोली गोपकिशोरियाँ—कितनी उमंग होगी उनके मनमें। सबको कितनी निराशा होगी ?

'दाऊ नहीं आया ?' तब सब कृष्णसे यही पूछेंगे। कितनी विवशता अनुभव करेंगे कृष्णचन्द्र ? अपने अनुजकी ऐसी स्थिति बने, यह सोच पाना, सहपाना सम्भव है मेरे लिए ?

बाबाकी, मैयाकी पद-वन्दनाका सौभाग्य मैं छोड़ सकता हूँ ? छोड़ सकता हूँ गोपकुमारोंका आह्लाद भरा मिलन ? कितने उल्लाससे वे भुजा फैलाकर मिलेंगे—'दादा !'

गोपकुमारियोंका सलज्ज वन्दन—इतनी भावपूर्ण, सुकुमार वन्दना सृष्टिमें किसी सुरको कभी सुलभ नहीं हुई होगी। उस वन्दनाके सुलभ होनेका यह सुयोग मुझसे छोड़ा जा सकेगा ?

मैं व्रज अकेला चला गया था और अब कृष्णचन्द्र साथ चल रहे हैं। अब इनके साथ चलनेमें यह हिचक क्यों ? मैं चलूँगा—चलूँगा ही। इस अवसरका परित्याग किया नहीं जा सकता।

वे मिलेंगे बाबा और मैया। बाबा और मैया तो वही हैं। मथुरामें तो केवल पिताजी और माताजी मिलीं। यहाँ 'दाऊ' कहकर अंकमें समेट लेने वाले कहाँ सुलभ हुए मुझे।

वे मिलेंगे गोप सखा। भुजा फैलाकर 'दाऊ दादा !' कहकर हृदयसे लगा लेने वाले वे प्रेमैक प्राण सखा मिलेंगे।

वे मिलेंगी गोपकुमारियाँ। अवनत नमना, प्रफुल्ल कञ्जमुखी वे शील, सौन्दर्य, सौकुमार्यकी प्रतिमाएँ और उनका नीरव-वन्दन।

वे मिलेंगे—उनके मिलनका यह सुयोग मैं कैसे छोड़ सकता हूँ।

—*—

रेवतीजी

अपनी ही कठिनाइयोंमें मनुष्यका मन उलझा रहता है । दूसरेकी कठिनाईको कोई समझना ही नहीं चाहता । देवरानियाँ ही नहीं, माताएँ (सासुएँ) तक मुझे कह देती हैं—' वधू ! तुम तो सतयुगकी हो । तुमसे अधिक अनुभवी कोई कहाँसे आवेगी ।'

मैं सतयुगकी हूँ, यह सत्य होकर भी यह सत्य कोई कहाँ देखता है कि मेरा जीवन कितना अल्पकालिक है । मुझे कुछ भी अनुभवका अवसर कहाँ मिला है ।

सतयुगमें समाज व्यवस्था तक ठीक नहीं बनी थी और मैं तो बच्ची ही थी तब जब पिता मुझे लेकर ब्रह्मलोक पहुँचे थे । पता नहीं क्यों पिताको मेरे विवाहकी शीघ्रता थी । सम्भवत: वे मेरा दायित्व किसीको देकर तप करनेमें लगना चाहते थे ।

भगवान ब्रह्माके यहाँ उस समय भगवत्कीर्तन चल रहा था । हमें दो-तीन क्षण रुकना पड़ा । किसे पता था कि पृथ्वीपर कई युग बीत गये । वहाँसे मैं पिताजीके साथ अपनी कुशस्थली लौटी ; किन्तु कहाँ थी वह कुशस्थली । वहाँ तो यह स्वर्णपुरी द्वारिका खड़ी थी । इस प्रकार सतयुगकी एक अबोध बालिका सहसा द्वापरान्तमें पहुँच गयी ।

मेरे स्वामी हैं गाम्भीर्यकी मूर्ति । उनके सम्मुख मैं मुख नहीं खोल पाती । उनका क्या ठिकाना, एक ही क्षणमें मुझे सतयुगके प्रलम्ब आकारवालीको द्वापरका आकार दे दिया । उनकी चरण सेवा सुलभ रहे, यही कम सौभाग्य नहीं हैं ; किन्तु उनसे कुछ कहा, सीखा जा सके, इतना साहस मुझमें नही है ।

यहाँ द्वारिकामें किसीसे कुछ पूछनेकी स्थिति नहीं है । सब देवरानियाँ है या सपत्नियाँ भी हैं तो मुझसे छोटी हैं । माताएँ भी मुझसे ही पूछना चाहती हैं । मेरी विडम्बना यह कि मैं सतयुगमें उत्पन्न हो गयी । उस सतयुग और इस द्वापरके मध्य केवल कुछ क्षण मिले मुझे, इस तथ्य पर ध्यान देनेकी किसीको आवश्यकता ही नहीं लगती ।

मेरे स्वामी और देवर भी केवल प्रेमसे परितुष्ट होते हैं । यह प्रेम मैं कहाँ पाऊँ ? किससे सीखूँ ? किससे पूछूँ ? यहाँ तो सब मुझसे संकुचित ही हुई रहती है । सबको केवल मेरा सम्मान करना आता है । सबने मुझे देवमूर्ति मान लिया है ।

बार-बार सुनती हूँ कि व्रज प्रेम भूमि हैं । वहाँ प्रेमकी प्रतिमाएँ नहीं, प्रेमकी

अधिदेवियाँ रहती हैं। वे भोली हैं, सरला हैं। किसीको भी वे अपना आश्रय देनेमें संकोच नहीं करतीं। वे मिलेंगी—मुझे अपना लेंगी वे? मुझे अपना चरणाश्रय देंगी?

देवरकी प्राणसखी श्रीराधा—लेकिन वे संकोच नहीं करेंगी मुझसे? वे भी विनम्र वन्दना ही तो करेंगी? सुना है वे शीलमयी हैं। उनकी सखियाँ उन जैसी ही तो होंगी। लेकिन वे सब सरला हैं, खुलकर मिल सकेंगी। उनका सान्निध्य मुझमें भी कुछ प्रीतिका सञ्चार करेगा। मैं ऐसी पाषाणी तो नहीं हूँ कि उन पारस-प्रतिमाओंका संसर्ग मुझे तनिक भी प्रभावित न कर सके।

व्रजमें मेरे स्वामीकी भी सखियाँ हैं। वे मुझसे ज्येष्ठा हैं। मैं उनके चरण पकड़ लूँगी तो वे मुझ पर अनुग्रह नहीं करेंगी? उन्हें तो मैं प्रीतिमयी ही सुनती हूँ। उनके सर्वस्वकी मैं एक क्षुद्र सेविका ही तो हूँ। वे मिलेंगी और मुझे विश्वास है, वे मुझे अपना लेंगी। मैं उनका अनुग्रह प्राप्त कर सकूँगी।

यहाँ द्वारकामें तो सुना है कि यादव महाराज तक देवरका सम्मान करते हैं। इन दोनों भाइयोंको वे भी सादर सम्बोधित करते हैं। तब अन्तःपुरमें सबने मुझे पूजाकी प्रतिमा जैसी बना दिया है तो आश्चर्य क्या है। लेकिन पूजाकी प्रतिमा बन जाना देवताओंको ही सुखद, शोभास्पद हो सकता है। मनुष्यको कोई तो ऐसा चाहिये जिसके अंकमें वह शिशुके समान सहज होकर सिर रख सके और जो उसके सिर पर वात्सल्य विगलित कर स्पर्श दे। जो उसे भूल करने पर तर्जित कर सके। मैं तरस गयी ऐसी वात्सल्यपूर्ण क्रोडीके लिए।

सुना है कि व्रजमें मैया व्रजेश्वरी हैं। मेरे देवर ही नहीं, स्वामी भी उनके अंकमें निरे शिशु हो जाते हैं। यहाँ तो उनकी जननी माता रोहिणीजी भी उन्हें जैसे संकोचसे ही देखती हैं; किन्तु उनसे सुना है कि व्रजेश्वरी मैया इन्हें 'दाऊ' कहती हैं।

वे मिलेंगी। मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा उनके त्रिभुवन पावन पदोंमें मस्तक रखनेका और मुझे विश्वास है, वे मेरी ओर सशंक नहीं देखेंगी। वे मुझसे नहीं पूछेंगी—'बहू! तू सतयुगकी है?'

'आपके बड़े पुत्रकी यह दासी।' अपना मेरा परिचय तो इतना ही है उनके सम्मुख और मुझसे यह परिचय सुनकर वे निश्चय अपनी गोदमें खींच लेंगी मुझे मातृ क्रोड़ी मिलेंगी—वह गोद जिसकी प्यास जैसे जन्म-जन्मसे मेरे प्राणोंमें अतृप्त पड़ी है। वे मिलेंगी मुझे मेरी वात्सल्यमयी व्रजेश्वरी मैया।

—+—

श्रीकृष्ण

अच्छा अवसर है। वे मिलेंगे जो मुझसे नित्य मिले हैं, नित्य अभिन्न हैं। जिन्होंने अजित कृष्णको अपने अनन्त प्रेमसे जीतकर अपने वशमें कर लिया है। वे मिलेंगे, जिनसे पृथक दीखता भी मैं कभी पृथक नहीं हुआ। द्वारिका मेरा देह है; किन्तु व्रज तो मेरा हृदय है। व्रज हैं, इसलिए कृष्ण भी है। व्रज जीवन है मेरा। व्रज प्रेरणा है मेरी। व्रज ही मेरा स्वरूप है; क्योंकि प्रेमके अतिरिक्त कृष्णका कोई स्वरूप नहीं और व्रजका अर्थ है धनीभूत प्रेम।

उद्धव व्रजसे आये और उनका मुझसे झगड़ना उचित था कि मुझे व्रज जाना चाहिये; किन्तु मैं व्रजसे सचमुच पृथक हूँ? व्रजसे पृथक मेरी कोई सत्ता सम्भव है? व्रजके कण-कणमें, क्षण-क्षणमें, श्वास-श्वासमें कृष्णको छोड़कर भी कुछ है?

आर्य लौटे व्रजसे और जीवोंके परमाचार्य वे भी कहने लगे—'कृष्ण। तुम्हें एक बार व्रज जाना चाहिये।'

कृष्ण एक बार, कुछ दिनको व्रज जा सकता है? व्रज जाकर कृष्णका द्वारिका या कहीं भी लौटना सम्भव है? द्वारिका या हस्तिनापुरके आश्रितोंका रक्षण-पालन, धर्मका परित्राण, आसुर-शक्तियोंका दमन, श्रुतिकी मर्यादा एवं सुरोंका संरक्षण—व्रज जाकर यह सब स्मरण रह सकेगा मुझे? उद्धव जैसे परम नीतिज्ञको, देवगुरुके साक्षात शिष्यको ही क्या यह सब स्मरण रह गया था?

व्रज—मेरा व्रज, मेरे व्रजजन, वहाँके किसी पशु-पक्षीकी भी प्रीतिकी तुलना है कहीं त्रिभुवन में। व्रजका, व्रजके लता-तृण-तरुका स्मरण भी सुरों तकको पवित्र करता है। कल्पनासे मनमें आकर भी व्रज पावन करता है प्राणीको। उन व्रजजनोंका दर्शन होगा। वे मिलेंगे मुझे, जिनका स्मरण मुझे भी—मुझ आनन्द घनको भी परमाह्लाद निमग्न करता है। मुझे भी पवित्र करता है।

वे मिलेंगे मेरे बाबा और मैया, जिनके वात्सल्यने मुझे यश शरीर दिया, इसे परिपुष्ट किया। उनके अतिरिक्त कहाँ कौन है जो भुजा फैलाकर मुझे अंकमें ले सके—'मेरे नीलमणि।'

मैं जिनके अंकमें बैठकर उनके श्मश्रु में अपनी अंगुलियाँ उलझाता मचल सकूँ

और मेरी मनुहारमें अपना सर्वस्व निछावर करते भी जिनके प्राण पुलकित हों, वे बाबा मिलेंगे मुझे । उनकी अंक मिलेंगी ।

कृष्ण द्वारिकाधीश है, विश्वेश है और पता नहीं क्या-क्या इसे लोग कहते मानते हैं ;किन्तु यह जिनके अंकका शिशु है, जो इसे दामोदर बना सकती हैं, जिनका यह चपल गोपाल है, वह मैया मिलेगी मुझे ।

'कनूँ !' व्रजके मेरे सखाओंके अतिरिक्त इस परमप्रिय सम्बोधनको सुननेका अवसर अन्यत्र कहीं कहाँ है । इस द्वारिकामें आकर तो आर्य तक—मेरे अग्रज, मेरे दाऊ दादा तक मुझे कृष्ण कहने लगे हैं । माँ रोहिणी भी सहज ढंगसे मुझे यहाँ श्याम नहीं कह पातीं ।

मेरे वे सखा मिलेंगे—वे सखा जिनका सुख, जिनका जीवन, जिनकी समस्त प्रेरणा उनका यह कनूँ है । जो इसके लिए सोते और इसके लिए जागते हैं । जो भोजनभी इसके लिए ग्रहण करते हैं । जो कुछ चाहते हैं तो इसके लिए ।

'इसे लेकर कन्हाई प्रसन्न होगा ?' एक ही प्रश्न जिनके मानसने पूछना जाना है । जिनके अपने जीवनकी, वस्त्राभरणकी, गति-गायनकी, दौड़ने-बैठनेकी एक ही प्रणाली है—'मेरे ऐसे रहनेसे कनूँको प्रसन्नता होगी ?'

मैं स्वयं जिनकी नींद सोया हूँ और जिनके लिए जीता हूँ, जिनके लिए मेरी एक-एक चेष्टा है, वंशी वजायी मैंने जिनके लिए, नृत्य किया और दौड़ता फिरा जिनके लिए, जिनके लिए मैंने गायें चरायी ; वे मेरे प्राण सखा मिलेंगे ।

मैं अलकों पर कर फेरता हूं और चौंकता हूँ—उनमें मेरे सखाओंके करोंसे लगे सुमन नहीं हैं ? मैं अपना अंग देखता हूँ और मुझे यह व्यर्थ लगता है, भार लगता है, इसे अब मेरे उन गोपकुमारोंके कर वन धातुओंसे सज्जित नहीं करते—क्या उपयोग अब इसका ।

वे नियुद्धमें मुझे पटक लेते थे । वे मुझपर चड्डी कस लेते थे ; किन्तु मेरे भालपर श्रम-सीकर देखकर उनके प्राण तड़प उठते थे । वे मुझसे झगड़ते थे, मुझसे खीझते थे—'तू थक गया है । तू भूखा है । तुझे विश्राम करना चाहिये ।'

उन्हें विश्राम इसलिए चाहिये कि मैं उनको श्रान्त लगता था । उन्हें भूख इसलिए लगती थी कि मैं भूखा लगता था । उन्हें क्रीड़ा इसलिए करनी थी ; क्योंकि मैं उनके साथ खेलकर प्रसन्न होता था ।

मेरे वे सखा-मेरे वे गोपकुमार सखा, जिनको प्रसन्न करनेके लिए, जिनको सुखी करनेके लिए मैं चपल था, नटखट था। जिनके उच्छिष्टका स्वाद अब भी मेरे अधरों पर ताजा है और उस स्वादकी भी कहीं समता है? वे मेरे सखा मिलेंगे।

वे मिलेंगी गोपकुमारियाँ जिन्होंने मेरे लिए कुल छोड़े, शील छोड़े—लज्जा छोड़ी जिन्हें मैं छेड़-छेड़कर खिझाता रहा और जो मेरी प्रत्येक चपलतासे न्योछावर होती रहीं। जिनके लिए जगतमें-परलोकमें भी मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो मेरे अतिरिक्त कुछ है भी कहीं, यह जानना-सुनना नहीं चाहतीं।

मेरे लिए जिन्होंने सब सुख छोड़े, स्वजन छोड़े, अत्यन्त स्नेहशील माता-पिता तककी उपेक्षाकी, धर्म-मर्यादा छोड़ी और लोकका सब लाञ्छन सिर ले लिया। मैं उनको क्या दे सकता था? वे उत्सर्गकी मूर्तियाँ—उन्होंने तो देना ही जाना है। उन्होंने अपना सर्वस्व दिया मुझे और बिना किसी प्रतिदान की आशाके दिया। वे गोपकुमारियाँ मिलेंगी।

वे मिलेंगी गोप-किशोरियाँ जिनका श्रृंगार मेरे लिए, जिनका हास्य-रुदन मेरे लिए। जिनका सम्पूर्ण जीवन मेरा, मेरे लिए और जिन्हें मैं छोड़ आया निर्दय होकर; किन्तु जो एक क्षणको भी मुझसे विमुक्त नहीं हुईं। जिनके मानसमें कृष्णके दोषकी कल्पना ही नहीं आ पाती। वे मिलेंगी मुझे।

वे मिलेंगी श्रीवृषभानु-नन्दिनी। वे कृष्णकी आह्लादिनी। वे अनमिली हो जायँ, कृष्णकी कोई सत्ता है उनके बिना? उनसे पृथक कृष्ण रह भी सकता है?

उनके श्रीचरणोंका स्मरण प्राणियोंको कृष्ण-प्रेम प्रदान करता है। वे प्रेमकी अधिदेवता, वे प्रेमको सप्राण, अजीवित करने वाली, वे जिनका स्मरण मेरे श्वास-श्वासमें सजीव है सर्वदा, सब क्षण, वे मिलेंगी श्रीराधा!

—+—

महारानी रुक्मिणी

अपनी स्थिति मैं जानती हूँ। मुझे कभी इस सम्बन्धमें भ्रम नहीं हुआ कि मेरे स्वामी, मेरे सर्वस्व सर्वेश्वरेश्वर हैं और मैं उनके इंगितकी पालिका किंकरी हूँ। मैं उनकी चरणाश्रित 'गुण प्रकृति' हूँ—उन्हीं की प्रकृति।

यह निखिल सृष्टि प्रपञ्च भले मेरा लीला-विलास हो ; किन्तु अपने इन प्रेरकके बिना तो मैं सत्ता-शून्य हूँ। मैं उनकी ही पद-छाया प्राप्त करके तो सक्रिय हो पाती हूँ। यह उनका अनुग्रह है कि मेरी ओर दृष्टिपात करते हैं। मुझे सेवाका सुअवसर देते हैं। अन्यथा इन आनन्द घनको मेरी अपेक्षा कहाँ है।

इनसे पृथक तो मैं अस्तित्वहीन हूँ ; किन्तु सुना है, मुझे भी ऐसा ही लगता है कि कोई हैं, कोई महामहेश्वरी हैं जो मेरे इन आराध्यकी भी आह्लादिका हैं। इनसे सर्वथा अभिन्न होकर भी इनकी आमोददातृ हैं। ये भी उनकी अनुकूलताकी अपेक्षा करते हैं और लगता है, मेरी अपनी सत्ता उन्हीं महादेवीका कोई तुच्छतम अंश है। मुझे भी उन्होंने ही सत्तास्फूर्ति दे रखी है।

मैं केवल अनुमान करती हूँ—कुछ ऐसा अनुभव करती हूँ अपने भीतर ; किन्तु स्पष्ट कुछ नहीं होता। मेरे ये आराध्य ही क्या कभी किसी प्रकार समझमें आते हैं ? मैं तो जड़-प्रकृति अज्ञ अबला हूँ, महामुनीन्द्र भी इनको बस अवाङ्-मनस गोचर कहकर चुप हो जाते हैं। तब जो इनसे अभिन्ना होकर इनकी भी आह्लादिका हैं, वे कैसी किसीकी बुद्धिका विषय बनेंगी ? उनके स्वरूपका, उनकी महिमाका कैसे कोई अनुमान कर सकेगा ?

वे इनसे नित्य अभिन्ना—मैं देखती हूँ कि मेरे ये आराध्य निद्रामें भी उनका स्मरण करते हैं। इनके पल्लव-मृदुल अधर हिलते हैं कोई नाम लेकर और इनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। इनके शरीरसे स्वेद चलने लगता है।

वह नाम– इनके रोम-रोमसे निकलने वाला वह नाम भी क्या इस किंकरीसे छिपा रह सकता है ? ये लीलामय—यह विश्वप्रपञ्च इनके इंगित पर ही विस्तृत करने वाली मैं क्या इतना भी नहीं समझती कि हम सबके प्रति इनका अनुरागतो अनुराग है—किसीके रागका किञ्चित् कण पाकर उसका पदानुगामी।

यह अनुराग भी इनकी अनुकम्पा है। ये कृपैक मूर्ति—निखिल विश्वके अणु-अणु पर इनकी जो अजस्र कृपा-वर्षा हो रही है, उस कृपाका ही एक रूप है इनका यह अनुराग। इनका यह अनुराग तो जीवमात्र पर है, अखण्ड है, अजस्र है। अपने हृदयपात्रके अनुसार इनके अनुरागका अनुभव होता है। जो जितना उत्सर्ग कर पाता है, उतना ही वह इनके अनुरागका ग्रहण कर पाता है। इनका अनुराग तो असीम है, अमेय है।

सुना है, इनमें राग भी है। अनुराग है तो राग भी होना ही चाहिये। ये राग करते हैं और जिनसे ये राग करते हैं वे रागमयी हैं। वे इन रसराजकी महाभाव स्वरूपा हैं।

कैसा होता होगा महाभाव ? मेरे इस हृदयमें तो भाव-हीका भली प्रकार उदय नहीं होता। यद्यपि जानती हूँ कि मेरे आराध्य भावके भूखे हैं, भाववश्य हैं; किन्तु भाव-प्रीतिकी प्राप्ति उन महाभाव रूपाकी कृपाके बिना कैसे सम्भव है ?

वे आवेंगी, वे मिलेंगी श्रीवृषभानुनन्दिनी कुरुक्षेत्रमें। विशुद्ध आनन्द जब घनीभूत होकर मूर्ति ग्रहण करता है, कैसा होता है, यह मैं अपने आराध्यको देखकर कुछ समझती हूँ। कुछ ही समझती हूँ; क्योंकि इनकी सम्पूर्ण मूर्ति मैंने इतने दिनोंमें भी कभी देखी नहीं। बहुत लालसा है, पर बहुत विवशता है। नेत्र इनके श्रीविग्रह पर जहाँ पड़ते हैं, वहींके हो जाते हैं। वही जैसे चिपक जाते हैं। फिर ये भले युग-युग तक अंकमें लिये रहें, नेत्र वहाँसे हटते नहीं। अब जो इनको भी विमुग्ध करने-वाली हैं, इनकी भी आह्लादिनी हैं, वे कैसी होंगी ?

सृष्टिमें सौन्दर्यका सृजन प्रीति करती है, यह मैं जानती हूँ और यह प्रीति जिनसे प्रकाश पाती है, जिनसे सप्राण होती है, वे स्वयं जब श्रीविग्रह धारण कर चुकी हैं—नहीं, मेरी बुद्धि, मेरा मन उनके सम्बन्धमें अनुमान लगानेमें असमर्थ है।

वे मिलेंगी—अपने इन आराध्यके नाते मिलेंगी मुझसे और अपने शील, अपने सौजन्यके कारण अङ्कमाल देकर मिलेंगी, भले मैं कितनी भी अयोग्या, कितनी भी अनधिकारिणी होऊँ उनके सम्मुख उपस्थित होने में।

विन्दुकी पूर्णता सिन्धुमें समाजानेमें ही तो है। स्फुलिंग जब प्रदीप्त वाड़वग्निमें पुनः एक होती है, उसकी कान्ति क्या कोई माप सकता है ? मेरी पूर्णता, मेरी सफलता उनके श्रीचरणोंकी सन्निधिमें है और वह मुझे प्राप्त होगी। वे मिलेंगी मुझसे।

हाँ ?, उनके श्रीचरणोंकी सन्निधि—मैं बहुत ठगी गयी हूँ, प्रतिदिन ठगी जाती हूँ,

यहाँ। नित्य-नित्य सोचती हूँ कि अपने आराध्यके पाद, पल्लव एकबार जी भरकर देखलूँ; किन्तु अब तक यह नहीं बना। ये मन्द मुस्कराते आते हैं और मेरे नेत्र मुझे ठग लेते हैं। कभो अलकों पर, कभी भ्रूभंग पर, कभी उनके कमल दल विशाल लोचनों पर। कभी स्मित शोभित अधरों पर और बहुत हुआ तो कण्ठ या वक्ष पर ये नेत्र जा टिकते हैं। मैं उनकें चरण करमें लेकर, उनका संवाहन करते हुए भी उनको देख नहीं पाती।

अभी से मैंने निश्चय कर लिया है, कुरूक्षेत्रमें ऐसी कोई भूल नहीं करूँगी। मैं अपना सिर नीचे रखूँगी। अपने नयन नमित रखूँगी। मैं उन्हें देखनेका लोभ नहीं करूँगी। उनके श्रीचरण—उनके चरणोंको देख सकूँ तो मेरा सौभाग्य !

बहुत दुर्बल हूँ मैं। मेरा निश्चय मेरे किसी काम नहीं आया करता। अपने स्वामीके ही समीप यह निश्चय कब कहाँ बह गया, मुझे स्मरण नहीं रहता। उनके समीप, उनके मिलने पर यह निश्चय बना रह सकेगा ? मुझे विश्वास नहीं है।

वे बोलेंगी, सम्भव है वे कृपामयी मुझे भुजाओंमें भरलें, उनकी स्वर माधुरी, उनका स्पर्श—अपने स्वामीके समीप भी तो मैं इन्हींसे प्रतिदिन ठगी जाती हूँ। वे इनसे अभिन्न हैं, इनको भी विमुग्ध रखने वाली हैं। उनके समीप पहुँचने पर मेरी सावधानी टिकेगी ?

'स्वामिनी !' मैं द्वारिकाके इन सर्वस्वकी सर्वप्रथम महिषी-इनकी प्रधान पटरानी हूँ और मेरे प्राण अभीसे पुकारने लगे हैं—'स्वामिनी' ! मैं उनसे अभीसे प्रार्थना करती हूँ—मेरी प्रार्थना उनके पदों तक नहीं पहुँचती होगी ? मैं प्रार्थना करने लगी हूँ—'दया करके अपने श्रीचरणोंके दर्शनकी शक्ति, उनके दर्शनकी सावधानी देना।'

वे मिलेंगी—वे जैसे भी मिलेंगी, मेरी सार्थकता मेरा सौभाग्य उसी मिलनमें। वे मुझे मिलेंगी।



महारानी सत्यभामा

अब जीवनकी एक साध पूरी होगी । वे अब मिलेंगी गोपियाँ व्रजकी और मिलेंगी उनकी यूथेश्वरी राधा । कैसी होंगी वे ?

पता नहीं क्यों मैं संकुचित होती जा रही हूँ । उनके मिलनका अवसर जैसे-जैसे समीप आता जाता है, मुझमें यह हिचक क्यों बढ़ती जा रही है ? मुझमें तो ऐसी दुर्बलता कभी थी नहीं । । यह क्या होगया है मुझे ?

कभी नहीं समझ सकी कि मेरे ये स्वामी गोपियों-कीचर्चा आते ही क्यों इतने विभोर, इतने पुलकित हो उठते हैं कि छिपाने पर भी इनका रोमाञ्च, स्वेद, अश्रु छिपते नहीं हैं । ऐसा क्या है उन गोपियोंमें ?

सौन्दर्य—लेकिन सब तो कहते हैं कि श्रीद्वारिकाधीशके अन्तःपुर में सृष्टिका समस्त सौन्दर्य एकत्र होगया है । उस सौन्दर्यमें कुछ हीनता है, कुछ त्रुटि है मुझमें ?

गोपियाँ ही हैं वे—उन ग्राम्याओंमें शृङ्गार कौशल तथा हाव-भाव नैपुण्यकी बात सोची नहीं जा सकती । तब प्रीति ? मुझे सोचकर हो असह्य लगता है कि मुझमें तथा मेरी बहिनोंमें प्रीतिका कुछ अभाव है ?

वे सब इनकी बाल-सखियाँ हैं । इनके जीवनका प्रथम प्रेम पाया उन्होंने और प्रथम प्रीति प्रगाढ़ हो जाती है । उसकी छाप हृदयसे दूर नहीं हुआ करती, यह तथ्य मैं समझ सकती हूँ ; किन्तु वह छाप इतनी प्रगाढ़ कि ये अब भी उनके स्मरणसे आत्मविस्मृत हो जाया करते हैं ।

'कैसी हैं वे कीर्ति-कुमारी राधा ?' मैंने इनसे एक दिन एकान्तमें पूछा था । तब पूछा था जब मुझे ये अत्यन्त सानुकूल, भाव-स्निग्ध लगे थे ।

'तुम उनका नाम मत लिया करो ।' ये सहसा ऐसे गम्भीर होगये, ऐसे बेसुध होने लगे कि मेरा साहस यह भी पूछनेका नहीं हुआ—'मैं उनकी नाम लेनेकी भी अधिकारिणी क्यों नहीं हूँ ?'

'अपने व्यक्तित्वका गौरव लेकर उन उत्सर्गमयीका नाम नहीं लिया जा सकता ।' इन्होंने स्वयं अपनी बेसुधीमें ही कहा था—'उनकी कृपाके बिना उन महाभावरूपिणीका स्वरूप मनमें नहीं आया करता ।'

उस दिन ये पता नहीं क्या-क्या कह गये। मेरी समझमें कुछ नहीं आया। मुझे बहुत दुःख हुआ, मैं देखती थी कि उस समय मैं मान करके रुठती तो तिरस्कृता हो जाती। मैंने तो प्रश्न करके इनकी सानुकूलताका सबसे सरस क्षण अपने हाथसे खो दिया था।

'ये आत्माराम, आप्तकाम मुनियोंके भी परमाराध्य हैं।' देवर्षि नारदसे बार-बार सुनती हूँ। देखती हूँ कि ब्रह्मपुत्र सनकादिकुमार भी इनका साक्षात्कार करने अनेक बार द्वारिका आते हैं। ये हमारे स्वामी परिपूर्णतम परमब्रह्म हैं, इसमें मुझे कभी कोई सन्देह नहीं हुआ। मैं अपने सौभाग्य पर गर्व करती हूँ। किसीको भी ईर्षा हो तो हुआ करे, ये मेरा मान रखते हैं। मेरे लिए स्वर्गाधिप आखण्डलको युद्धमें पराजित करके कल्पवृक्ष लेआये ये और उसे मेरे प्रांगणमें आरोपित किया।

मैं इनकी प्रिया हूँ—मेरी इस मान्यताका कोई प्रतिकार करेगा? लेकिन गोपियोंकी चर्चा आते ही ये मुझसे ऐसे उदासीन होजाते है कि मेरी उपस्थिति ही भूल जाते हैं। विस्मृत तो ये होजाते हैं अपने शरीरको, तब मैं अपनी विस्मृतिका उपालम्भ भी कैसे दूँ।

गोपियाँ कोई मन्त्र जानती हैं? राधाने कोई वशीकरण सिद्ध किया है? मैं कुछ समझ नहीं पाती हूँ। मैंने देवर्षिसे पूछा था तो वे हँसकर बोले—'देवि? तन्त्र, मन्त्रका कोई देवता नहीं जो आपके आराध्यका स्मरण करने पर भी अपनी छाया डालनेका साहस कर सके। इनके स्मरणसे महामायाका मोहान्धकार भी तत्काल मिट जाता है।

'तब ऐसा क्या है जो इन्हें भी बेसुध बना देता है?' मैंने साग्रह देवर्षिसे पूछा।

'प्रेम—केवल प्रेम है वह।' देवर्षिने कहा था—' ये स्वयं प्रेम स्वरूप हैं और प्रेम-परवश ही होते हैं; किन्तु देवि! प्रेमका स्वरूप तो वाणीका विषय नहीं है। उस अनिर्वचनीय तत्वका निर्वचन करनेमें तो मैं समर्थ नहीं हूँ।'

'प्रेम है गोपियोंमें' यह बात ही मेरी समझमें नहीं आती। उनमें प्रेम है और मुझमें, मेरी बहिनोंमें, महारानी रुक्मिणीमें प्रेम नहीं है? हम सबके प्रेममें त्रुटि है? अथवा हम प्रेम-शून्या हैं?

हमारे जीवन सर्वस्व तो यही हैं। इनके सुख, इनकी प्रसन्नताके अतिरिक्त हमें और कुछ चाहिये नहीं। इनके श्रीचरणोंका सान्निध्य ही जन्म-जन्ममें उपलब्ध होता रहे, एकमात्र यही आकांक्षा—अब यह प्रेम नहीं है तो प्रेम क्या होता है? कैसा होता है? कैसे किया जाता है प्रेम?

गोपियाँ प्रेम करना जानती हैं। प्रेमकी साक्षात् प्रतिमा हैं कीर्तिकुमारी राधा। यह मैंने सुना है। बात मेरी समझमें आवे या न आवे, कुछ है तो अवश्य। ऐसा कुछ है उनमें जो मेरे आनन्दघन आराध्यको भी बेसुध बनाता है। वह क्या है? कैसे पाया जा सकता है उसे?

गोपियाँ मिलेंगी। मिलेंगी कीर्तिकुमारी। यदि उनकी कृपासे वह प्रेम पाया जा सकता है तो मानिनी सत्यभामा उनके श्रीचरण पकड़ेगी और कङ्गालिनी बनकर, अञ्चल फैलाकर याचना करेगी उस प्रेमकी भिक्षाकी। वे इस पर कृपा नहीं करेंगी?

मुझे चाहिये—अपने इन आराध्यके पादपद्मोंमें प्रीति तो चाहिये मुझे और उसके लिए किसीके चरण पकड़नेमें, किसीका शिष्यत्व ग्रहण करनेमें सत्यभामाको कोई संकोच नहीं है। वे तो इनकी प्रिया हैं। वे प्रेमकी धनी हैं—वे मिलेंगी, मिलेंगी वे श्रीवृषभानुजा।

महारानी जाम्बवती

विचित्र है विधाताका विधान, अन्यथा क्या मैं रीछकी कन्या इन श्री-द्वारिकाधीशके अन्तपुरमें आने योग्य थी ? क्या हुआ कि मेरे पिता उपदेव जातिके हैं। इस अन्त:पुरमें तो देवताओंमें भी श्रेष्ठ भगवान भुवन-भास्करकी कन्या, लोक शासक धर्मराजकी साक्षात् स्वसादेवी कालिन्दी भी पट्टमहिषियोंमें सामान्या ही हैं।

ये मेरे स्वामी हैं ही उदारचक्रचूड़ामणि। मेरे पिता इनके अनन्य चरणास्श्रित। त्रेतामें जब ये अयोध्यानाथ थे, इनकी सेवामें रहे पिता और इनके परमानुग्रह भाजन रहे। क्या हुआ कि यहाँ अपने आराध्यको न पहिचानकर इन पर ही अविरत आघात करते रहे। इनसे ही युद्ध करते रहे। मेरे इन भक्तवत्सलको अपनोंका अपराध तो देखना ही नहीं आता। पिताने पहिचाना अपने जन्म-जन्मके स्वामीको और अपनी पुत्री उपहारके रूपमें अर्पित करदी। इनके श्रीचरणोंमें अस्वीकृतिको तो स्थान ही नहीं है।

इन्होंने मेरी ओर तो देखा ही नहीं। ये जीवकी ओर देखकर अपनाने लगें-- दुर्बल, मायाके कर्दमसे कलुषित जीव कभी योग्य बन सकेगा इनके श्रीचरणोंमें पहुँचने का ? लेकिन इनका स्वभाव किसीकी त्रुटि-दुर्बलता, दोष देखना है ही नहीं। ये तो कृपा करना—अपनाना ही जानते हैं।

मुझे अपना लिया इन्होंने। अपनी पट्टमहिषी बना लिया। पता नहीं इस रीछ-कन्यामें क्या दीखता है इनको कि इसे स्नेहदान करते हैं। ये तो कहकर पुलकित होते हैं—'देवि ! तुमको पाकर तो मैं गौरवान्वित हुआ। तुम सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माकी साक्षात् पौत्री हो और तुम्हारा तो नाम ही भक्तश्रेष्ठ महाभाग जाम्बवान्का स्मरण कराता है।'

किसीको स्नेह, सम्मान देना कोई इनसे सीखले। पता नहीं कहाँ-कहाँके सम्बन्ध जोड़कर विशेषताओं का आरोप करेंगे और स्वयं उन अपने द्वारा आरोपित विशेषताओं पर मुग्ध होते रहेंगे।

मैं साहस ही नहीं पाती थी अपने में—साहस तो अब भी नहीं पाती हूँ कुरुक्षेत्र जानेका ; किन्तु जाना तो है। मेरे ये आराध्य मानते नहीं हैं। इनकी इच्छा मेरे लिए आदेश है, अतः जाना है। लेकिन वहाँ ब्रजकी गोपियाँ आवेंगी, वहाँ आवेंगी

उनकी अधीश्वरी, मेरे इन स्वामीकी भी प्रीति-सेव्या श्रीराधा । मैं उन कीर्तिकुमारी-की सखियोंमें तो दूर, उनकी सेविकाओंमें भी खड़ी होने योग्य कहाँ हूँ ।

सुना है कि वे प्रेमकी अधिदेवता हैं और मैं जानती ही नहीं कि प्रीति होती क्या है । रीछ कन्या क्या जाने प्रेम । ये मेरे स्वामी प्रेम पर रीझते होंगे, लेकिन मैंने तो यही जाना है कि ये अनुग्रह-विग्रह हैं । किसीको भी अकारण अपने सहज कृपाशील स्वभावके कारण अपना लेते हैं । अपना लेते हैं तब इन्हें उसमें अनहुए संसार भरके सब-के-सब सद्गुण दीखने लगते हैं । मैं तो इनके इसी अहैतुकी करुणाके द्वारा अपनायी गयी इनकी चरण-सेविका हूँ ।

कोई सम्राट किसी भिक्षुकीको कृपा करके अपनाले ; किन्तु उस कङ्गालिनीका कुछ कर्तव्य नहीं होता ? उसके वे परमोदार अपने समान राजन्यवर्गमें उसे अपनी अर्धाङ्गिनी घोषित करेंगे, उनका सम्मान होगा ? ऐसे अवसरोंसे उस भिक्षुकीको स्वयं नहीं बचना चाहिये ?

ये मेरे आराध्य त्रिभुवनैक-वन्द्य है और इनका श्रीविग्रह ही विशुद्ध प्रेमका धनीभाव है । सुना है ब्रजका जन-जन प्रेममूर्ति है । ब्रजकी गोपियाँ प्रेमकी देवियाँ हैं । उनकी अधीश्वरी तो हैं ही महाभाव-रूपिणी । ये मेरे स्वामी भी अनेक बार कहते हैं कि उनकी कृपासे ही इनमें भी प्रेमका किंचित प्रादुर्भाव होता हैं । ये बहुत अतिशयोक्ति करते हैं ; किन्तु वे इनसे अभिन्ना, इनकी स्वरूपभूता हैं, यह तो मानना ही है । तब उन गोपियोंके मध्य, उन श्रीराधाके सम्मुख ये इस प्रेमहीना, स्वभाव रुक्षा रीछ-कन्याका परिचय अपनी पट्टमहिषी कहकर देंगे, यह इनके लिए शोभास्पद होगा ?

ये तो द्वारिकामें ही पता नहीं क्या-क्या कहते हैं । मैं लज्जासे गड़ जाती हूं जब देवी कालिन्दी तकसे कहने लगते हैं—'ये सृष्टिकर्ताकी साक्षात पौत्री हैं और तुम्हारे पितामह महर्षि कश्यप इनके भाई होते हैं ।'

हे भगवान ! कहीं देवताओंमें ऐसा सम्बन्ध देखा जाता है । पितृकुलकी दृष्टिसे भी देवी कालिन्दी पूज्या हैं । वे देवकन्या हैं और मेरे पिता उपदेवता हैं । लेकिन ये कुछ सुनते-मानते नहीं हैं । अब पता नहीं कुरुक्षेत्रमें क्या-क्या कहेंगे ये ।

बड़े संकोचकी बात है ; किन्तु बड़ी विवशता है । इनकी इच्छाको टालना मेरे लिए सम्भव नहीं है । मेरे मनमें भी लोभ है, मैं गोपियोंकी, उनकी अधीश्वरीकी चरण-वन्दनाका सौभाग्य पा जाऊँगी । वे मिलेंगी कृपामयी—इन मेरे स्वामीके नाते मुझसे मिलेंगी ।

—✽—

महारानी कालिन्दी

अहा, द्वारिका आकर कालिन्दी महारानी होगयी । यहाँ तो सब—केवल सपत्नियाँ ही नहीं, माताएँ तक इसका संकोच करती हैं । अन्ततः यह लोक भयंकर यमराजकी स्वसा है । यह भगवान भास्करकी कन्या है । कितना गौरव ? किन्तु किसीको पता भी है कि यह केवल तुच्छ दासी है—किसीकी चरणप्रक्षालिका दासी मात्र ।

मैं द्विविध रूपा हूँ, यह द्वारिकामें कम ही स्मरण किया जाता है ; किन्तु अपने-की धन्यतामें अपने जलरूपमें ही अनुभव करती हूँ । उसी रूपमें तो मुझे व्रजमें सेवाका सौभाग्य प्राप्त होता है । वहाँ अपने इस रूपसे प्रकट होनेकी कभी धृष्टता नहीं की मैंने । इतना साहस यमानुजा होने पर भी मुझमें नहीं आया ।

मेरी धृष्टता ही थी कि मैं इन अपने नवघनसुन्दर आराध्यकी प्राप्तिके लिए तप करने लगी । मेरे पिताने मेरे बालहठका समर्थन कर दिया और मुझे उन सर्वज्ञने ही स्थान दे दिया मेरे अपने प्रवाहमें इस रूपसे रहने का ।

पता नहीं पिताका वात्सल्य प्रतिफलित हुआ अथवा मेरे अग्रजकी भक्ति इन्हें ले आयी । मेरे अग्रज धर्मराज भागवताचार्य कहे जाते हैं और मुझ पर उनका बहुत स्नेह है । इतना मैं जानती हूँ कि वह मेरी योग्यता नहीं थी कि मेरे ये स्वामी स्वयं मुझे लेने पहुँच गये थे इन्द्रप्रस्थके समीप मेरे प्रवाह-पुलिन पर । इन्होंने अकारण कृपा करके मुझे अपनाया ।

मैं इनसे अपरिचित तो नहीं थी । शैशवसे ही ये मेरे पुलिन पर क्रीड़ा करते रहे थे । अपने सखाओंके साथ इन्होंने मेरे जलमें जाने कितनी बार स्नान-क्रीड़ा की और मुझे अपने श्रीअङ्ग पर लगे गोरोचन, चन्दन, वन धातुओंके प्रसादसे पवित्र किया ।

ये तमाल या कदम्बमूलमें अधरों पर वंशी रखकर जब त्रिभुवनको मादक स्वरलहरीमें सराबोर करने लगते थे, मैं अपनी लहरियोंके द्वारा इनके श्रीचरणों पर पद्मार्पण करनेका प्रयास करती थी । दूरसे पुष्पांजलि अर्पित करती थी ।

दूरसे—व्रजमें मैं स्वयं समीप आनेकी धृष्टता कर कैसे सकती थी । वहाँ तो मैं सेविका हूँ—नीररूपा अङ्गक्षालिका । वहाँ प्रकट होकर तो मैं उस सेवासे भी वञ्चिता हो जाती ।

व्रजमें मेरी स्वामिनी है श्रीकीर्तिकुमारीकी सखियाँ । मैं तो उन श्रीराजेश्वरी

क्रमशः—

वृषभानुनन्दिनीकी दासानुदासिका हूँ। उनके परममृदुल चारु चरण विहार विनोद कर सकें, इसके लिए सुकोमल स्वच्छ पुलिन अपनी लहरियोंके द्वारा प्रस्तुत रखना मेरा कर्तव्य है और इस सेवाका परम पुरस्कार है कि मेरे ये आराध्य भी सखाओंके साथ अथवा उन श्रीरासेश्वरी और उनकी सखियोंके साथ उस पुलिन पर विहार ही नहीं करते, मेरे प्रवाहको अपनी स्नान क्रीड़ासे सुपुनीत भी करते हैं। मुझे अपने सम्पूर्ण सखा-सखी वर्गके अंग-क्षालनका अवसर देते हैं।

ऋषि-मुनि भी स्तवन करते हैं मेरा—'यमुना प्रेम प्रदायिका सरिता है। यह हरिप्रिया है।'

उन गोपकुमारियोंकी पादरेणु प्राप्त करनेका जिसे सौभाग्य मिले, वह त्रिभुवनको पावन प्रेम प्रदानमें समर्थ हो जाता है। मुझे उनके श्रमसीकर, गात्र-कुंकुमका प्रसाद प्राप्त हुआ बार-बार। मैंने उनके चरण धोये। कालिन्दीमें कुछ होगा, अवश्य इसकी धारा प्रेम प्रदायिनी होगी; क्योंकि यह इन आनन्दघन, प्रेमैकरस मूर्तिकी, इनके सखाओंकी, इनकी सखी गोपियोंकी और श्रीरासेश्वरीकी चरणोदक है। सुरसरि सुपुनीत हैं केवल श्रीहरिकी पादाब्ज- सम्भवा हो कर, तो कालिन्दीको तो पूरे व्रजजनोंकी पादोदका होनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

मैं किंकरी—मैं उनकी गात्र-प्रक्षालिका दासी। अब वे मेरी स्वामिनी मिलेंगी मुझसे इस ग्रहण-स्नानके महापर्व पर। उनके सम्मुख उनके इन सर्वस्वकी पट्टमहिषी बनकर जाना पड़ेगा मुझे?

वे इतनी सरला, इतनी अनुकम्पामयी हैं कि उनमें कभी स्पर्धा जगी ही नहीं। उन्होंने तो स्वयं सबको अवसर दिया, शक्ति दी और स्वयं अपने आराध्यके करोंमें अर्पित किया। वे कृपा न करें, ये इन्दीवर सुन्दर किसीकी ओर दृष्टि उठावेंगे? मैं उनकी अनुग्रह भाजना हूँ, इसीलिए तो इन्होंने मुझे अपना रखा है।

वे अपनी सखियोंकी इस सेविकाको देखकर तनिक मुस्करा पड़ेंगी तो मैं धन्य हो जाऊँगी। जानती हूँ, वे प्रसन्न होंगी, बहुत प्रसन्न होंगी। वे मिलेंगी—बड़े उल्लाससे मिलेंगी।

इस रूपमें—अपने इस साकार रूपमें मुझे उनके श्रीचरण क्षालित करनेका सौभाग्य एक बार मिल जाता—इतना अवसर मिलेगा? वे संकोचमयी—अवसर न भी मिले, वे मिलेंगी। मिलेंगी मेरी वे स्वामिनी।



महिषीगण—

'अपनी भद्रा बहिन तो जन्मसिद्धा हैं। चाहे जो रूप धारण कर सकती हैं। गोपकुमारियोंमें ये गोपकिशोरी बनकर सहज मिल जायँगी।' श्रीकृष्णचन्द्रकी महिषियोंका मण्डल महारानी भद्राके अन्तःपुरमें एकत्र होगया है। सबमें अब चर्चाका विषय-तो कुरुक्षेत्रकी ग्रहण-यात्रा है ही इन दिनों, रानियोंमें इस चर्चाका भी केन्द्र हैं व्रजकी गोपकुमारियाँ। वे गोपकुमारियाँ जिनका स्मरण श्रीद्वारिकानाथ को इन इतनी रानियोंकी उपस्थितिमें भी भाव-विह्वल बना देता है। वे कुरुक्षेत्र आवेंगी, यह निश्चित लगता है सबको। ऐसा अवसर अपने सर्वस्वसे मिलनका वे कैसे छोड़ सकती हैं। वे आवेंगी—मिलेंगी।

वे राजकन्याएँ होतीं, किसी सम्राटकी रानियाँ भी होतीं तो श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियोंको उनसे मिलनेके सम्बन्धमें कुछ नहीं सोचना था; किन्तु वे गोपकन्याएँ हैं, प्रेमकी मूर्तियाँ हैं, अत्यन्त मानिनी हैं—पता नहीं क्या क्या सुना है उनके सम्बन्धमें और इस श्रवणने उलझनमें डाल दिया है। वे मिलेंगी—कैसे मिलेंगी? कैसे मिलना होगा उनसे?

'मैं भी ऐसा ही समझती थी।' महारानी भद्राने तनिक हँसते बतलाया—'जब मैं द्वारिकाके इस अन्तःपुरमें आयी, सुना कि स्वामी व्रजकी गोपकुमारियों पर ऐसे रीझे हैं तो सोचा कि एक दिन अकस्मात इनके सम्मुख कोई गोपकुमारी आवेगी तो इन्हें कैसा लगेगा।'

'मैंने इनके आग्रहपर देवकन्या, गन्धर्वकन्या, नागकन्याका रूप भी धारण किया था।' महारानीने बतलाया—'कोई गोपकन्या बनना होता तो मैं कभी बन सकती थी। जिसका रूप धारण करना हो, उसका रूप मैंने देखा ही हो और उसका ध्यान करूँ; यह आवश्यक नहीं है मेरे लिए। मुझे केवल संकल्प करना पड़ता है कि अमुक बन जाऊँ, मेरा शरीर स्वतः वैसा हो जाता है। मैंने सोचा था कि मैं भी राधा बनकर इनके सम्मुख उपस्थित होऊँ तो?'

'बड़ा आनन्द आया होगा। ये अच्छे चौंके होंगे। क्या कहा था इन्होंने?' महारानी सत्या ही नहीं—सब उत्सुक हो उठी थीं।

'कहाँ हो सका यह।' महारानी भद्राने शिथिल स्वरमें कहा—'मैं बड़ी साधसे

पूरे मनोयोगसे श्रीराधा बननेका संकल्प कर रही थी। कुछ नहीं हुआ तो खीझकर मैंने संकल्प किया, ब्रजकी कोई गोपकुमारी बन जाऊँ।'

'आज महारानी इतनी तल्लीन किस विषयमें हैं ?' पता नहीं कब देवर्षि आ पहुँचे थे। मेरी एकाग्रता तो उनके स्वरने भंग की।

'लगता है कि मेरी जन्म-सिद्धि नष्ट होगयी।' देवर्षिकी अभ्यर्थना करके मैंने खेद भरे स्वरमें कहा—'अब मैं कोई दूसरा रूप धारण नहीं कर सकती।'

'ऐसा तो नहीं लगता।' देवर्षिने तनिक नेत्र बन्द किये और बोले—'अब तक आपने जितने भी रूप परिवर्तित किये हैं, उनमें-से कोई पुनः स्मरण करके परीक्षा कर लें।'

'इस समय तो बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं सफल नहीं हुई।' मैंने बतलाया—'इतना काम मुझे कभी करना नहीं पड़ा है।'

'इस समय आप बनना क्या चाहती थीं ?' देवर्षि भी लगा कि कुछ चौंके हैं।

'श्रीराधा अथवा उनकी कोई सखी।' मैंने संकोच पूर्वक बतला दिया।

'देवि ! सृष्टिकर्ताने यह सृष्टि अपने संकल्पसे प्रकट की है, अतः उनकी सृष्टिमें जो कुछ भी है, शुद्ध एवं शक्तिशाली मन वह बन सकता है। समर्थतम सिद्ध मानसके भी शक्तिकी यही सीमा है।' देवर्षि दो क्षण इतना कह कर मौन हो गये।

'जो चिदघन-वपु हैं, नित्य हैं उनका स्वरूप ग्रहण करनेमें स्रष्टाका मानस भी समर्थ नहीं है।' देवर्षिने स्वतः कहा—'जानता हूँ कि ब्रजमें कुछ साधन-सिद्धा जीव कोटिकी गोपकुमारियाँ भी हैं; किन्तु देवि ! कोई काष्ठअग्निमें पड़ें, अग्नि स्वरूप हो जाता है। उसके समीप शीत एवं अन्धकारका प्रवेश सम्भव नही रहता।

मैं देवर्षि का मुख देखती रह गयी। कृपा करके उन्होंने ही स्पष्ट किया—'ब्रज तो नित्य चित्स्वरूप है। उसमें प्रविष्ट होनेका अधिकार प्राप्त होना कठिन है। जिन्हें यह अधिकार प्राप्त हो गया' माया अथवा मायाका कोई वैभव उनका कैसे स्पर्श करेगा। आप तो श्रीराधाकी सखियोंकी चर्चा करती हैं, वहाँके किसी पशु-पक्षीका संकल्प करके भी दिव्य सिद्ध लोकोंके सिद्धेश्वरोंका संकल्प व्यर्थ रहेगा। अन्ततः समस्त सिद्धियाँ मायाका ही वैभव तो हैं।'

'देवर्षि चले गये। मैंने पुनः देवकन्या, नागकन्या आदि रूप धारण करनेका संकल्प करके अपनी शक्ति-परीक्षाकी। विश्वास होगया कि मेरी जन्म सिद्धि कुण्ठित नहीं हुई है; किन्तु वह फिर कुण्ठित हो गयी जब मैंने ब्रजकी एक सामान्य मयूरी बननेका संकल्प किया।

'मयूरी बननेका भी संकल्प सफल नहीं हुआ ?' महारानी सत्या आश्चर्यसे देखती रह गयीं भद्राजीकी ओर।

'वह तो मैं इसी क्षण बन सकती हूँ।' भद्राजीने कहा—'किन्तु इस कुशस्थलीकी मयूरी। ब्रजकी मयूरी बननेका संकल्प पूरा नहीं हुआ था, अब भी नहीं होगा। भला मैं वहाँकी कोई गोपकुमारी बननेकी आशा कैसे कर सकती हूँ।'

'बहिन ! हमारे ये नवनीरद सुन्दर स्वामी ब्रजकी चर्चा होते ही भाव विभोर होने लगते हैं। इनके पद्मपलाश लोचनोंसे बिन्दु टपकते हैं। यह बात समझमें नहीं आती थी। हमारी इस पुरीमें क्या अभाव है ? स्वर्गकी सुधर्मा-सभा, नन्दन काननका पारिजात तरु जो ले आये वे ब्रजके नामसे इतने विह्वल क्यों होते हैं ? मेरे लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन था।' महारानी लक्ष्मणाने कहा।

'आज तुम्हारी बात सुनकर लगता है कि ब्रज ही हमारी कल्पनामें नहीं आता, तब ब्रजकी महिमा कैसे आवेगी। ब्रजमें कुछ है—कुछ ऐसी विशेषता है कि वह हमारे इन वनमालीको भी वशमें किये हैं।' लक्ष्मणाजीने गम्भीर होकर कहा।

अब महारानी मित्रविन्दा बोलीं—'मुझे तो देवर्षिकी बातसे आश्वासन मिला है। अग्निका स्पर्श करके हीनतम काष्ठ भी अग्निमय होजाता है। हम कैसी भी हों—कुकाठ सही; किन्तु इन मयूरमुकुटीकी चरणाश्रिता हैं। वे ब्रजकी यूथेश्वरी श्रीराधा, उनकी सखियाँ मिलेंगी हमसे। उनका पुण्यस्पर्श मिलेगा। उनका स्पर्श हममें भी कुछ दिव्यत्व, कुछ प्रीतिका सञ्चार करेगा।'

'वे मिलेंगी !' सबके हृदयको यह आशा उत्फुल्ल करती है। सब रानियाँ इस आशामें पगी हैं।

—※—

प्रद्युम्न—

आकाँक्षा चाहे जितनी तीव्र होती, उस समय मैं निरुपाय था। व्रजमें तो कामका प्रवेश नहीं। अपराध किया था मैंने—अपनी ओरसे तो मैं अपराध कर ही चुका था। यह दूसरी बात है कि मेरी धृनष्टता असफल रही, उस प्रेमभूमि पर अपना कोई प्रभाव डालनेमें अनंग असमर्थ था।

अब तो सोचकर लज्जा होती है, ग्लानिसे भर जाता हूँ; किन्तु उस दिन शरत्पूर्णिमाको मन्मथ अभिमानमें भरा व्रज गया था। बड़ा गर्व था इसे कि यह सुमन-धन्वा होकर भी त्रिभुवन-जयी है। क्या हुआ कि अत्यत क्रोधी त्रिपुरारिने इसे भस्म कर दिया। कामानुज क्रोधसे वे भी पराजित ही। तो हुए एकमात्र नारायणने इसे पराजित किया था और वे तो पिता हैं। उनसे पराजयमें भी इसका गौरव है।

अनेक भ्रम उस दिन इस मदनके मनसे दूर हो गये। इसे पहले पता लगा कि पृथ्वी पर जब दिव्यधामका अबतरण होता है, प्रकृतिके क्षेत्रका कोई अधिदेव भी भी वहाँ बलपूर्वक प्रवेश-समर्थ नहीं होता। मारकी गति वहाँ गगनमें ही स्तम्भित हो गयी। व्रजधराका स्पर्श करने में असमर्थ हो गया यह।

अब तो प्रद्युम्नके वे परमपूज्य पिताश्री हैं; इस वात्साल्यकी कोई तुलना है। धृष्ट अपराधीको अपनी अहैतुकी कृपासे ज्येष्ठ पुत्रका गौरव देना इन करुणा-वरुणान्त्म के ही लिए सम्भव है।

भगवान नारायणने—ऋषिनारायणने मनोजको पराजित किया था; किन्तु यह जानता था कि जैसे प्रेमकी विकृत छायाका नाम काम है, वैसेही श्रीव्रजेन्द्र नन्दन परात्पर पुरुष हैं, ब्रह्माण्डके प्रतिपालकके भी आदि,-कारण और उनके आश्रितोंके मानसका स्पर्श उनकी अनुज्ञाके बिना न मदन कर सकता, न इसका कोई सहायक अथवा सम्बन्धी।

यह भ्रम भी उस दिन दूर हो गया कि कोई काम बीज भी है। उन मयूरमुकुटीकी वंशीने जब विश्वविमोहलकीका गान प्रारम्भ किया, मनोभवको भ्रम हो गया कि यह उसका बीज है, यह उसे अंकुरित—सप्राण करके पुष्ट करता है प्राणियोंके मनमें।

यह तो नित्य कृष्ण-बीज है, व्रजराजकुमारके प्रेमका परिपोषक बीज । कामकी तो इसकी छायाभी छूनेकी शक्ति नहीं । नहीं ही तो छूसका मनोजन्मा पूरा प्रयत्न करके गगनमें उपस्थित रहते भी उसदिन इसकी छाया । इसके सुमन-धनुषके सब अमोघ शर उस दिन व्यर्थ हो गये । वे व्रजधराका स्पर्श करनेसे पूर्वही अदृश्य हो जाते थे, जैसे कोई अलक्ष्य कर उन्हें मार्गमें ही झपट लेता हो ।

यह सम्पूर्ण सृष्टि मेरे इन लीलामय पिताश्रीके नित्यलोककी विकृत छाया हैं । इन मच्चिदानन्दका ही सत् प्रकृतिमें तम बनकर, चित् रज बनकर और आनन्द सत्व बनकर प्रतिवम्वित है । मनुष्यके अन्तरमें अपनी प्राप्तकी जो दिव्य प्यास इन्होंने दया करके दे रखी है, वही विशुद्ध प्रेम जब इस नश्वर जगतीमें भटक जाता है, ऐन्द्रियक लोलुपता बनकर काम कहा जाता हैं । अन्यथा मन्मथ वस्तुतः इनकाही अंगजन्मा, इनका ही पुत्र है, यह तथ्य तो अब यहाँ इनका पितृत्व उपलब्ध करके मेरी समझसे आया हैं ।

इन लीलामयकी भोगमायाका प्रभाव अचिन्त्य है । अनङ्ग होकर भी मारका गर्व मिटा नहीं था । अपनेको देवता समझता था यह—शक्रभी जिसका सदा सम्मान करते हैं, ऐसा सुर ।

क्या अद्भुत है इसमें ? ऐसा कोई जीव है जो इनका ही अंश न हो ? जब सभी माया-मोहित होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता मान बैठे हैं, सृष्टि कर्ता तक इनकी माया से मोहित हैं तो मदन मोहित होता, क्या आश्चर्य । अत्यन्त सुकुमार और भ्रान्तिका देवता । जिसकी सबसे बड़ी शक्ति है, देव-गन्धर्व, यक्ष, मानव सबको भ्रान्त कर देना, वह स्वयं भ्रान्तिमें नहीं भटकेगी ? भ्रान्ति ही तों—नश्वर आकृतिका आकर्षण, चर्मावरणको दूरकर देनेपर जिसे देखकर भागना चाहे प्राणी, जिससे दुःखके अतिरिक्त कुछ नहीं मिलना, उसे मनोहर, आकर्षक, सुखद दिखलाकर मार भटकाता ही तो है सबको ।

उस दिन यह अपने अहंकारके कारण स्वयं भटक गया । यह आदित्य मण्डलमें अन्धकार उत्पन्न करनेकी आशा लेकर गया था । व्रज तो चिन्मयं धाम है । उस दिव्य प्रेमकी भूमिमें अज्ञानका, विकृतका प्रवेश होना सम्भव होता ?

मुझे अपने पराजय पर गौरव है । उस पराजयने ही तो मेरे अनन्त कृपासिन्धु पिताको द्रवित किया । वे मेरे नित्य पिता—काम उनका शाश्वत पुत्र, उनकी छाया । इसे अपने इस अवतारमें भी पुत्रत्व प्रदान करके उन्होंने धन्य कर दिया ।

मुझे ग्लानि होती है यह सोचकर ही कि जिनकी अंशोद्भवा हैं यहाँ मेरी जननी, मैं उन परमाध्या एवं उनकी सखियोंके साथ धृष्टता करने पहुँचा था । उनको अपने आवेशसे प्रभावित करनेका संकल्प आया मेरे मनमें ।

प्रेमसे अपराध नहीं होगा, ऐसा कैसे कहा जा सकता है; किन्तु शिशु चाहे जितना अवोध हो, ऐसा भी अपराध कोई करता है ? इतनी धृष्टता ? मेरा अभाग्य कि उनके चरणोंपर मस्तक रखकर क्षमा माँगनेका भी अवसर नहीं मिला मुझे । व्रजमें प्रवेशका ही मेरा अधिकार नहीं था । मैं गगनसे नीचे उतरनेमें असमर्थ था ।

अब मैं श्रीहरिका पुत्र हूं । इनकी अहैतुकी कृपाने ही मुझे यह गौरव दिया; किन्तु मेरी आन्तरिक ग्लानि, मेरी कुण्ठा किसी प्रकार दूर नहीं होती । मैं अब भी इस रूपमें भी व्रजमें प्रवेशकी बात सोचते ही जैसे जड़ हो जाता हूँ । अन्यथा कब का वहाँ जा आया होता । जनता हूं कि अव देवी योगमाया भी मुझे रोकनेका सहास नहीं करेंगी । व्रजसे मुझे वात्सल्य ही प्राप्त होता है अब; किन्तु मेरा अन्तर अपने ही अपराधसे असमर्थ हो जाता है ।

व्रज—मुझसे अधिक उस दिव्यधराका प्रभाव कोन जानेगा, जहाँ सुमनधन्वा प्रवेशमें ही असमर्थ हो गया था । व्रजतो तभीसे मेरा प्रणम्य, मेरी आराध्य भूमी हो गया । वहाँके पशु-पक्षी, तृण-लता तक मेरे परमादरणीय हैं; किन्तु वहाँ जानेकी बात सोचते ही संकोचसे जैसे मैं गलने लगता हूं ।

बड़ी उत्कण्ठा–अत्यन्त तीव्र इच्छा होती है, मैं जिनका अपराधी हूँ, उनकी चरणरज अपने मस्तक पर धारण करूँ । उनके श्रीचरणोंका दर्शन–अब वहाँ क्या मुखसे क्षमा माँगनेकी आवश्यकता रह गयी है ? वहाँ तो उमड़ता वात्सल्य मिलता है इस उद्धतको । प्रत्येक स्नेह–गलित स्वरमें कहेंगी—प्रद्युमन ! मेरे बच्चे !'

यह सब जानते भी व्रज जानेका सहास नहीं कर सका; किन्तु जिन्होंने अपने इस अपराधी उच्छ्रिखलको पुत्रत्व प्रदान किया, उन्हीं अन्नत वात्सल्यमयने इस अपने शिशुको यह सुअवसर भी सुलभ किया है । अब इसे व्रजकी उन आराध्याके पदोंमें मस्तक रखनेका सौभाग्य मिलेगा । वे सब मिलेंगी इसे ।



साम्बादि-

'अरे लड़को ! एक बार व्रज हो आओ । तुम लोगोंके बहुतसे भ्रम दूर हो जायेंगे । द्वारिकाके इन स्वर्ण सौधों और सुरोंकी सुधर्मा सभाने, महाराज उग्रसेनके सम्मुख लोकपालोंकी प्रणतिने तुम सबको भ्रान्त कर दिया है । तुम समझते हो कि सृष्टिमें तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ हो ।' भगवान संकर्षण अनेक वार यादवकुलके कुमारोंसे कह चुके हैं । यदुवंशके बालकों पर उनका असीम स्नेह है । श्रीकृष्णचन्द्रके भी पुत्र-पौत्र अपने इन्हीं ममतामय पितृव्यके सम्मुख खुल पाते हैं ।

अब ग्रहण-स्नानके लिए कुरुक्षेत्र जानेका अवसर आया है तो कुमारोंका मण्डल एकत्र बैठ गया है । इनमें भी वहाँ कुरुक्षेत्रमें व्रजके लोगोंके मिलनेकी ही सम्भावनाको लेकर चर्चा चल रही है । क्योंकि वहाँ दूसरे भी कोई मिलेंगे, यह द्वारिकामें किसीके लिए महत्वकी बात नहीं है । कुमारोंके मातामह, मातुल तथा इनकी पत्नियोंके पितृगृहके स्वजन भी मिलेंगे; किन्तु उनकी चर्चा कोई विशेष महत्वकी नहीं है । विशेष तो है व्रज, विशेष हैं व्रजके लोग और वे मिलेंगे ।

'पितृव्य कहने लगे कि तू व्यर्थ अपने शारीरिक सौन्दर्य पर फूला फिरता है । तू यहाँ द्वारिकामें और सुरोंके समूहमें भी सुन्दर हो सकता है; किन्तु व्रज चला जाय तो तेरा यह गर्व मिट जाय । वहाँ सेवक-पुत्रोंके साथ बैठनेमें भी तुझे संकोच लगेगा । गोप-कुमारोंकी अंग छटा, शरीर सौष्ठवकी तो तू कल्पना नहीं कर सकता ।' साम्बने सब कुमारोंके मध्य कहा ।

पितृव्यको ऐसा कोई सद्‌गुण स्मरण नहीं, जो व्रजमें उनके सखाओं में न हों । उन्हें तो लगता है कि त्रिभुवनमें और कहीं कोई गुण, रूप, बल है ही नहीं ।' एक श्रीकृष्णकुमारने ही कहा—'वे गोपकुमारोंको केवल विद्वान नहीं बतलाते यही बड़ी कृपा करते हैं ।'

'सभी ऋषि-मुनि कहते हैं कि अपने अग्रज प्रद्युम्न जी साक्षात् काम हैं और सुरोंमें उनसे अधिक सुन्दर कोई नहीं है ।' साम्ब अब यह कैसे कहें कि वे स्वयं प्रद्युम्नसे कहीं अधिक सुन्दर हैं । साम्बका सुकोमल शरीर, जैसे श्वेत हिम पर प्रातः दिनमणिकी अरुणाभा पड़ती हो ऐसा भव्य वर्ण, एक एक अंग कत्रिकी कल्पनासे जैसे गठित हुआ हो । साम्बको अपने सौन्दर्य पर उचित गर्व है । अब कोई उन्हें कहींके—भले व्रजके ही हों, सेवक पुत्रोंसे भी शरीर-सौष्ठवमें हीन कहे, यह क्या सह लेने योग्य बात है ? लेकिन द्वारिकामें कोई भगवान बलरामकी बातका प्रतिवाद भी कैसे करे ? अपने उन पूज्य पितृव्यके सम्मुख तो नीरव रह ही जाना पड़ता है ।

'व्रज के गोपकुमार सरल हैं—स्वभाव सरल ।' यह एक बात पितृव्यकी अपनी समझमें आती है ।' एक यादव कुमारने हँसकर कहा—'वनके मध्य रहने वाले

गोपालोंके कुमारोंमें सरलता स्वाभाविक गुण है। उन्होने नगर देखे होते और फिर सरल होते तब उनकी प्रशंसा उचित थी।'

'पितृव्य तो कहते हैं कि उनकी सहज बुद्धि सुरगुरुके लिए भी स्पृहणीय है।' एक कुमारने व्यंग किया-'पता नहीं देवगुरु बृहस्पति क्यों अब तक उनका शिष्यत्व ग्रहण करने नहीं पहुँचे ब्रजमें।'

'देवगुरु भले न पहुँचे हों, देवगुरुके साक्षात् शिष्य, अपने महामन्त्री पितृव्य बृहद्बल (उद्धव) जी वहाँ गये थे।' साम्बको अपने सहचरका व्यंग रुचा नहीं। वे गम्भीर हो रहे थे ब्रज चर्चा के सम्बन्धमें—'अपने महामन्त्रीकी बुद्धिमत्ताके सम्बन्धमें अब तक यदुवृद्धोंमें-से भी किसीने सन्देह नहीं किया है। हम सब जानते हैं कि जबसे वे ब्रजसे लौटे हैं, वहाँका स्तवन करते थकते नहीं हैं। हम सबमें अनेकोंने धृष्टता की होगी उन्हें 'गोप-शिष्य' कहनेकी; किन्तु इससे वे हतप्रभ नहीं होते। किसी विशेष चिन्तनमें गम्भीर न हों तो हंसकर कह देते हैं—'गोपी-शिष्य' कहना उचित है।'

'वे परम बुद्धिमान् अपने महामन्त्री पितृव्य भी ब्रजके लोगोंकी प्रशंसा करते थकते नहीं हैं।' साम्बने अब सबकी ओर देखा—'इसलिए हमारे बड़े पितृव्य केवल अपने सखाओंके प्रेमके कारण उनकी प्रशंसा करते हैं, ऐसा मान लेना मुझे तो समझदारी नहीं लगती है।'

बालकों में—इन यादव कुमारोंमें जो सच्चे अर्थमें बालक नहीं थे। इनके पुत्र भी विवाहित हो चुके थे। इनमें कोई नहीं था तो उद्धवजीकी बुद्धिमत्ता पर सन्देह करता। उद्धव सुना है कि केवल दो महीने ब्रज रहे थे. बहुत पहिले तब रहे थे जब इन कुमारोंके पिताजीका विवाह भी नहीं हुआ था और तबसे आज तक उद्धवजी अपनेको 'गोपी-शिष्य' कहलानेमें गौरव मानते हैं। ब्रजके गोपोंकी प्रशसा करते थकते नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें ब्रजकी चर्चाको परिहासमें नहीं लिया जा सकता। उस पर व्यंग नहीं किया जा सकता।

'ब्रजमें—ब्रजके लोगोंमें कुछ है, अवश्य ऐसा कुछ है जो हमारे सर्वेश्वरेश्वर पिताश्रीको भी विमुग्ध करता है।' साम्बने कहा--'हमारे अनन्त शक्ति ज्ञानस्वरूप बड़े पितृव्य वहाँके लोगोंकी चर्चाके समय अपने आपको भूल जाते हैं।'

'हमारे लिए तो यह गौरवकी बात है।' अब सत्यभामाजीके पुत्र बृहद्भानु बोले—'वे हमारे पितृव्य हैं। हमारे अपने हैं। उनका वात्सल्य हमारा स्वत्व है। सृष्टिमें वे सर्वोत्कृष्ट हैं तो हमारे ही हैं। हम उनके स्वजन हैं और हम पर उनका स्नेह है।'

'अब हम सबको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होगा। हम उन्हें देखेंगे, उनकी वन्दना करेंगे, उनका स्नेह प्राप्त करेंगे।' साम्बने पुलकित स्वरमें कहा—'हमारे स्वर्णिम स्वप्नोंके वे स्वजन मिलेंगे हमें।'



उद्धव—

व्रजसे आये मुझे कितने वर्ष हो गये; किन्तु लगता है कि मैं अभी कल ही आया हूँ। मेरे दयामय स्वामीने मुझे अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। मैं वहाँ लोगोंको आश्वासन देने, समझाने, उपदेश करने गया था। मुझे बहुत अहंकार था कि मैं सुरगुरुका शिष्य हूँ। मेरे ये वनमाली गर्वहारी हैं। मुझपर इनका अकारण वात्सल्य है। मुझ ज्ञानलव दुर्विदग्धको प्रेमका पुनीत प्रकाश प्राप्त करने भेजा इन्होंने और मैं समझता था कि मैं उपदेष्ठा बनकर जा रहा हूँ।

व्यर्थ हो जाता जीवन यदि मैं व्रज न गया होता। मेरा अभिमान गलित हो गया। मैंने वहाँ गोपकुमारियोंके पावनपदोंके पास बैठकर जाना कि मेरी सम्पूर्ण शिक्षा, मेरी बुद्धिमत्ता तो केवल मुझे अज्ञानान्धकारमें ही भटका सकती है—भटका रही है। इन श्रीकृष्णचन्द्रमें प्रीति कैसी होती है, मैंने वहाँ देखा,। उसे अपना सकूँगा, अपने जीवनमें ला सकूँगा, कोई आशा नहीं; किन्तु उसके दर्शनका सौभाग्य ही क्या कम महत्त्वका है। वही जीवनका सार—जीवनकी परम सार्थकता और मैं उससे सर्वथा अपरिचित था, फिर भी अपनेको ज्ञानी मानता था।

मैं वहाँ गया, उन भुवनपावनी श्याम-प्रीतिकी साक्षात् प्रतिमाओंकी पदरज पा सका पवित्र हो गया यह वृहद्वल और सदाके लिए उनका चरण सेवक होगया। मैं व्रजं गया और व्रजका होगया। अब यह तो मेरा प्रवास चल रहा है। यहाँ मेरे अनन्त दयाधाम स्वामी हैं। उनकी सेवामें हूँ, उनके समीप हूँ; किन्तु मैं यहाँका तो नहीं रह गया। प्रतिक्षण लगता है कि मैं अपनोंसे, अपने निज स्थानसे दूर पड़ा हूँ।

मैं वहाँ आश्वासन दे आया था, लगभग प्रतिज्ञा कर आया था कि उनके व्रजराजकुमारको लेकर शीघ्र लौटूँगा। उनमें- से एकने भी तो मेरी बातका विश्वास नहीं किया। सबने मुझे ऐसे ही स्नेहसे भेजा, जैसे अबोध शिशुकी बातों पर ध्यान न देकर उसे प्रोत्साहित करते हैं। मैं अबोध शिशु ही तो था—अब भी उनका अबोध शिशु ही हूँ।

बाबासे मैं बोल सका था। मैयाका वात्सल्य मिला मुझे; किन्तु उससे मैं मुख नहीं खोल सका और गोपकुमार—वे तो मेरी समझमें ही नहीं आये। व्रजका कोई, सम्पूर्ण व्रज ही क्या सृष्टिकर्ताकी समझमें आता होगा? आता होता तो वे वत्सहरण कर पाते? गोपकुमारोंका क्षणमें दावाग्निदग्धके समान शीर्णकाय, रक्तशून्यमुख और क्षणमें उनकी उल्लास प्रफुल्लकामा—किसीकी समझमें आनेकी बात है यह।

मैं शीघ्र लौटनेका अपने इन मयूरमुकुटी स्वामीको लेकर लौटनेका वचन वहाँ दे आया था। मेरा जैसा अज्ञान था मथुरासे जाते समय अपने स्वामीको आश्वासन देना कि मैं व्रजके लोगोंको समझा लूँगा, उन्हें उपदेश करके शान्त कर दूँगा। उससे कम बड़ा अज्ञान कहाँ था व्रजसे मथुरा आते उन लोगोंको वह वचन देना; किन्तु मैं तो वहाँका सदा अबोध, अज्ञानी बालक हूँ। मुझे भला कोई क्यों उलाहना देगा। मैं क्यों संकोच करूँ।

बाबा मिलेंगे। उन्हें स्मरण भी नहीं आवेगा कि मुझ अज्ञने उन्हें उपदेश करनेकी धृष्टताकी थी, वे तो उस समय भी ऐसे मेरा मुख देखते रहे थे जैसे कोई स्नेहमय पिता बिना समझे चाहे जो बोलते जाने वाले अपने बकवादी बालकको देखता हो। वे भुजा बढ़ाकर मुझे अपने अंकमें समेट लेंगे—'वृहद्वल ! सकुशल, सुप्रसन्न हो तुम ?'

मुझे उनकी चरणधूलि हठपूर्वक लेनी पड़ेगी और मैया हँसेगी—अवश्य इस बार हँसेगी जबमैं उसकी पदरज लेनेको मचलूँगा। वह कहेगी—'उद्धव ! यह सब तूने कहाँ सीख लिया ?'

उसे अटपटा तो लगता ही होगा। व्रजका कोई बालक कहाँ चरण स्पर्शको मचलता होगा। मैयाका वात्सल्य, मैयाका अङ्क उनका सहज स्वत्व है; किन्तु उद्धव अपनेको इतना सहज कर नहीं पाता। उन भुवन-धन्यनीयाका स्वभाव है वात्सल्य प्रदान; किन्तु उनकी पदरज—उस सुरदुर्लभ पदरजकी प्राप्तिका मोह मनसे जाता नहीं। उद्धव उनके शिशुओंका अत्यन्त तुच्छ सेवक है, यह कैसे भूल सकता है।

मिलेंगे गोपगण। सहज वात्सल्यकी मूर्ति और उन्होंने तो उद्धवको प्रणाम करते ही उस समय भी हृदयसे लगा लिया था। उनकी वाणी भले स्नेह शिथिल हो जाय, उद्धवकी अलकें उनके प्रेमाश्रु विन्दुओंसे आर्द्र हुई हैं। ये पुनः आर्द्र होंगी। किसी महामखका अवभृथस्नान इतना सुपुनीत नहीं हो सकता।

वे सहज सरल, अतिशय उदार गोपकुमार मिलेंगे जिन्होंने मिलते ही चिर परिचितके समान अङ्कमाल दी थी। वे इतने भोले, इतने शील निधान कि उनके लिए कोई स्वयं अपरिचित न बने तो वे किसीको अपरिचित मानते ही नहीं।

उद्धव अन्तत; उनके सखाका सेवकही तो है; किन्तु उनका तो ध्यान ही इसपर नहीं जाता। मैंने स्मरण भी दिलाया तो सबने हँसकर ताली बजादी—'यह मथुराकी बातें वहीं रहने दो। हम गोपबालकोमें सेवक स्वामी क्या ?'

न शिष्ठाचारकी कृत्रिमता और न संकोच या अहंका अलगाव—वे तो ऐसा अपनाते हैं जैसे जन्म-जन्मके अपने ही हों। उन्होंने हँसकर पूँछा था मुझसे—

'कभी गायें चरायी हैं ? हम सिखा देंगे। कुछ कठिन काम नहीं है। केवल साथ चलो और वहाँ हम सबके साथ खेलना। तुम्हें हम गायें घेरनेको नहीं कहेंगे।'

'ये अपने कन्हाईके सखा।' अबभी वे इसी प्रकार मिलेंगे और कौन जाने इस मेलेमें भी वे इसकी अलकोंको सजाने इसके अंगों पर धातु चित्र बनाने बैठ जायँ। उनकी चरण घूलि केवल कौशल पूर्वक पायी जा सकती है।

मिलेगी प्रेमकी सचल मूर्तियाँ गोपकिशोरियाँ। इस जन पर उन्होंने सबसे अधिक अनुग्रह किया। यह उनकी ही पदरजसे पावन हुआ। इसे प्रेमके पवित्र प्रकाशका दर्शन मिला उनके पद प्रदेशमें। अब भी यह तनिक दूरसे उनके सम्मुख भूमिपर मस्तकही रखेगा। वे मेरी गुरु, मेरी उपदेष्टा, मेरी नित्य पूजनीया; किन्तु वे शील एवं लज्जाकी मूर्तियाँ सस्मित, सकोच पूर्वक कहेंगी—'तुम तो हमारे श्यामसुन्दरके सखा हो!'

उनके परोक्षमें, उनके चले जाने पर हीं उनके परम पावन पादारविन्दोंसे अंकित स्थलीकी रज मस्तक पर चढ़ायी जा सकती है। वह रज मिलेगी, मुझे इस महापर्व का यह परम लाभ सुलभ होगा।

मेरा सौभाग्य उदय होगा मैं श्रीकीर्तिकुमारीको सुप्रसन्न देख सकूँगा। मैंने उन्हें देखा था, कोई वियोगकी अधिदेवता हो तो वह उनकी छाया होगी। लेकिन मैंने उन्हें देखा था, यह सत्य कहाँ हैं ? मैंने उन तेजोमयीकी एक झलक—दूरसे अत्यन्त अस्पष्ट झलक देखी। भूमिमें मस्तक रखा। श्रीललिताजीने कुछ कहा उनसे, सम्भवतः मेरा परिचय दिया और तनिक पलकें उठाकर उन्होंने एकबार देख लिया मेरी ओर—बस।

वह दृष्टि उठी और मैं नहीं जानता कि मेरी क्या स्थिति होगयी। आत्म-साक्षात्कारमें जो एकरसता, शून्यता, निष्क्रियता है वह भी नहीं और व्यक्तित्वका नाम भी कहीं नहीं। अनन्त उद्वेलित रससागर— आनन्दाब्धिकी उत्ताल तरंगे। मायाकी वहाँ छाया भी पहुँचनेमें असमर्थ।

मैं साक्षात् आनन्दकन्दकी सन्निधिमें ही रहता हूँ, किन्तु वहाँ मेरी चेतना लुप्त होगयी। मुझे उनकी सहेलियोंने ही सम्हाला, हटाया वहाँसे। मैंने कहाँ उनके श्रीचरणोंका दर्शन पाया है।

अब वे अपने हृदयेश्वरके मिलनसे सुप्रसन्न मिलेंगी। सम्भव है इस बार उनके पंकजारुणपाद- पल्लवोंकी एक झलक पासकूँ। इस बार वे वात्सल्य पूर्वक मुझपर दृष्टिपात करेंगी। सम्भव है इस बार मुझे पुनः प्रणाम करनेका अवसर मिल जाय। सम्भव है उनके श्रीमुखसे सुन सकूँ—'तुम भी आये हो ?'

यह ग्रहणका महापर्व मेरे जीवनको धन्य करेगा! मुझे वे मिलेंगे—वे व्रजके लोग।

—卐—

अक्रूर–

अक्रूर नाम मेरा एक विडम्बना ही तो है। व्रजवासियोंके लिए मैं अत्यन्त क्रूर सिद्ध हुआ। अवश्य कंस इसे समझता होगा। वह मेरी भीरुता और लोलुपतासे परिचित था वह जनता था। कि पद-पुरस्कारका लोभ एवं दण्डका भय मुझसे कोई भी दारुण कर्म करा सकता है। तभी तो उसने मुझेही व्रज भेजा और स्पष्ट बतलाकर भेजा कि वह वासुदेव-पुत्रोंको क्यों मथुरा बुलाना चाहता है। परिणाम क्या हुआ, यह दूसरी बात है; किन्तु मैं जानबूझकर उस दारुणके नृशंस षड़यन्त्रका आखेट बनानेको राम एवं कृष्णको लेने चला गया था।

श्रीकृष्णचन्द्र करुणा-वरूणालय हैं। उन्हें किसीके दोष-दुगुण दीखते ही नहीं। अक्रूरकी दुष्टता पर भी उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया और इसे दानाध्यक्ष बनाये रहे। इसे सम्मान देते रहे। अब भी पितृव्य कहते हैं और सम्मानित करते हैं।

संसारमें सब तो ऐसे ही उदार नहीं होते। हम जिसका अनिष्ट करेंगे, वह हमारा अनिष्ट न भी करे तो हमें कोसेगा नहीं ? मैं व्रजके लोगोंका सर्वस्व हरण कर लाया। उनके विषम वियोगका निमित्त बना। उनका सौजन्य, वे मुझे शाप नहीं देते। वे मेरी निष्ठुरता भूल सकते हैं ?

सुना कि व्रजमें गोपबालाओंने मेरे नाममें सुधार कर दिया है। वे मुझे 'क्रूर' कहती हैं। कैसे कहूँ कि उचित नहीं कहतीं ? मैंने उनका अपराध किया है और कोई अवसर नहीं है कि मैं उनसे क्षमा भी माँग सकूँ। उनके सम्मुख जानेका साहस मुझमें नहीं है, यदि मैं सम्बन्धजन्य संकोचका मान न भी करूँ।

मैंने गोपियोंका अपराध किया, गोपकुमारोंका अपराध किया, गोपोंका और व्रजेश्वरका अपराध किया। व्रजेश्वरीका अपराध किया। गायोंका, पशु-पक्षियोंका, सबका ही तो अपराध किया। श्रीकृष्णचन्द्र सबके ही प्राणवल्लभ थे और मैं उन्हें-वहाँसे ले आया—प्रायः सदाके ले आया। उनके सर्वस्वका मैंने हरण किया।

अब कुरुक्षेत्रमें वे मिलेंगे ? मैं मिलूँ तो भोले, विनम्र गोप और गोपकुमार मुझे प्रणाम ही करेंगे; किन्तु उनकी प्रणति झेल लेने योग्य अक्रूर है ? इतनी निर्लज्जता ही पावेगी मुझसे ? इससे बचनेका भी मुझे कोई मार्ग सूझता ही नहीं है।

गोपियाँ, व्रजेश्वरी यशोदा, गोपकुमारीयाँ नहीं मिलेंगी। वे संकोचशील हैं। सब स्वयं वे आ नहीं सकती और श्रीव्रजराजका आतिथ्य ग्रहण करने अक्रूर वहाँ जाय, यह अवश्यक नहीं हैं। यह दानाध्यक्ष हैं, स्वयं वहुत दानके लिए प्रसिद्ध है। तीर्थमें किसीका आतिथ्य ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये, यह दम्भ अक्रूरकी रक्षा कर लेगा। संकोचशील व्रजराज अधिक आग्रह नहीं करेंगे।

दम्भ ही तो—हृदय तो पुकारकर कहता कि व्रजराज नन्दरायका अन्न आत्माराम, आप्तकाम महामुनीन्द्रोंको पावन करता हैं। उनका उच्छिष्ट सुरोंको भी सुलभ हो सके तो वे अपना अहोभाग्य मानें। तब तीर्थमें परान्न त्याज्य है, यह तर्क दम्भके अतिक्ति क्या होगा ? लेकिन अक्रूरके समीप इस दाम्भका आश्रम लेनेके अतिरिक्त उपाय भी क्या हैं। यह भी व्रजेश्वरीके, गोपनारियोंके, गोपकिशोरियोंके सम्मुख क्या मुख लेकर जायेगा ? यह उनका अपराधी उनकी प्रणित लेने जा सकेगा ?

श्रीनन्दरायके शिविरमें जानेसे बचा जा सकता है; किन्तु ये कृष्णचन्द्र, श्रीसंकर्षण और वसुदेवजी क्या व्रजराजको दूर रहने देगे। यह उन्हें अपने शिविरमें नहीं ले आवेंगे ? व्रज और द्वारिकाका शिविर दो रह सकेगा ?

व्रजका शिविर भी द्वारिकाके शिविरमें आ जाय तो भी श्री अक्रूरको अन्तःपुरमें नहीं जाना है। गोपियोंसे और श्रीव्रजेश्वरीसे इसका साक्षात्कार नहीं होगा। वे संकोचके कारण नहीं आवेगी और मुझमें उनके समीप जानेका साहस नहीं है।

गोप मिलेंगे, गोपकुमार मिलेंगे। सम्भव है न भी मिलें। अक्रूर अपनेको वहाँ व्यस्त रखेगा। यह द्वारिकाका दानाध्यक्ष है। श्रीकृष्णचन्द्र, भगवान संङ्कर्षण तथा इनके कुमार उस तीर्थस्थलीमें अपार दान करेंगे। वे दानका सङ्कल्प ही तो करेंगे। उनके दानके संकल्पको स्वरूप देना दानाध्यक्षका कर्तव्य है। यह कर्तव्य अक्रूरको अत्यन्त व्यस्त रखेगा। जिसे व्यस्त बने रहना हैं, उसे कही कार्यका अभाव होता है ?

उस व्यस्ततामें गोप एवं गोपकुमार इसपर दया कर सकते हैं। मिलने आ ही गये तो उनसे अपनी व्यस्तताका नाम लेकर सविनय क्षमा माँगली जा सकती है वे भी केवल मिलनेकी ओपचाकिता ही पूरी कर सकेंगे। उन सरल हृदय गोपोंको औपचारिकता अत्यन्त अप्रिम है। वे अक्रूरकी व्यस्तता देखकर दूरसे भी चले जा सकते हैं।

सबसे बचा जा सकता है; किन्तु व्रजराज श्रीनन्दरायसे मिलूँ—सम्भव कैसे ?

वे आवेंगे। मैं उनके समीप न भी जाउँ तो भी वे तो आवेंगे ही। वे पहिले ढ़ूढ़ेंगे-भाई अक्रूरजी कहाँ हैं?'

वे अतिशम विनम्र, अत्यन्त स्नेहशील, सर्वथा सरल—उनके मनमें भी नहीं आया होगा कभी कि अक्रूरने उनका कोई अपराध किया हैं; किन्तु अपना अपराध अक्रूरको कैसे विस्मृत हो ? अपना दोष दूसरे भले क्षमा करदें, अपना अन्तर्यामी क्षमा नहीं किया करता और अक्रूरके समीप उस अपराधका कोई भी परिमार्जन कहाँ है। इसे दैवने क्षमा-याचनाके योग्य भी नहीं रखा हैं।

मेरी विडम्बना—मैं द्वारिकाका दानाध्यक्ष हूँ। कंसने भी दूसरा दानाध्यक्ष नहीं बनाया। श्री द्वारिकाधीश भाई, पिता, पुत्र, परिवारके साथ ग्रहण स्नान करने पधार रहें है। ग्रहणके विशेष कृत्य ही हैं। स्नान, जप एवं दान ऐसा अवसर, ऐसा पावन क्षेत्र, इस समय द्वारिकाका दानाध्यक्ष अनुपस्थित रहनेकी याचना करें, किसी प्रकार यह उचित है ? इसे तो जाना ही पड़ेगा इसका कर्तव्य इसे विवश कर रहा है।

अक्रूरको कुरूक्षेत्र जाना है, जायगा और वहाँ व्रजके लोग आवेंगे। आवेंगे व्रजराज श्रीनन्दराय। वे ढूंढ़ेगे—अवश्य ढूढ़कर मिलेंगे इससे। उनसे क्षमा माँगना भी उन्हें दुःखी करना है। उनकी प्रणति, उनका अङ्कमाला स्वीकार करना है अक्रूरको। कितनी भी लज्जा हो, कैसी भी ग्लानि हो, यह तो करना ही पढ़ेगा। वे मिलेंगे व्रजराज।

—×—

सात्यकि—

अहोभाग्य है यदुवंशियोंका, हमारे अधीश्वर भगवान वासुदेव हैं। इन परात्पर परम-प्रभुका न कोई अपना है, न पराया; किन्तु आश्रितों पर इनकी अनुकम्पा वृष्टि होती ही रहती है। इनकी अनुकम्पाका ही प्रभाव है कि मध्यम पाण्डव धनुधारियोंमें शिरोमणि अर्जुनने मुझे अपना अस्त्र शिष्य स्वीकार कर लिया।

अब इस सूर्यग्रहणके अवसर पर पृथ्वीके सभी प्रतापी नरेश आवेंगे। वहाँ पर्व पर, पुण्य क्षेत्रमें सब स्व-पर पक्षका मिलन होगा। वहाँ तो सब शान्त रहकर सौहार्द्र पूर्वक ही मिलेंगे। सब हमारे इन वनमालीसे मिलने आवेंगे।

इन सर्वसमर्थने मुझे यादव-वाहिनीका प्रधान योधा※ बनाया है तो मुझे भी इनकी सेवाका अधिकारी सिद्ध होना चाहिये। अवसर पड़ने पर किन किनसे सहायता प्राप्त हो सकती है और किन किनकी ओर सतर्क रहना है, उनके बल पराक्रम, उनकी सैन्य शक्ति का परिचय हो जायगा इस अवसर पर। उनके वन्दी, मागध उनके अस्त्रज्ञानका, बलका वर्णन करेंगे। उन्हें प्रत्यक्ष देखकर यह कुछ तो अनुमान हो ही जायगा कि वन्दीजनोंकी अत्युक्तिमें कितना सत्य सम्भव है। एक परिचय भी तो उनका प्रत्यक्ष आवश्यक है।

जरासन्ध शिशुपालादिने मथुरा पर बार बार आक्रमण किया; किन्तु उस समय मैं बालक था। मुझे ही क्यों, मथुराके किसी भी दलनायकको यह भी अवसर नहीं मिला कि नगरसे बाहर आकर परपक्षको देख सके। अग्रजके साथ हमारे भगवान वासुदेवने ही उनका दमन किया। साथ गये सामान्य सैनिकोंको भी इन्होंने तटस्थ दर्शकही बनाये रखा।

एक अवसर मिला था जब ये वासुदेव कुण्डिनपुर महारानी रुक्मिणीको ले आने

※श्रीकृष्णचन्द्रने उस समयकी प्रचलित सैन्य सञ्चालन पद्धतिमें यह मौलिक ढंग अपनाया था। प्रधान सेनापतिसे पृथक और उससे अधिक योग्य प्रधान योधा रखा। महाभारत युद्धमें कौरव पक्षमें प्रधान सेनापति मुख्य था; किन्तु पाण्डव पक्षमें अर्जुन मुख्य थे, जो प्रधान योद्धा थे। पाण्डव पक्षके प्रधान सेनापति तो राजा द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न थे।

पधारे थे; लेकिन वह भी कोई अवसर था। विपक्ष पहिलेसे ही सशंक था। हम लोग उनके शिविरोंमें जा नहीं सकते थे और वे हमारे यहाँ क्यों आते।

युद्ध हुआ। मुझे पहिली बार पता लगा कि हमारे संकर्षण प्रभु क्यों महाप्रलयके अधीश्वर माने जाते हैं। इनके तेजकी तुलना नहीं है। हम सबको कठिनाईसे शर-सन्धानका समय मिला। लगा कि विपक्ष तो इनकी हुँकारसे और महाज्वाला मण्डित इनके मुशलसे ही भयभीत होकर भाग गया। उस समय ये अनन्त असाधारण आवेशमें थे। अन्यथा जरासन्धको कायर माननेवाला मूर्ख होगा। इन अकल्पनीय पराक्रमके कारण शत्रु पक्षकी शक्ति समझनेका कोई अवसर उस समय हमारे लिए नहीं था।

सब नरेश कुरुक्षेत्रमें सौम्यभावसे मिलेंगे। अवश्य वे अपने वैभवका प्रदर्शन तो करेंगे ही। उनसे मिलनेका, उनको समझनेका, उनसे परिचित हो जानेका अवसर मिलेगा। यादव वाहिनीके प्रधान योधाके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

यादव वाहिनीका प्रधान योधा सात्यकि—अनेक बार यह सोचकर ही हँसी आती है मुझे। हमारे अधीश्वर लीलामय हैं। इनकी नरलीला चल रही है। इस लीला-का ही अंश है कि एक यादव वाहिनी है [अवश्य पृथ्वीके नरेशोंके लिए दुर्धर्ष है] उसका एक प्रधान सेनापति है, एक प्रधान योधा है। इन सबकी उसे आवश्यकता है जिसके भ्रूभङ्गसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका उद्भव या विनाश होता है? यहीं इसी अवतारमें जिसने केवल अग्रजके साथ गोमन्तक पर्वतके युद्धमें * मगधराजकी तेइस अक्षौहिणी सेनाको समर-शैया दे दिया और सब सहायकोंके साथका पुरुषके समान जरासन्धको भागने पर विवश किया, उसे सेना या प्रधान योधाकी अपेक्षा है?

हमारे ये अधीश्वर लीलामय हैं। लीलापूर्वक ही इन्होंने मुझे यादव वाहिनीका प्रधान योधा बनाया है। लीलापूर्वक ही मुझे अवसर दे रहे हैं कि मैं स्व-परपक्षसे भली प्रकार परिचित हो जाऊँ। मुझे इनकी सेवाके योग्य बनना है। मैं इनके इंगितका अनुवर्तन कर सकूँ, यही मेरी जन्मकी चरम सार्थकता है।

कुरुक्षेत्रमें तो पाण्डव भी आवेंगे ही। मैं अपने अस्त्र-शिक्षा गुरु गाण्डीवधन्वाके पदोंमें प्रणत हो सकूँगा। कितने उदार हैं वे। इन भगवान वासुदेवके श्रीचरणोंमें उनके जैसी प्रीति, वैसी निष्ठा कहीं सम्भव है, मैं अनुमान भी नहीं कर सकता।

---

*श्री द्वारिकाधीशमें विस्तारपूर्वक इस युद्धका वर्णन गया है।

सुना है कि वे शयन करते हैं तो उनके रोम रोम से 'कृष्ण' नामकी ध्वनि निकलती रहती है।

भगवान वासुदेवके उन परम सुहृद सखाने इन प्रभुके नाते सदा मुझे अनुजका स्नेह-सम्मान दिया। अनेक बार मुझे प्रेम-भर्त्सना दी— 'सात्यकि! तुम समझते क्यों नहीं कि तुम मुझे नकुल, सहदेवके समान ही प्रिय हो। तुम इतना आदर देकर मुझे पराया क्यों बनाते हो?'

वे मेरे परमोदार अस्त्र-शिक्षा-गुरु मिलेंगे। उनके धर्ममूर्ति अग्रज और पराक्रमके साकार विग्रह भीमसेन मिलेंगे। मैंने जब पाण्डव महाराज्ञी देवी द्रौपदीके चरणोंमें प्रणाम किया, मुझे उपालम्भ ही मिला है—'सात्यकि! तुम सुभद्राको भी प्रणाम करते होगे? वह मेरी बहिन है और मैं भी वयमें तुमसे छोटी हूँ।'

'देवि! गाण्डीवधारी मेरे गुरु हैं।' मेरी यह बात कभी गम्भीरतासे सुनी नहीं गयी। फिर भी मुझे अपार वात्सल्य मिला है उनसे।

मेरे वे अस्त्र-गुरु, उनका आलौकिक प्रेम इन वासुदेवमें; किन्तु देवर्षि नारद, भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास ब्रजके लोगोंके प्रेमका वर्णन करते थकते नहीं। 'ब्रजके प्रेमकी कहीं समता नहीं। यह उनकी बात मेरी समझमें कभी नहीं आयी। महाभाग मध्यम पाण्डवकी श्रीकृष्ण प्रीतिसे अधिक तो क्या, उनके समान प्रीति भी क्या कहीं शक्य है? मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता।

मैंने बड़े संकोचसे अपने इन प्रेमधन अधीश्वरसे ही पूछा था। मुझपर इनकी अतुलनीय कृपा है। तनिक हँसे और तत्काल गम्भीर हो गये—'सात्यकि! अर्जुन मेरा हृदय है और मैं अर्जुनकी आत्मा हूँ। अपने अस्त्र-गुरुमें तुम्हारी श्रद्धा उचित है। अर्जुनकी प्रीतिने मुझे उसका वशवर्ती बना दिया है।'

'ब्रजजनोंका प्रेम?' मैंने संकोच पूर्वक पूछा।

'उसे मैं भी अतर्क्य मानता हूँ। मैं भी उसका आकलन करनेमें असमर्थ हूं।' मेरे स्वामीका स्वर गद्गद् हो गया। लगा कि बहुत कठिनाईसे बोल रहे हैं—'उसी प्रेमसे मैं स्वरूप पाता हूं। उस अनीन्द्रिय अलौकिक प्रेमने मेरे इस शरीरका अणु-अणु निर्मित किया है। उस प्रेमसे पृथक कृष्ण कुछ नहीं है।

बात कुछ भी मेरी समझमें नहीं आयी; किन्तु यह समझ गया कि बात मेरी समझकी सीमासे परे की है। अब अवसर आया है, वे ब्रजजन मिलेंगे। मिलेंगे इन नवघन सुन्दरके सखा, इनके पालक श्रीब्रजराज तथा उनके गोप। भगवान वासुदेवके सेवक सात्यकिको उनसे स्नेह ही प्राप्त होना है। इससे वे निःसंकोच मिलेंगे।

प्रेम ऐसा तत्व तो नहीं है कि किसीसे मिलने पर उसकी प्रीतिका अनुमान लगाया जा सके। सात्यकिमें अपने इन स्वामीके श्रीचरणोंमें थोड़ी भी प्रीति होती तो यह सम्भव था कि अन्यकी प्रीतिका अनुमान कर पाता; किन्तु प्रेमके धनी ही तो प्रेमकी शिक्षा देंगे। सात्यकि पर वे अनुग्रह नहीं करेंगे? मैं श्री ब्रजराजके, गोपोंके, गोपकुमारोंके चरण पकड़ूँगा। वे मिलेंगे—अवश्य भुजा फैलाकर मुझसे वे मिलेंगे।



दारुक—

अपनेको मैं बहुत दुर्बल अनुभव करता हूँ। इस अर्थमें नहीं कि मेरा शरीर दुर्बल है अथवा मेरी स्नायविक क्षमता कम है। सारथीको श्रमशील होनेके साथ सहनशील होना पड़ता है। युद्धमें सबसे अधिक आघात लगते हैं उस पर और तब भी उसे एक क्षणको भी अस्वस्थ, व्यग्र नहीं होना चाहिये। आवश्यक प्रत्युत्पन्न-मति होनी चाहिये उसमें। उसके रथ-चालन- कौशल पर, त्वरित निर्णय पर तथा आघात सहन क्षमता पर रथीकी विजय बहुत कुछ निर्भर करती है।

दिनभरके अथक श्रमके पश्चात् भी सारथी न युद्ध क्षेत्रमें विश्राम पाता, न यात्रामें। अपने अश्वोंकी परिचर्या उसका आवश्यक कर्तव्य है। इसके बिना उसे विश्राम कैसा ? अश्व उसके प्राण हैं। अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय अश्व जिसे न हों, वह सारथी होने योग्य नहीं।

मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं है। मैं भगवान वासुदेवका सारथी हूँ। मुझे उनका दिव्यरथ सञ्चालनको प्राप्त है। सृष्टिका कोई अमोघ दिव्यास्त्र न मेरे रथको नष्ट कर सकता, न मेरे रथकी गरुड़-चिह्नांकित ध्वजाको काट सकता।

मेरे रथके चारों अश्व—शैब्य,सुग्रीव, मेघपुष्प,—बलाहक-अमायिक अमर अश्व हैं। उन्हें कोई मार नहीं सकता। उनके शरीरमें व्रण नहीं होते। ये श्रान्त नहीं होते और जैसे मेरी इच्छा समझते हों, ऐसे मेरे संकेत पर चलते हैं। इनकी गति—इनके भरोसे ही दारुक गर्व करता है कि मातलि सुरपतिका रथ लेकर आजाय तो भी गरुड़ध्वज रथकी धूलि तक स्पर्श नहीं कर सकता।

गरुड़ध्वज रथका सारथि दारुक शरीरकी दृष्टि से दुर्बल कैसे होगा ? दारुक आधे क्षणको भी कभी प्रमत्त हुआ हो, यह अपवाद इस पर किसीने नहीं लगाया। दारुककी इन्द्रियाँ सम्पूर्ण सशक्त हैं। दारुकके शरीरमें अक्षय शक्ति है; क्योंकि दारुक शक्तिसिन्धुका सारथि, उनका सेवक है।

अपनेको मैं बहुत दुर्बल अनुभव करता हूँ, यह बात इन सब बातोंके होते हुए भी सत्य है। मेरी दुर्बलता आप समझ सकेंगे ?

मेरे स्वामीका श्रीविग्रह पाञ्च भौतिक नहीं है। ये विशुद्ध आनन्दघन हैं। इनकी मनः कल्पित मूर्ति भी मानसमें आजाती है तो अच्छे संयमी, तपस्वी मुनिगणोंका

मन भी विक्षुब्ध होजाता है । उनकी भी नेत्रोंमें अश्रु, शरीरमें स्वेद तथा कम्प प्रारम्भ हो जाता है । अनेक मूर्छित हो जाते हैं इन मेघश्यामके मानसिक प्रत्यक्ष से ही ।

मुझे अपने इन स्वामीको करावलम्ब देकर रथमें बैठाना पड़ता है । यदि ऐसे अवसर पर दारुक स्थिर न रहे, इसको मूर्छा आने लगे, इसके शरीरमें कम्प हो उठे, इसके करमें स्वेद ही आजाय तो यह सेवाके योग्य रहेगा ? इसे इन सर्वेश्वरेश्वरकी सेवा उपलब्ध होती रहेगी ?

सारथिको अपने रथीके आगे बैठना पड़ता है । सृष्टिकी सम्पूर्ण माताओंका वात्सल्य मिलकर भी मेरे स्वामीके अनन्त कृपार्णवकी एक बिन्दुकी तुलना नहीं कर पाता । ये अपने इस सारथिसे असीम स्नेह करते हैं । अनेक बार पुकारते है—'दारुक :' अनेक बार अपना कर रख देते हैं मेरे कन्धे पर कुछ कहते समय अथवा कुछ कहनेसे पूर्व । इनका कर स्पर्श, इनके श्रीमुखसे अपने नामका श्रवण—मुझे एक ऋषि या मुनि बतला दीजिये जो ऐसे अवसर पर अपनेको सावधन रख सके । जो इनका कर स्पर्श पाकर आनन्दाधिक्यमें संज्ञाशून्य न हो जाय ।

दारुकको ऐसे अवसर पर अधिक सचेत, अधिक सावधान रहना चाहिए । इसके स्वामी उस समय कोई अधिक आवश्यक आदेश देने-वाले होते हैं । दारुक विह्वल हो जाय, विचलित हो जाय तो सेवाके योग्य रह जायगा ?

मेरे स्वामीके दर्शन करने स्वयं सृष्टिकर्ता भी चाहे जब आ सकते हैं । भगवान गङ्गाधर भगवती उमाके साथ पधार सकते हैं । दूसरे लोकपाल या सुरेन्द्रका आना सामान्य बात है । देवर्षि नारद द्वारिका आते ही रहते हैं । सनकादि कुमार अथवा अन्य कोई प्रजापति, ऋषिमुनि पधारें, दारुक पर प्रभाव नहीं पड़ेगा । मैं आश्वस्त हूँ कि मुझसे सेवामें प्रमाद नहीं होगा ।

मुझे अपने इन वनमालीकी सेवा ही चाहिये । इनकी सेवामें त्रुटि आवे, ऐसी कोई स्थिति, कोई समाधि, कोई प्रीति चाहे वह कितनी भी महान हो, मुझे नहीं चाहिये ।

अब इस ग्रहण यात्राके अवसर पर मैं अपनेको बहुत दुर्बल अनुभव करने लगा हूँ । मेरे स्वामी सर्व समर्थ हैं , सर्वज्ञ हैं । वे अपने इस सेवकके प्राणोंकी पुकार नहीं सुनेंगे ? वे शक्ति नहीं देंगे तो दारुक टिक नहीं सकेगा । इसमें स्थिर

रहनेकी शक्ति नहीं है। यह अभी से अपनेको प्रायः असमर्थ पा रहा है। अन्ततः क्या यह सेवाके अयोग्य ही सिद्ध होगा ? मेरे करुणावरुणालय नाथ ! अपने इस दास पर अनुग्रह करो।

मैं व्रज नहीं गया कभी। मैंने व्रजके लोगोंका दर्शन नहीं किया; किन्तु उनकी चर्चा बार-बार सुनता हूं। देवर्षि तो हैं ही उनके स्तावक, मेरे स्वामी स्वयं वन्दीकी भाँति ब्रजका गुणगान करते हैं। ब्रजकी—ब्रजजनकी खर्चा आने पर इन मयूर मुकुटीको अपनी कोई सुधि-बुधि नहीं रहती।

भावमय, भक्तवत्सल हैं मेरे नाथ और देवर्षि भी भक्तगुणगान प्रिय हैं; किन्तु भगवान संकर्षण तो कहीं अत्युक्ति करनेके अभ्यासी नहीं हैं। वे हलायुध जब ब्रजसे लौटे थे, सृष्टिमें जैसे दूसरा कोई चर्चा योग्य विषय ही उन्हें नहीं जान पड़ता था। अब भी ब्रजकी चर्चा आने पर वे अपने अनुज तककी पुकार नहीं सुन पाते।

कुरुक्षेत्रमें ब्रजके लोग आवेंगे। सम्भव है, स्वामी इस सारथिको ही उनके शिविर जानेकी आज्ञा करें। सम्भव है, मुझे ब्रजके शिविरसे किसीको इस गरुड़ध्वज रथमें ले आना पड़े। श्रीब्रजराजको, माता यशोदाको, अपने स्वामीके सखाओंको, इनकी प्राणप्रिया सखियोंको—किसीको भी ! कभी भी सारथिको तो किसीकी सेवामें नियुक्त किया जा सकता है। किसीको पहुँचाने या ले आनेकी सेवा कभी दी जा सकती है।

जिनका स्मरण हमारे हलधर देव तकको भाव-विह्वल कर देता है, उनका सान्निध्य दारुकको सावधान रहने देगा ? मेरे रथमें वे पीछे बैठेंगे, कभी मेरे स्कन्ध पर कर रख दे सकते हैं कोई आदेश देते समय। ब्रजके वे भोले लोग—उनमें कहाँ सेवकसे दूर रहनेका दम्भ हो सकता है। तब दारुक सावधान रह सकेगा ?

मेरे दयामय स्वामी ! मुझमें शक्ति दो कि मैं उनकी सेवाके योग्य सिद्ध हो सकूँ। वे ब्रजके लोग तो मिलेंगे ही !



श्रीगर्गाचार्य—

वसुदेवजीकी प्रेरणासे मैं गोकुल गया था। अपने यजमानके पुत्रोंका नामकरण करने ही गया था। कंसका आतंक—उस क्रूरके अत्याचारोंके भयसे मुझे अपनी माया गुप्त रखनी थी। गोकुल जाकर भी मैं महर्षि शाण्डिल्यसे नहीं मिल सका। नन्द व्रजके गोपोंको नहीं देख सका। व्रजसे परिचयका अवसर ही कहाँ था मेरे समीप।

देवर्षि नारद व्रजवासियोंके लोकोत्तर प्रेमकी प्रशंसा करते थकते नहीं हैं। भगवान गङ्गाधर तक व्रज पधारे थे, यह जानता हूँ और सृष्टिकर्ता एवं सुरेन्द्रादि तो उस दिव्य भूमिकी रजपानेके भी अधिकारी कठिनाईसे माने गये। मैं उसी व्रजमें जाकर भी नहीं गया। मैं नन्दगोष्ठसे ही तो लौट आया था। मुझे कमसे कम महर्षि शाण्डिल्यसे तो मिल लेना था। भक्तिशास्त्रके उन परमाचार्यसे जिनकी तपोभूमिकी पावनता भंग करनेमें युगाधिदेव भी असमर्थ रहते हैं।

गायें चरने चली गयी थीं। कोई सेवक तक नहीं थे गोष्ठमें। व्रजराज श्रीनन्दराय, यशोदाजी और रोहिणी देवी—इन तीनसे ही तो मैं मिल सका हूँ। उतनेमें मैंने व्रजराज तथा श्रीव्रजेश्वरीकी श्रद्धा देखी। वह श्रद्धा अन्यत्र दुर्लभ है। उसे केवल अनुभव किया जा सकता है। लगता था कि वे भुवनवन्दनीय दम्पति केवल श्रद्धा निर्मित हैं।

अब कुरूक्षेत्रमें वे पुनः मिलेंगे। मिलेगा उनका गोप-समाज।अब इसबार वे पूरे उत्साहसे मिलेंगे। अब तो गर्ग उनके मयूरमुकटी कुमारका कुल-पुरोहित है। इसकी भली प्रकार अर्चा करेंगे वे। इसका सत्कार करेंगे।

यह मर्यादाकी ही विडम्बना है कि मुझे सर्वेश्वर श्रीकृष्णसे, भगवान संकर्षणसे, उनके पूज्य परिजनोंसे प्रणति स्वीकार करनी पड़ती है। उन्हें आशीर्वाद देना पड़ता है। जिनकी चरण-रज एवं कृपाकी कामना सृष्टिकर्ता तथा भगवान नीलकण्ठ भी करते हैं, उनसे मुझे अपने पैर प्रक्षालित कराने पड़ते हैं।

वैसे भी तीर्थस्थलमें पूजासेवा स्वीकार करना, दानलेना उत्तम नहीं है। और व्रजराजसे यह सब स्वीकार करना—व्रजकी रज ब्रह्मपुत्र तक अपने मस्तक पर धारण करते हैं, मुझे तीर्थस्थानमें श्रीनन्दरायकी अर्चा स्वीकार करनी पड़ेगी। उसे स्वीकार तो करना ही पड़ेगा। उनकी श्रद्धाकी अवज्ञा सोचना भी अपराध है।

महर्षि शाण्डिल्य मेरी कठिनाई, मेरा संकोच समझ सकते है; किन्तु वे मेरी सहायता कैसे कर सकते हैं ? उन तपोधनकी स्थिति भी मुझ जैसी ही है । जानता हूँ—वे कहेंगे—'आचार्य ! सृष्ठिमें जो गौरव स्वयं सृष्टिकर्ताको अप्राप्य है, वह प्राप्त हो रहा है आपको । आप संकोच क्यों करते हैं ? अब ऐसा कुछ नहीं है कहीं जो आपको साधन करके प्राप्त करना पड़े । मेरे यजमान श्रीनन्दराय, जिनका पादोदक अपने सिर पर चढ़ावेंगे, उन्हें कोई ज्ञान-विज्ञान, साधन-सिद्धि, मोक्षादि दुर्लभ रहेगा ? आपको कुछ अभीष्ठ हो तो मुझसे आप बिना संकोच कह दे सकते हैं । मेरे यजमानसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है । शाण्डिल्य ही उसे सेवामें उपस्थित कर देगा ।'

महर्षि शाण्डिल्य—उन व्रजराजके आचार्यके मनमें कोई संकल्प उठे, देवता-देवराज, लोकपाल या किसी सिद्धिको देवी योगमाया अवसर देंगी उस सेवाका सौभाग्य प्राप्त करनेका अथवा उसकी पूर्तिमें उनसे आधे पलके भी प्रमादकी सम्भावना की जा सकती है ?'

गर्ग युदकुलका—वसुदेवजीका तथा भगवान वसुदेवका पुरोहित है । इसके ही मनमें कोई कामना किसी दुर्भाग्यसे कभी उठ जाय, आदिशक्ति, निखिल सृष्टि नियामिका इसे उसकी पूर्तिके सम्वन्धमें सोचनेका अवसर देंगी ?

प्राणी श्रीकृष्णचन्द्रके चिन्तनसे पूर्णकाम हो जाता है गर्ग तो उनका कुलाचार्य है; किन्तु व्रजपति नन्दरायकी अर्चा, उनका दान प्राप्त करनेका अवसर क्या कोई लोकपाल भी छोड़ सकता हैं ?

कुरुक्षेत्र तीर्थ है । तीर्थमें दान ग्रहण निन्दनीय है और ग्रहण-कालमें दान तो केवल श्वपच, अन्त्यज ग्रहण करते हैं । जानता हूँ कि व्रजपति तथा उनके गोप अत्यन्त श्रद्धालु हैं, परम आस्तिक हैं, वैदिक मर्यादाके प्रतिपालक है; किन्तु वे जब तीर्थ-स्नान करके ग्रहणकालमें दान देनेको उद्यत होंगे, मेरा हृदय पुकार रहा है कि गृहीताओंकी भीड़ लगेगी और उसमें अनयज, श्वपचका वेश धारण करके उपस्थित होने में मेरे आराध्य उमा-महेश्वर तो संकोच करेंगे ही नहीं, धनाधीश कुबेर तथा भगवती लक्ष्मी भी पहुँच जायें तो आश्चर्य नहीं होगा ।

पहुँचनेको तो यह गर्ग भी पहुँच जाय, इसी वेशमें, ऐसे ही पहुँच जाय, लोक एवं श्रुति-शास्त्रकी सब मर्यादा भूलकर पहुँच जाय; किन्तु इसे श्रीकृष्णचन्द्र ऐसा करने देंगे ? श्रीनन्दराय ही इसे उस समय दान देंगे ?

ग्रहणकालमें न सही, उसके पश्चात सही । व्रजपति आवेंगे, ब्राह्मण गर्गको उनके

शिविरमें पहुँचनेमें क्या संकोच है। मैं पहुँच जाऊँगा, सबसे पहिले पता लगाकर पहुँच जाऊँगा वहाँ, इसका सत्कार तो होना है हीं । गोपराज और गोप इसका सत्कार करेंगे ।

वहाँ मिलेंगे महर्षि शाण्डिल्य । मिलेंगी भगवती पूर्णमासी । जगदम्बा भगवती पर्वताधिराज तनया व्रजराजके यहाँ उनकी महिमासे प्रीतिसे प्रसन्न होकर वृद्धा ब्राह्मणीके रूपमें जा बसी है। कोई रूप हो उनका, अपने स्नेह-पालित इस शिशुको वे भूल सकेंगी ? मैं उनकें श्रीचरणोंमें प्रणिपातका परम सौभाग्य प्राप्त करुँगा ।

नित्य अवधूत मधुमङ्गल; वह ब्रजेन्द्र-नन्दनका परिहास प्रिय सखा; किन्तु गर्गसे भी क्या उस महाभागवत, नित्यसिद्धि-योगीश्वरका स्वरूप छिपा है ? लेकिन उन्हें प्रणाम वहाँ नहीं किया जा सकता । वे दयामय कदाचित अङ्कमाल देकर मुझे कृतकृत्य कर दें ।

व्रजराज, श्रीव्रजेश्वरी, गोप-गोपियाँ और ऋषिगण मिलेंगे वहाँ ।



द्वितीय खण्ड

नरपति गण तथा
प्रजा वर्ग

मगधराज जरासन्ध–

वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान हैं, इसमें सन्देहके लिए स्थान नहीं रह गया, जब कुण्डिनपुरमें रूक्मिणी हरणके समय गरूड़ उनकी सहायताको आ गये। भगवान वासुदेव सर्वसमर्थ तो हैं ही। उन दोनों भाईयोंने गोमन्तक पर्वतके युद्धमें मुझे मेरे सब सहायकों तथा सेनाके साथ पराजित किया।

मैंने सत्रह बार उनपर आक्रमण किया। प्रत्येक बार तेइस अक्षौहिणी सेना थी मेरे समीप। प्रत्येक बार उन दोनों भाईयोंने पूरी सेना मार दी। मार देते वे मुसलायुध मुझे भी; किन्तु जब ऐसा समय आया, श्रीकृष्णने अग्रजको अनुरोध करके मुझे मुक्त करा दिया। इतना औदार्य मुझमें आ सकता है? जिन नरेशोंने मेरी दिग्विजयमें बाधा दी, उन्हें पराजित करके मैंने वन्दी बना रखा है। यदि यही अनुदारता होती वासुदेवमें, जरासन्ध मथुराके कारागारमें पड़ा होता।

कालयवन जैसे अजेयको भी यमलोक भेजकर दोनों भाई मेरे सामनेसे अठारवीं बार भागे। वे भगवान वासुदेव हैं, धर्मकी, श्रुतिकी मर्यादा-रक्षाके लिए अवतीर्ण हैं, अतः ब्राह्मणोंका आशीर्वाद लेकर आये मगधराजको पराजय देना उनके अवतार-उद्देश्यके ही विपरीत होता।

मैं यह सब समझता हूँ; किन्तु परिस्थिति विवश हूं। सम्पूर्ण राजन्य- वर्गका अग्रणी है जरासन्ध—जन्मजात अग्रणी। अब तो यही यादव-विरोधी वर्गका आश्रय, आशा रह गया है। अतः मैं कैसे यादवोंसे सन्धि कर सकता हूँ।

श्रीकृष्णने मेरे जामाता कंसको मार दिया। उसके शवको सभामें घसीटते फिरे केश पकड़कर। मेरी पुत्रियोंको विधवा बना दिया! मेरा क्रोध अकारण तो नहीं था। मैंने मथुराको—यदुवंशको ही मिटा देना चाहा—मेरे वशमें होता तो मैं पृथ्वी पर यदुवंशका नाम मिटा चुका होता। मैं एकाकी क्या कर लेता? तेईस अक्षौहिणी सेना जुटायी मैंने, अठारह बार जुटायी। इस उद्योगमें जिन्होंने मेरी सहायताकी, जो अपने सैनिकोंके बार-बार मारे जाने पर, स्वयं बार-वार पराजित आहत होने पर भी मेरा साथ देते रहे, मेरे लिए प्राण देनेको प्रस्तुत उस राजन्य-वर्गको स्वयं श्रीकृष्णका शत्रु बनाकर उन्हें एकाकी छोड़ दे, इतना कापुरुष तो जरासन्ध नहीं है।

मोक्षार्थी वासुदेवकी शरण लें। जरासन्धने धर्मकी शरण ले रखी है और

भगवान होकर भी वासुदेवको धर्मकी शक्तिका सम्मान करना है। अतः जरासन्ध क्यों भय करे उनसे ?

अवश्य प्रतिशोधके आवेशमें मुझसे भूल होती आयी है। अन्ततः यादव सम्राट उग्रसेन मेरे जामाताके पिता हैं। मुझे उनका सम्मान करना चाहिये था। क्या हुआ कि मेरा जामाता जीवित नहीं है, उग्रसेनजीको मगधसे उपहार पानेका स्वत्व है, इसे मैं भूल गया और अब वे मथुरा तो हैं नहीं कि में उन्हें उपहार भेज दूँ। द्वारिका बहुत दूर है, मेरे सेवक भी वहाँ शत्रुके चर माने जा सकते हैं और मेरे समर्थक नरेशोंमें मतिभ्रम उत्पन्न हो सकता है कि मगधराज यादवोंसे भयभीत होकर उन्हें उपहार दे रहा है।

सूर्यग्रहणका महा–पर्व है। ऐसे पुण्य पर्व पर तीर्थ क्षेत्रमें वैर-विरोधकी बात सोचना भी पाप है। तीर्थमें शत्रुके भी पुण्यकर्ममें सहायता ही की जा सकती है। वहाँ किसी को बाधा नहीं दी जा सकती।

कुरुक्षेत्र में यादव महाराज उग्रसेन मिलेंगे ? नहीं भी मिल सकते हैं; किन्तु वसुदेवजी मिलेंगे, उनके भाई मिलेंगे और महाराज उग्रसेन तथा उनके भाई देवकजी-की पुत्रियोके पुत्र मिलेंगे। तीर्थमें मैं क्यों स्मरण करूँ कि उनमें कोई मेरा शत्रु भी है। शत्रुता स्मरण करनेके लिए पूरा जीवन पड़ा है। तीर्थमें, पर्वके अवसर पर अन्तरमें सद्भाव न आया तो तीर्थयात्रा कहाँ सफल हुई। तीर्थमें मैं सद्भाव उत्पन्न करनेवाले अपने सम्बन्धका स्मरण क्यों न करूँ ?

भगवान वासुदेव अवतीर्ण हुए हैं धरा पर। वे ब्रह्मण्यदेव हैं। जरासन्ध भले मोक्षमार्गी न हो, ब्राह्मणों का भक्त कहलानेमें अपना गौरव मानता है। वासुदेवका सत्कार इसका सौभाग्य नहीं है ? लेकिन दैवने इसे उनका शत्रु—घोर शत्रु बना दिया। वे सर्वज्ञ हैं—जरासन्धकी अब एक ही कामना है, उनका दर्शन करते देह त्याग। अविदित होगी यह कामना उनसे ? कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थमें, सूर्य ग्रहणके पावन पर्वपर सुयोग है कि मगधराज उनका सत्कार कर सके। अपने जामाताके भागिनेयका सत्कार करनेका स्वत्व है इसे। मैं सत्कार करूँगा। वसुदेवजीका, वासुदेवका, उनके सम्पूर्ण समाजका सत्कार करूँगा। मुझे शत्रु मानकर वे मेरे उपहार अस्वीकार कर देंगे ? तीर्थमें भी वे द्वेषके कलुषको प्रश्रम देंगे ? ऐसा सम्भव नहीं है और वे वासुदेव मेरी आन्तरिक कामनाको वैसी ही मूक स्वीकृति नहीं देंगे ? मैं सत्कार करूँगा उनका। वे मिलेंगे इस अवसर पर।

—✲—

शिशुपाल----

अपने पालक, अपने पितृतुल्य परम सम्मान्य महाराजधिराज मगधराज जरासन्ध-की इच्छाका मैं अतिक्रम नहीं कर सकता। मैं उनका प्रधान सेनापति हूं, यह गौरव उन्होंने मुझे दिया है। अन्यथा उन अमित विक्रमको किसीकी सहायता तो अपेक्षित नहीं है। वे कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं ग्रहण महापर्व पर स्नानके लिए। यह कोई युद्धावसर तो है नहीं कि सेनापतिका साथ जाना आवश्यक हो; किन्तु स्नेहवश उन्होंने मुझे साथ चलनेको कहा है, अतः उनका साथ तो देना ही है।

कुरुक्षेत्र जाने पर वे मिलेंगे—वे द्वारिकाके लोग। वे मेरे सम्बन्धी भी और शत्रु भी। मैं मातुल वसुदेवजीका सम्मान कर लेता, संकर्षण मेरे श्रद्धेय हैं; किन्तु कृष्ण—कृष्णको मैं किसी प्रकार सह नहीं पाता। कृष्ण तो मेरा जन्मजात शत्रु है।

माता-पिता कहते हैं कि मैं उत्पन्न हुआ तो चतुर्भुज और त्रिनयन था। कृष्ण केवल चतुर्भुज होनेसे वासदेव बन गया है, मैं तो चतुर्भुजके साथ त्रिनेत्र भी था। अर्थात् मैं साक्षात् महेश्वरका अवतार हूं, इस सत्यको कृष्णने कभी स्वीकार ही नहीं किया।

माता कहती हैं कि उन्होंने जब मुझे कृष्णकी क्रोड़ीमें रखा, मेरी दो भुजाएं और तीसरा नेत्र लुप्त हो गया। कृष्ण चतुर्भुज है, उससे मेरा चतुर्भुज होना सहन नहीं हुआ। उसीने मेरी दो भुजाएं और एक नेत्र किसी कौशलसे लुप्त किया। फलतः शिशुपाल सामान्य मनुष्य बन गया।

मैं उसकी बुआका पुत्र था। आयुमें बहुत छोटा था उससे। वह मुझे त्रिनेत्र चतुर्बाहु रहने देता तो इसमें उसका गौरव नहीं था? वह महेश्वर घोषित करके मेरी वन्दना कर लेता तो मैं उसे वासुदेव--नारायण कहकर महिमान्वित नहीं करता? लेकिन उसने मुझे यह गौरव नहीं दिया। मुझे सामान्य मानव बननेको बिवश किया तो वह विशिष्ठ है, यह मैं क्यों मानलूं।

मेरा विवाह निश्चित हो गया था। महाराज भीष्मक मुझे अपनी कन्या देनेको प्रस्तुत थे। उनके ज्येष्ठ कुमार रुक्मी तो अब भी मेरे मित्र हैं। पिता बारात सजाकर कुण्डिनपुर गये थे। वह अनिमन्त्रित द्वारिकासे आया। अपने छोटे भाईकी होने वाली पत्नीका हरण करते उसे लज्जा नहीं आयी।

मेरा, पिताका, महाराज भीष्मकका, राजकुमार रुक्मीका और मगधरज जरासन्धका, मेरे साथ गये सभी नरेशोंका कितना अपमान किया उसने रुक्मिणका हरण करके। मैं उसे किस प्रकार क्षमा कर सकता हूँ ?

मैं गालियाँ देता हूँ, उसे धिक्कारता हूँ। उसकी निन्दा करता हूँ। प्रतिदिन करता हूँ। उसके परोक्षमें करता हूँ और उसके सम्मुख करूँगा। मैं उससे कहाँ डरता हूँ। मैं उससे दुर्बल नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण राजन्य वर्गके मध्य उसका अपमान करूँगा और उसे तथा उसके सहायकोंको देख लूँगा। यह तो मेरा जीवनव्रत है। इसे मैं छोड़ नहीं सकता। किसी प्रकार इसे मैं छोड़ नहीं सकता। कृष्णसे प्रतिशोध मुझे लेना ही है।

मगधराज जरासन्ध मेरे पितृतुल्य हैं। अमित विक्रम होनेके साथ विशाल-बुद्धि हैं। परमोदार हैं। धर्मात्मा हैं। सबसे बड़ी बात यह कि कृष्णके सहज शत्रु है। इसलिए मैं हमका सम्मान करता हूँ।

अब ये कहते हैं ओर मैं स्वयं भी समझता हूँ कि तीर्थमें मुझे संयमित रहना चाहिये। वहाँ किसीसे भी विवाद करना, किसीसे संघर्ष करना, किसीको अपशब्द कहना नन्दनीय है। इससे भारी पाप होता है। ऐसा कुछ करनेसे अपने स्वजन, मित्र समर्थक भी बिरोधी बन जायेंगे। कोई ऋषि-मुनि तीर्थ मर्यादा भङ्ग करनेपर शाप भी दे सकते हैं।

कृष्ण वहाँ सहनशींल बननेका दम्भ करके सबका समर्थन एवं सहानुभूति प्राप्त कर लेगा। इससे उसका यश तथा समर्थन बढ़ेगा। अतः तीर्थमें मुझे अत्यन्त शान्त, सहनशील रहना चाहिये।

यह सब मैं समझता हूँ, किन्तु मेरी विवशता है कि मैं कृष्ण को देखकर अपनेको संयत नहीं रख सकता। उसकी प्रशंसा मुझसे सुनी नहीं जायगी। उसकी प्रतिष्ठा मुझसे देखी नहीं जायगी।

वह मगधराजके शिविरमें तो आवेगा नहीं। मेरे पिताके शिविरमें अपनी बुआसे मिलनेका बहाना बनाकर आ सकता है। वह मुझे चिढ़ाने का अवसर नहीं छोड़ता। मैं मगधराजके शिविरमें ही रहूंगा।

कुरुक्षेत्र जाकर भी यह कैसी विडम्बना है कि मुझे मगधराजके शिविरमें अपनेको एक वन्दीके समान बनाये रहना होगा; क्योंकि उससे निकलते ही वह कहीं मिल सकता है और मैं उसे सहन नहीं कर सकता।

दन्तवक्र—

अपनी कुण्ठा मैं समझता हूँ। मेरे दाँत टेढ़े हैं, मेरा शरीर विशाल होनेके साथ मेरी आकृति कठोर है। मैं कुरुप हूँ, यह मेरे भीतरकी हीन भावना मुझे सुन्दर लोगोंसे घृणा करनेको उत्तेजित करती है। जी करता है कि संसारके सब सुन्दर लोगोंको नष्ट कर दूँ।

मेरी इस कुण्ठाने मुझे चिड़चिडा, रुक्ष बना दिया है। मेरे स्वरूप एवं स्वभावके कारण अनेक लोग मुझे राक्षस कहने लगे हैं। मैं कहीं पूर्वजन्मका राक्षस ही तो नहीं हूँ? मुझे राक्षस भले लगते हैं। राक्षसोंसे और उनके जैसे स्वभाव वालोंसे मेरी मैत्री है।

त्रिभुवन सुन्दर हैं श्रीकृष्ण और उनके इस सौन्द्रयके कारण ही मेरी उनसे चिढ़ है। उनके शत्रुओंसे मैंने मित्रता करली। वैसे वे मेरे मामाके पुत्र हैं, मेरे भाई। उन्होंने मेरी कोई हानि नहीं की है। उन्होंने कोई अवज्ञा मेरी कभी नहीं की।

मगधराज जरासन्धकी सहायता करने मैं गया। जब मैं आक्रान्ता बनकर गया, वे युद्धमें आघात नहीं करते तो पूजा करते मेरी? श्रीकृष्णके शौर्यका मैं प्रशंसक हूँ। हम सब प्रतिपक्षी नरेश जरासन्धके साथ शिशुपालकी सहायता करने कुण्डिनपुर गये थे। सब समझते थे कि श्रीकृष्ण राजा भीष्मककी कन्याका हरण करेंगे। वे ऐसा न करते, तभी आश्चर्यकी बात थी। रुक्मिणीका प्रथम स्वयंवर भीष्मकने रोका ही इसलिए था ✻ कि निश्चित था, उनकी कन्या श्रीकृष्णके गलेमें वरमाला डालेंगी। वे भुवनसुन्दर उपस्थित हों तो कोई कन्या दूसरे किसीके गलेमें जयमाला डाल सकती हैं, यह सोचने वाला मूर्ख होगा।

उस स्वयंवरका स्थगन श्रीकृष्णने शान्तिपूर्वक सहन कर लिया, मथुरा लौट गये, सीमातीत सहनशीलता प्रदर्शितकीं उन्होंने। उनके स्थान पर मैं होता तो उसी समय युद्ध होता। शिशुपालका भ्रम है कि भीष्मककी कन्या उसकी पत्नि हो सकती थी। शिशुपाल मेरी मौसीका पुत्र है। मेरा मित्र है, आयुमें छोटा होनेसे मेरा स्नेहभाजन है; किन्तु सत्य स्वीकार करना चाहिये मुझे। रुक्मिणी श्रीकृष्णका स्वत्व हो गयी थीं। वे उसे न ले गये होतेतो कापुरुष सिद्ध होते। उनमें शौर्य है, इतना महान शौर्यकि हम सबके शास्त्र-सन्नद्ध सावधान रहते ही हमारे मध्यसे वे कन्या-हरण कर ले गये। यह उनका पराक्रमप्रशंसा करने योग्य है।

✻ 'श्रीद्वारकाधीश' में यह पूरी कथा दी गयी है।

मुझे कोई अवसर स्मरण नहीं; जब श्रीकृष्णने मेरा अनादर किया हो । मैं ही आक्रमणकारियोंकी सहायता करने गया तो वे मुझसे युद्ध करनेको, मुझे पराजित करनेको विवश थे । लेकिन मैं अपनी कुण्ठासे विवश हूँ । मेरी कुरूपताकी जन्मसे हीन भावना क्रोधके रूपमें भड़क उठती है उन परमसुन्दरका स्मरण करके । इसीलिए मैं उनके शत्रुओंका पक्षधर हूं । इसीलिए उनका विरोधी हूँ ।

कुरुक्षेत्र इस ग्रहणके अवसर पर युद्धभूमि तो बनाया नहीं जा सकता । उनका समन्तक पञ्चक क्षेत्र परम पावन तीर्थ है । वहाँ दान, सम्मान, सत्कार, नम्रता प्रशंसनीय है ।

श्रीकृष्ण सपरिबार पधारेंगे वहाँ । उनका सम्मान ही कर सकता हूँ मैं । सत्कार तो उन्हें करना है । महाभाग वासुदेवजी अपनी बहिनका, बहनोईका और मुझ भागिनेय का सत्कार ऐसे पुण्यपर्व पर, तीर्थस्थान पाकर न करें, यह सम्भव नहीं हैं । मेरा और छोटे भाई विदूरथका तो श्रीकृष्ण भी सत्कार ही करेंगे वहाँ । यह सत्कार शिशुपालका भी स्वत्व है; किन्तु वह मेरी बात सुनता ही नहीं । वह कुरुक्षेत्रमें अपने पिता दमघोषजीके साथ न रहकर मगधराजके साथ रहना चाहता हैं । मगधराजके पोष्य पुत्र-रूपमें तो उसे यादवकुलसे सम्मान पानेका स्वत्व नहीं है । श्रीकृष्ण अन्नतः मगधराजके जामाताके भागिनेय है । मगधराजको उनका सत्कार करना चाहिये और वे इतने महामनस्वी है कि इस अवसर पर भली प्रकार सत्कार करेंगे ।

दूसरे क्या करेंगे, यह विचार इस समय अनावश्यक है । कुरुक्षेत्रमें इस महापर्व पर राजनीतिको स्थान नहीं है । धर्मकी ध्वजा ऊँची रहनी चाहिये वहाँ । धर्मार्जन करने वहाँ सब जा रहे हैं । अतः द्वारिकाके शिविरमें मुझे जाना है । एक बार तो कमल-लोचन वासुदेवसे भुजा फैलाकर मिल लेना है मुझे । वे मिलेंगे-अवश्य मिलेंगे मुझसे ।



शाल्व—

अवसर तो अच्छा है, मैं इस समय द्वारिका पर आक्रमण कर दूँ ? भगवान पुरारिकी कृपासे मुझे अजेय विमान सौभ प्राप्त हो गया है । दानवेन्द्र मयने परिश्रम करके उसे मायामय तथा दुरासद बना दिया है। विमान आकाशमें, पृथ्वी पर, जलमें सर्वत्र उतर सकता है। पर्वतोंके विषम शिखरों पर भी उतरनेमें उसे बाधा नहीं है। वह दृश्यसे इच्छा करते ही अदृश्य हो सकता है।

कुण्डिनपुरमें जब कृष्णने रुक्मिणीका हरण कर लिया तब मैंने अपने मित्र शिशुपालके सामने सम्पूर्ण राजाओंको सुनाते हुए प्रतिज्ञा की है कि 'पृथ्वीसे यदुवंशका नाम मिटा दूँगा।'

मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए कौशलसे काम लेना होगा। कृष्णके चक्रका कहीं कोई प्रतिकार नहीं है और वे गरुड़ पर बैठ जाँय तो मेरा विमान व्यर्थ हो जायगा। दानव विश्वकर्मा मयने मेरे विमानको चाहे जितना दृढ़ बनया हो, मैं चाहे जितनी मायाका प्रयोग करूँ, गरुड़के वेगकी समता मेरा सौभ नहीं कर सकेगा और न गरुड़ अथवा चक्रका प्रहार सह सकेगा। तब द्वारिका पर आक्रमण मुझे कृष्णकी अनुपस्थितिमें ही करना है। इस समय कृष्ण द्वारिकासे दूर रहेंगे।

मेरी प्रतिज्ञा पृथ्वीको यादव-विहीन बनानेकी है। इस समय अधिकांश यादव भी तो द्वारिकासे बाहर रहेंगे। ऐसे अवसर पर द्वारिकाको मैं ध्वस्त भी कर दूँ—क्या लाभ ? कुछ वृद्ध मारे जायँगे और कृष्णको गरुड़ पर बैठकर मेरे पीछे दौड़नेका अवसर मिल जायगा। सब नरपति शाल्वकी निन्दा करेंगे कि इसने लगभग सुनसान पुरी पर आक्रमण किया। प्रधान यादव योधा बच ही जायँगे और कृष्णको पुनः द्वारिका बसा लेनेमें कठिनाई क्या है ? उन्होंने कुशस्थली—कुश- काँसके अतिवनको ही तो द्वारिकाका दुर्गम दुर्ग बनाया है।

यह अवसर उपयुक्त नहीं है। मुझे ऐसा अवसर देखना होगा जब कृष्ण द्वारिकामें न हों; किन्तु दूसरे सब यादव वहाँ हों। मैं उन सबको सरलता पूर्वक सुरधाम भेज सकता हूँ।

कृष्णका क्या होगा ? सम्मुख समरमें कृष्ण पर विजय पाना शक्य नहीं है। सुना है वे अपने पितासे बहुत अधिक स्नेह करते हैं। क्या कोई ऐसा स्वजन कृष्णका

—★—

नहीं है कि उसका वियोग कृष्णके लिए असह्य हो जाय ! उसके वियोगमें वे स्वयं जीवित रहना न चाहें ? तब उनके उस स्वजनको मार देनेसे मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो सकती है। कृष्ण न रहें तो यदुबंशको शाल्व विनष्ट कर सकता है। वसुदेव कृष्णके ऐसे ही प्रिय हैं, यह सुना तो है। केवल सुनी बात पर विश्वास करके इतना बड़ा पद तो नहीं उठाया जा सकता। मुझे स्वयं इसे देखना होगा।

इस ग्रहणके पर्वकालमें वसुदेव भी पत्नियोंके साथ कुरुक्षेत्र जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें द्वारिका पर आक्रमण व्यर्थ है। उससे अपना कोई प्रयोजन पूरा नहीं होगा। उलटे कृष्णसे प्राण बचाना कठिन हो जायगा।

कृष्ण पितासे कितना प्रेम करते हैं, यह देखनेका कोई अवसर द्वारिकामें मेरे लिए नहीं है। मेरा यादवोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं उनका शत्रु हूँ—यह वे जानते हैं। द्वारिका जानेका कोई बहाना मेरे पास नहीं; किन्तु इस महापर्व पर मैं द्वारिकाके यादव-शिविरके समीप अपना शिविर लगवा लूँ तो कोई कैसे मुझे रोकेगा ? मेरा तीर्थ-पुरोहित यह व्यवस्था तो कर ही दे सकता है।

पर्वके समय तीर्थमें कोई दुर्भावनाकी कल्पना नहीं करेगा। वहाँ प्रतिपक्षियोंके यहाँ भी स्वेच्छापूर्वक जाया जा सकेगा। वे इसे अपना सम्मान मानेंगे और सत्कार करेंगे। यादव शिविरके समीप अपना शिविर हो तो मैं वसुदेवसे, बलरामसे, कृष्णसे सात्यकिसे मिलने, कृष्णके पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदिको कोई स्नेहोपहार देने बार-बार उनके शिविरमें जा सकूँगा। वे मेरे शिविरमें आये तो उनका सत्कार करनेमें मुझे क्या कठिनाई है।

मैं वहाँ समीपसे देख सकूँगा कि कृष्ण किसे अधिक सम्मान देते हैं। वे पिताके लिए कितना त्याग कर सकते हैं। यदुबंशियोंके सचमुच ऐसे कितने समर्थक हैं जो आपत्तिमें उनके लिए युद्ध करने आ सकते हैं, इसका भी अनुमान किया जा सकेगा। अभी तक तो कोई एक भी ऐसा नहीं निकला है। मथुरा पर मगधराजने विशाल आक्रमण किये, बार बार किये; किन्तु यादवोंकी सहायता करने कोई नरेश नहीं आया। क्या अब भी ऐसी ही स्थिति है ?

मेरे अपने पक्षके नरेश भी आवेंगे। उनसे मिलना हो जायगा। वैसे मुझे किसीकी सहायता अपेक्षित नहीं है। मैं किसीसे अपनी योजना पर चर्चा भी नहीं करूँगा। शाल्वको जो कुछ करना है, केवल अपनी सेना लेकर करना है।

वसुदेव, वासुदेव और यादवोंसे एक बार मिल लेना, निकटसे उन्हें देख लेना आवश्यक है। वे सब इस महापर्व पर मिलेंगे।



पौण्ड्रक वासुदेव–

वसुदेव-पुत्र होनेके कारण कृष्ण अपनेको वासुदेव कहता तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी; किन्तु वह तो अपनेको भगवान वासुदेव कहने लगा है।

मनुष्य चतुर्भुज नहीं हुआ करता। कृष्ण भी मथुरा आकर चतुर्भुज बना। मैंने पता लगा लिया है कि जब वह गोपोंके यहाँ गायें चराता था, दो भुजाएँ ही थीं उसके। वह वैसे ही दो कृतिम भुजाएँ लगाकर चतुर्भुज बना होगा, जैसे मैं बना हूँ। यह तो लोगोंमें विभ्रम उत्पन्न करनेका एक कौशल है।

प्रसुप्त कुमुदाकार गदाका नाम कौमोदकी है। मैंने अष्ट धातुकी ऐसी भारी गदा बनवाली है। मेरा खड्ग मुझे आनन्द देता है, वह नन्दक है। मेरा धनुष सींगसे बना शार्ङ्ग है। मेरा चक्र तो कृष्णके चक्रसे अधिक सुन्दर—सुदर्शन है। मैंने उसके अरोंके अतिरिक्ति शेष भाग स्वर्णसे निर्मित कराया है। उसमें अनेक रत्न जटित हैं। मेरे रथकी ध्वजा पर गरुड़का चिह्न है और मेरे सारथिका नाम दारुक है। मैं ही लोकोद्धारके लिए अवतीर्ण भगवान वासुदेव हूँ। कृष्णने मेरा नाम तो ग्रहण कर ही लिया, मेरे सब चिन्ह भी धारण कर लिए। यह सहन नहीं किया जा सकता। लोकमें एक ही भगवान वासुदेव हो सकते हैं। वह वासुदेव मैं हूँ। यह बात सब समझ जायेगे, जब युद्धमें मैं कृष्णको मार दूँगा। कृष्णसे मेरा युद्ध अनिवार्य है।

कृष्णको अपना प्रचार करना बहुत अच्छा आता है। उसने इस प्रचारके द्वारा अधिकांश ऋषि-मुनियोंको भ्रममें डाल दिया है कि वही वासुदेव है। ये मुनि और ऋषि परमार्थ-विषयमें चाहे जितने निपुण हों, लोकतत्वको जानते ही नहीं। जो लोकालयसे पृथक वनोंमें रहते हैं, उन्हें लोककी स्थिति और व्यवहारका कैसे पता हो सकता है। उन्हें बहका लेना कोई कठिन काम नहीं है। कृष्णने उन्हें बहका लिया है और वे उसीको वासुदेव कहते फिरते हैं। जब तक कृष्ण रहेगा, इस वर्गका भ्रम दूर नहीं हो सकता।

कृष्णने मेरे समर्थकोंमें से भी बहुतोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। जरासन्धके जामाताका वह भागिनेय हैं। कुरुराज दुर्योधनकी पुत्री कृष्णके संकेत पर उसके पुत्र साम्बने हरण करली और इस प्रकार वह कौरवोंका सम्बन्धी बन गया।

अब उसके सम्बन्धी उसका प्रचार न भी करें तो भी मेरा समर्थन तो करेंगे नहीं। उनको मौन रहना पड़ता है। केवल शिशुपाल उनमें शूर है। वह खुलकर मेरा समर्थन करता है और कृष्णका जन्मजात विरोधी है।

कृष्णने कालयवनकी अपार सम्पति लूटकर द्वारिकामें एकत्र करली। झूठा प्रचार करता है वह कि द्वारिकाका वैभव कल्पवृक्षके प्रभावसे है। वह ब्राह्मणोंको बहुत अधिक दान करता है। इसलिए ब्राह्मण उसीके प्रचारक हो गये हैं। मेरा चरणाद्रि * राज्य छोटा है। पर्वत एवं वन बहुल है। जब तक मैं दिग्विजय न कर लूँ, मेरे समीप विपुल सम्पत्ति नहीं हो सकती। ब्राह्मण तो उसके गुण गाते हैं, जिससे उन्हें बहुत दान प्राप्त हो। वे तथ्य पर ध्यान ही नहीं देते।

मुझे दिग्विजय करना है; किन्तु उसमें भी पहले कृष्णको ही समाप्त करना पड़ेगा। यह नहीं रहेगा तो लोग समझ जायेंगे कि भगवान वासुदेव कौन है। तब मुझे अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। राजन्य वर्ग स्वयं मुझे अपना सम्राट स्वीकार कर लेगा।

कृष्णके समर्थक भी कौन हैं ? पाण्डव हैं, जिन्हें कृपा करके धृतराष्ट्रने थोड़े गाँव दे दिये हैं। कृष्णके सम्बन्धी नरेशोंमें भी कोई शक्तिशाली नहीं है। राजन्य-वर्गके मुकुटमणि मगधराज जरासन्ध मेरे समर्थक हैं।

यह सब ठीक है; किन्तु ग्रहण-पर्व पर कुरुक्षेत्रमें तो किसीसे संघर्ष किया नहीं जा सकता। वहाँ जाकर कोई कटुता उत्पन्न की जाय, तो जो अपने समर्थक हैं, वे भी विरोध करेंगे। मुनि गण बहुत क्रोधी होते हैं। उन्हें किसीको शाप देते देर नहीं लगती।

कृष्ण अपने पूरे समाजके साथ आवेगा। वह अपने प्रचारका ऐसा अवसर छोड़ नहीं सकता। ब्राह्मणोंको बहुत अधिक दान करेगा। ऋषि-मुनि उसको भगवान वासुदेव कहकर उसकी स्तुति करेंगे। यह भी सम्भव है कि मैं वहाँ जाऊँ तो मेरा कोई उपहास भी करे। कृष्ण तो चाहेगा ही कि मैं उत्तेजित होकर कुछ ऐसा करूँ, जिससे सब मेरे विपक्षमें हो जाँय और वह निर्दोष बना रहे।

एक ही स्थानमें एक समय दो भगवान वासुदेव कैसे सम्भव हैं ? वहाँ जाने पर कृष्णका कृतिम रूप मैं सह नहीं सकता। अतः मेरा वहाँ जाना किसी प्रकार उचित नहीं; क्योंकि जाने पर तो कृष्ण और उसके समर्थक मिलेंगे ही।

—:०:—

---

* वर्तमान चुनार।

रुक्मी—

अपनी बहिनसे मिले मुझे बहुत वर्ष हो गये । हम सब भाइयोंके एकही तो बहिन है। सबसे छोटी होनेसे बहुत प्रिय है और मैंने तो उसे अपनी पुत्री जैसी जाना था ; किन्तु उसके घर तो मैं जा नहीं सकता। छोटी बहिनके यहाँ जाना वैसे भी अनुपयुक्त है, फिर कृष्णसे मेरी मैत्री तो है नहीं। उसने मुझे अपमानित किया, केश-मुण्डित करके कुरूप किया मुझे, उसे मैं क्षमा नहीं कर सकता।

कृष्णके साथ मेरी शत्रुता है, लेकिन मैं इसीलिए तो अपनी बहिनका स्नेह नहीं छोड़ दे सकता। मेरी उसी बहिनने तो मेरे प्राण बचाये । कृष्ण तो मुझे कवचहीन, शस्त्रहीन करके मार देनेको खड्ग उठा ही चुके थे । सम्पूर्ण लज्जा त्यागकर बहिन रुक्मिणी रथसे कूदी और दौड़ी आयी। उसने कृष्णके पैर पकड़ लिये थे—"मेरे भाई को मत मारिये।"

कितनी कातर हो रही थी रुक्मिणी उस समय । उसका मुख सूख गया था। उसके कण्ठकी माला टूट गिरी थी। उसका भय-कम्पित स्वर, वह दीन मुख मुझे जीवनमें भूल नहीं सकता। उसीके उस प्रयत्नके कारण कृष्णने मुझे छोड़ दिया। मेरी बहिनने प्राणदान दिया मुझे। मैं प्राण देकर भी उसे प्रसन्न कर सकूँ तो करूँगा।

मेरी कन्याके स्वयंवरके समय प्रद्युम्न अचानक आगया। कल्पना भी होती कि मेरा भागिनेय मेरी पुत्री स्वीकार कर लेगा, मैं स्वयंवरका आयोजन करता? मैं बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेका कोई अवसर उस समय भी नहीं पा सका।

मेरी कन्याने प्रद्युम्नके कण्ठमें जयमाला डाली और आगत समस्त राजकुमारोंको अपने शौर्यसे प्रद्युम्नने पराजित किया।* प्रद्युम्नके पराक्रम ने मुझे प्रसन्न कर दिया। वह मेरी बहिनके पितृकुलको गौरवान्वित करने योग्य वीर है। कन्या उसे मैंने विवाह दी और यथाशक्ति दहेज दिया, यह उस पर या बहिन पर कोई उपकार तो नहीं किया। कन्याने उसे वरण किया था और विरोध करने वालोंको उसने बिजित कर लिया था—उस अकेले धनुर्धरने शतशः राजकुमारोंको रणशैय्या दे दी थी। मैं उसे जामाता न बनाता तो युद्ध करता उससे? उस बालकसे युद्ध करनेमें मेरी शोभा थी? मेरे कर उठते अपने भागिनेय के विरुद्ध?

---

* पूरी कथा 'श्री द्वारिकाधीश' में गयी है।

विवाह तो मैं अब करूँगा। मेरी पौत्री रोचना बड़ी हो रही है। मैं उसका विवाह करूँगा प्रद्युम्नके पुत्र अनिरूद्धके साथ। संकर्षण को, श्रीकृष्णको, बहिनको भी आमन्त्रित करूँगा अपने भोजकटपुरमें और ब्राह्मविधिसे पौत्रीका कन्यादान करूँगा। पौत्रीके विवाहका प्रस्ताव लेकर ब्राह्मण जायगा मेरे यहाँसे द्वारिका तो श्रीवसुदेवजी उसे स्वीकार नहीं करेंगे ? इसकी कोई सम्भावना नहीं है। मैं अपने नगरमें अपनी बहिनका सत्कार अवश्य करूँगा।

प्रद्युम्नके विवाहमें अवसर ही नहीं था कि द्वारिकासे किसीको बुलाया जा सकता। वह विवाह तो अकल्पित हुआ। बहिनसे किस कुमुहूर्तमें कितनी विषम विपन्नावस्थामें पृथक हुआ मैं। वह भी विवशा थी। एक शब्द भी तो मैं उससे कहनेकी स्थितिमें उस समय नहीं था।

वह दिन और आजका दिन, इतने वर्ष बीत गये, मेरी वह अत्यन्त प्रिय अनुजा, मुझे प्राणदान करने वाली मेरी बहिन रुक्मिणी फिर मिल ही नहीं सकीं मुझसे। अब एक अवसर मिलने वाला है। सूर्य-ग्रहणके समय कुरुक्षेत्र आवेगी मेरी बहिन ग्रहण-स्नान करने। मुझे ग्रहण-स्नानका कोई लोभ नहीं है; किन्तु बहिनसे मिलनेका यह अवसर तो छोड़ देने योग्य नहीं है।

मेरी बहिनकी सपत्नियाँ आवेंगी। वे सब मेरी बहिनें ही तो हैं। वे मुझसे मिलेंगी, सब मुझे बड़ा भाई मानकर मिलेंगी। उनमें मेरी बहिन सबसे बड़ी है, अतः सब बिना संकोच मिलेंगी मुझसे। सबके पुत्र मिलेंगे। मैं उन सहस्रशः यादव कुमारोंका मातुल हूं। वे मुझसे मिलेंगे ही।

यादव अब कितने बड़े हो गये हों, कितने भी सम्मानित और सम्पन्न हो गये हों, वे हमारे गृहीता हैं। दातासे गृहीता बड़ा नहीं हुआ करता। भले कुरुक्षेत्र तीर्थ स्थान है और भले पर्व पर सब वहाँ आये हैं, रुक्मीके गृहीता ही रहेंगे यादव। वे ऋषियोंको, ब्राह्मणोंको, भिक्षुकोंको चाहे जितना दान करें, रुक्मीके उपहार लेनेको विवश हैं। मैं अपनी बहिनोंको—सहस्रशः बहिनोंको, अपने लक्ष-लक्ष भागिनियोंको भरपूर उपहार-दूँगा।

मुझे देनेका स्वत्व है। श्रीबलरामको, श्रीकृष्णको, श्री वसुदेवजीको, सब यादवोंको और वहाँ यदि पधारें तो यादव महाराज उग्रसेन एवं इन सबकी पत्नियोंको, सबके पुत्रोंको उपहार देनेका स्वत्व प्राप्त है मुझे। मेरे उपहार अस्वीकार करनेका उन्हें कोई स्वत्व नहीं है। अतः मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा। वहाँ मुझे अपनी बहिन मिलेगी और मिलेंगे वे सब यदुवंशी।

———

महाराज भीष्मक–

अमित विक्रम, दक्षिणापथ विजेता हिरण्यरोमा अपने पुत्रके मोहवश विवश होगया। मेरा ज्येष्ठपुत्र रुक्मी पता नहीं क्यों ऐसा निकला कि उसे उद्धत राजाओंसे ही प्रेम है। वे उसकी चाटुकारी करते हैं और यह भी उन्हींको मित्र मानता है।

श्रीकृष्णने जैसा सौजन्य, जैसी सहनशीलता दिखलायी, संसारमें वह दुर्लभ है। मेरी कन्याका स्वयंवर था। स्वयंवर में अनिमन्त्रित कोई न आवे, ऐसा तो कोई नियम नहीं है। श्रीकृष्णने मेरी पुत्रीके स्वयंवरमें आकर मुझे गौरवान्वित ही किया था।

मेरा बड़ा पुत्र रुक्मी अड़ा था कि रुक्मिणीका विवाह शिशुपालसे ही होगा। यह कोई समझदारीकी बात थी? जब किसी विशेष व्यक्तिको ही कन्या देनी है तो स्वयम्वरकी घोषणा क्यों? किसी स्वयम्वरमें श्रीकृष्ण रहेंगे तो कन्या कोई हो, दूसरे किसी देवता, लोकपालके गलेमें भी जयमाला डालेगी? श्रीकृष्णके आते ही यह तो सब पर स्पष्ट हो गया था कि स्वयम्वरका परिणाम क्या होना है।

मैं समझता था कि मेरा पुत्र दुराग्रही है। वह कुछ भी कर सकता है और उसने कुछ अनुचित किया तो श्रीकृष्णके चक्रका कोई प्रतिकार नहीं है। पुत्रके मोहवश मैंने स्वयम्वर स्थगित किया। यह महानता श्रीकृष्णकी कि वे लौट गये। यह स्पष्ट उनका अपमान था; किन्तु उन्होंने सहन कर लिया। आगत नरेशों तकमें अनेक उनके समर्थक हो गये थे। वे स्पष्ट वचन दे रहे थे—'कन्या स्वयम्वरमें आकर चाहे जिसका वरण करे, मैं बाधक नहीं बनूँगा।'

ऐसा वचन वे ही दे सकते थे; किन्तु कन्या स्वयम्वरमें आती तो दूसरेका वरण करती वह?

मैं जो बचाना चाहता था, वही होकर रहा। रुक्मिणीके विवाहके लिए मेरे पुत्रने दुबारा केवल शिशुपालको बुलाया। श्रीकृष्णने आकर कन्याहरण किया। मैं स्वयं, मेरे दूसरे सब पुत्र हृदयसे इच्छा करने लगे थे कि वे ऐसा करें। मेरी पुत्रीने ही सन्देश भेजकर उन्हें आमन्त्रित किया था और उचित किया था। आर्य-कन्या जब किसीको हृदय दे चुकी, किसी अन्यको हाथ तो नहीं दे सकती।

मगधराज जरासन्ध और उनके सहायक क्या कर लेते? जिन्हें सत्रह बार यदुवंशियोंने पराजित किया था, उनमें कोई नवीन शूरता आयी थी? पराजय

उनका प्रारब्ध था ; किन्तु मैं अपने पुत्रको बचाना चाहता था। श्रीकृष्णने दया करके उसे प्राण-दान न किया होता, वह तो पतिंगेके समान उनके रोषानलमें दग्ध होने कूद ही चुका था।

रुक्मी कहता है कि 'उसे अपमानित किया कृष्णने।' तू जिसे मार देने दौड़ा था, वह तेरी पूजा करता उस समय ?

भले रुक्मीने अपनी पृथक राजधानी बनाली ; किन्तु अन्तमें उसे समझ आगयी। एक ही तो बहिन है, उसके स्वामीसे द्वेष करके बहिनकी प्रीति कैसे पा सकता था वह ? भागिनेय प्रद्युम्नको पुत्री देकर उसने उचित किया।

कन्या पराये घरकी सम्पत्ति होती है। मेरे एक ही तो पुत्री है। मुझे प्रसन्नता है कि वह अपने योग्य स्थान पर है। श्रीकृष्णकी ज्येष्ठ पट्टमहिषी है वह। उसका बड़ा पुत्र यादव-कुमारोंमें सर्वमान्य है। सर्वश्रेष्ठ महारथी है।

अपने बड़े पुत्रके अहंकारके कारण मैं अपनी एकमात्र पुत्रीका सत्कार करनेसे भी बञ्चित हो गया। मैं उसे कुण्डिनपुर बुलाने योग्य नहीं रहा।

सच कहूँ तो मैं स्वयं वृद्धावस्थामें भीरू हो गया हूँ। केवल रुक्मीके रूठ जानेकी बात नहीं है। वह तो रूठकर पृथक राजधानी बना ही चुका है। मुझे ही भय लगता है कि मैं अपनी कन्या-जामताको कुण्डिनपुर बुलाऊँ तो मगधराज जरासन्धको मेरे ऊपर आक्रमणका बहाना मिल जायगा। उसके विरुद्ध मेरा बड़ा पुत्र पिताकी सहायता नहीं करेगा और द्वारिका बहुत दूर है। मैं गिरिव्रजके ग्रहाकारागारमें मगधराज का बन्दी बननेसे डरता हूं, यह तथ्य तो है ही।

रुक्मी भी जा रहा है ग्रहण-स्नान करने कुरुक्षेत्र। अब तो वह प्रद्युम्नको जामाता बना चुका है। सुना है कि जरासन्ध भी वहाँ जा रहा है। जा रहा है तो श्रीकृष्णका सत्कार भी करेगा। वे उसके जामाताके भागिनेय हैं। तीर्थमें पर्वके अवसर पर कटुता उत्पन्न करे, मगधराज इतना छुद्र नहीं है।

यह अवसर है मेरे लिए। मैं इस अवसर पर कुरुक्षेत्र चलूँगा। वहाँ अपनी कन्या और जामाताका, उनके पुत्रोंका सत्कार करूँगा। सत्कार करूँगा महाभाग वसुदेवजीका और उनके सब पुत्रोंका, उनके पुत्रोंके परिवारका। मेरे एक ही कन्या थी; किन्तु उसने मुझे कितना भाग्यशाली बना दिया है। वसुदेवजीके सब पुत्रोंकी पत्नियाँ मेरी कन्याएँ ही तो हैं। उन सबके पुत्र—मेरी पुत्रीने मुझे असंख्य दौहित्रोंका मातामह बना दिया है। वे सब मिलेंगे मुझे वहाँ।

—×—

महाराज नग्नजित्-

अल्प शक्ति, अल्प साधन, अल्प विस्तार का राज्य है दक्षिण कोसल। जो विस्तार है भी, वह वन बहुल है। लेकिन जो करुणावरुणालय है, उनकी करुणा अनल्प, असीम हैं। इस वन्य छोटे राज्यको उन्होंने सदा ही गौरव दिया है।

त्रेतामें दक्षिण कोसल उत्तर कोसलका उपजीवी सामन्त राज्य था; किन्तु मर्यादा-पुरुषोत्तम्ने इसे अपने मातामहका राज्य होनेका गौरव दिया। यहाँकी कन्या कौसल्या देवीको उन्होंने जननी बनाया। धन्य हो गया दक्षिण कोसल।

इस द्वापरान्तमें वही परात्पर पुरुष भगवान वासुदेव मथुरामें अवतीर्ण हुए। समुद्रके मध्य उन्होंने स्वर्णपुरी द्वारिका बसायी। मैं साहस ही नहीं कर पाता था कि उनसे अपनी कन्याके पाणि-ग्रहणकी प्रार्थना करूँ। त्रिभुवनके उन परमाधीश्वरके सम्मुख मेरी स्थितिही क्या थी ? दूसरी कठिनाई यह थी कि अनेक राजकुमार मेरी कन्याके पाणि-प्रार्थी हो गये। जिसे अस्वीकार करता, वही शत्रु हो जाता और मेरा छोटा वन्य-राज्य आक्रमण झेलने योग्य तो नहीं था। इसलिए मैंने दुर्दान्त सात वृषभ चुने। ऐसे वृषभ जिन्हें मनुष्यकी गन्ध ही असह्य थी। जानता था राजकुमार उन्मत्त गजको वश करनेकी विद्या भले जानते हों, क्रोधोन्मत्त वृषभोंको सम्हालना उनके लिए सरल नहीं होगा।

मुझे खेद है कि अनेक राजकुमार उन वृषभोंके द्वारा आहत हुए। अनेकके अङ्ग भङ्ग हुए। मेरे समीप इन आगतोंका रोष भाजन होनेसे बचनेका दूसरा मार्ग भी तो नहीं था।

मैं निराश होने लगा था। मेरी महारानी अनेक बार नेत्रोंमें अश्रु भरकर कह चुकी थीं—'आपने यह कैसी विकट प्रतिज्ञा करली। हमारी कन्या क्या अब कुमारी ही रह जायगी ?'

तभी पधारे वे करुणा-वरुणालय मयूरमुकुटी वनमाली। उन्हें कहीं संकोच कैसा ? उन्होंने सीधे ही कहा—'हम आपकी कन्या चाहते हैं ?'

मेरी प्रतिज्ञा ? लेकिन अपने जनोंकी प्रतिज्ञा उन्होंने कब नहीं रखी ? हममें-से कोई नहीं समझ सका कि हुआ क्या। मेरे वे दुर्दान्त सातों महावृषभ लगा कि उन गोपालकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वृषभ धर्म-मूर्ति हैं और धर्मके प्रभु अच्युत हैं, यह सत्य

साकार हो गया। सातो वृषभ दौड़ गये उनके समीप और उन्होंने उनकी नासिकाओंमें रज्जु डाल ली। वे सातोंको पकड़े न होते, वे सब तो स्वयं उनके पीछे हुंकार करते ऐसे भागे फिर रहे थे जैसे जन्म-जन्मसे उनके ही द्वारा पालित हों।

कृतकृत्य हो गयी मेरी कन्या उनके कण्ठमें वरमाला डालकर। मेरा कुल कृतार्थ हुआ। मैं नगण्य पृथ्वीमें ही नहीं, त्रिविष्टपमें भी सहसा सम्मानका अधिकारी हो गया।

अब तो मेरी कन्या द्वारिकाकी पट्ट महिषी है। पुत्र-पौत्र समन्विता है; किन्तु मुझे तो उसका विवाह कलकी घटना लगता है। लगता है कि वे वनमाली अभी भी मेरे वृषभोंकी रज्जु एक साथ वाम करमें पकड़े मेरे सम्मुख खड़े कह रहे हैं—'महाराज ! ये रहे आपके वृषभ। ये तो अभी वछड़े ही हैं। बहुत सीधे हैं। अब किसीको ये सिर हिलाकर भी आतङ्कित नहीं करेंगे।'

कैसे करेंगे ? कहीं उन नवघन—सुन्दरका स्पर्श पाकर भी किसीमें क्रोधामर्षका कलुष शेष रह जाता है। मुझे तो अब भी लगता है कि वे सातो उन मयूर मुकुटीको सूँघते खड़े हैं। और वे पूछ रहे हैं—'आप आज्ञा करें तो इनको मैं उन्मुक्त कर दूँ। इनसे किसीको कोई भय नहीं हैं। अब ये भागेंगे भी नहीं।'

आपकी इच्छा। मैं और क्या कहता ? मैं इतना जानता हूँ कि कृष्णचन्द्रका स्वभाव किसीको बन्धन देना नहीं है। अत्यन्त कठिन है कि वे किसीको अपने साथ बाँध लें। मैंने कह दिया था—'ये अब आपके हैं। यह जन भी आपका और इसका सर्वस्व आपका। इसे स्वीकृति देने की अनुकम्पा करें।'

द्वारिका मेरी कन्याका नगर है। मैं वहाँ जाता, मेरा अतिशय सम्मान होता; किन्तु मैं उन त्रिभुवनके स्वामीके समीप क्या लेकर जाता ? वे मेरे जामाता हैं, मैं उनके समीप रिक्त-हस्त तो नहीं जा सकता। मेरे पास—एक अरण्यानी छुद्र प्रदेशके नरपतिके पास द्वारिकानाथको दिया जा सके—एसा है ही क्या ?

यह सूर्यग्रहणका महापर्व आ गया है। मेरी महारानी बहुत अधिक उत्सुक हैं कुरुक्षेत्रके समन्तक पञ्चक तीर्थमें इस समय स्नान करनेको। उनकी उत्सुकता समझ सकता हूँ। मुझमें ही कम उत्सुकता कहाँ है। कुरुक्षेत्रमें महारानीको अपनी पुत्री मिलेगी। अपने दौहित्र मिलेंगे।

अब एक पुत्रीकी ही बात कहाँ है। सहस्त्र सहस्त्र पुत्रियाँ मिलेंगी कुरूक्षेत्रमें। लक्ष लक्ष यादव कुमारोंका मातामह है अब नग्नजित। वे सब मिलेंगे। मिलेंगे मेरे जामाता वे अनन्त अपार कृपा पारावार बनमाली।

—:०:—

नरपतिगण—

'वनमाली कमललोचन वासुदेव आवेंग कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके महापर्व पर।' नरपति समुदायमें बहुत अधिक ऐसे हैं जो यदुकुलके सम्बन्धी ही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र को अथवा उनके पुत्र-पौत्रोंको जिनकी पुत्रियाँ विवाही हैं, बहुत बड़ी संख्या है उनकी। ग्रहण-स्नानका उन सबके लिए सबसे बड़ा आकर्षण है यह ।

एक बड़ा समुदाय है राजाओंका जो दुर्योधनका अनुवर्ती है। उस समुदायके लिए भी वासुदेवका आकर्षण कम नहीं है। अवश्य ही यह समुदाय श्रीकृष्णचन्द्रसे अधिक महत्ता देता हैं श्रीसङ्कर्षणको। इसके लिए दुर्योधनने श्रीकृष्णके पुत्रकों पुत्री विवाही है, इस सम्बन्धकी अपेक्षा कुरुराज दुर्योधन श्रीबलरामके शस्त्र शिष्य हैं, संकर्षणसे गदायुद्धकी शिक्षा ली है दुर्योधनने—यह सम्बन्ध अधिक महत्त्वका है।

द्वारिकाका विपक्षी नरेशोंमें सबसे बड़ा समुदाय है मगाधरज जरासन्धके सहायक, समर्थक, अनुगामी बर्गका। यह वर्ग प्रायः मथुरा पर जरासन्धकी चढ़ाइयोंमें साथ रहा है। इन लोगोंका भी कम आकर्षण नहीं हैं श्रीकृष्णके सम्बन्धमें। अवश्य इनके यहाँ दूसरे प्रकारसे यह चर्चा है।

'मगधराज परम धर्मनिष्ठ हैं। तीर्थमें पर्वपर वे कोई कटुता किसीसे उत्पन्न नहीं करेंगे। वासुदेव उनके जामाताके भागिनेय हैं। इस अवसर पर वे सत्कार करेंगे यदुकुलका। युद्धमें संकर्षण और श्रीकृष्ण प्रलयङ्कर ही प्रतीत होते हैं। इन दोनों भाइयोंमें-से एककी ओर भी उस समय देखा नहीं जाता। प्रचण्ड तेज--लेकिन वासुदेवको सौम्य रूपमें तो हमें देखनेका अवसर ही नहीं मिला। अब वे अपने सहज सौम्य स्वरूपमें मिलेंगे। उनकों समीपसे देखना इस समय सम्भव होगा।

तीर्थयात्रा है। ग्रहणका महापर्व है। ऐसे अवसर पर दान परम पुण्यप्रद है; किन्तु इसका कोई अवसर मिलेगा, इसकी कोई सम्भावनान हीं है। अपने राज्यके, अपने आश्रित सूत, मागध, बंदी एवं ब्राह्मण भी वहाँ दान लेना अस्वीकार कर दे सकते हैं।' यह सम्भावना सभी राजाओंके मनमें है।

'ऋषि, मुनि और दूसरे तपस्वी वीतराग होते हैं। उनसे दान-ग्रहणका अनुरोध भी दुस्साहस है। कोई भी उनमें-से कुपित होकर शाप दे सकता है ऐसी धृष्टता करने पर।' राजाओंमें किसीको भी सन्देह नहीं है—'कोई मुनिकुमार भी हमारे समीप नहीं आवेगा। ऋषि-मुनियोंके आकर्षणका केन्द्र रहेगा द्वारिकाका शिविर। उनके

दर्शन वहीं जाकर प्राप्त किये जा सकते है। वीतराग, अपरिग्रही ये तपस्वी अनुग्रह करते हैं यदि किसीकी कोई सेवा स्वीकार करलें। केवल ये लोग श्रीकृष्णचन्द्रका और उनके स्वजनोंका सम्मान करते हैं। इस सम्मानके कारण ही उनका दान स्वीकार कर लेते हैं।'

यादव वैसे भी अत्यन्त उदार हैं और इस महापर्व पर उन्हें अवसर प्राप्त है। मुनि-मण्डली द्वारिकाके शिविरका दान स्वीकार ही तो करेंगी, उन तापसोंको कहाँ वे गायें, स्वर्ण-रत्न ढोते फिरना है। वे यादव शिविरसे निकलते ही बांटेंगे। जिस ब्राह्मणको वे देना चाहेंगे, वह उनका प्रसाद-ग्रहण अस्वीकार कर सकेगा ? अपना सौभाग्य मानेगा वह।

महादानी कर्ण, परम ब्रह्मण्य मगधराज ; किन्तु इस अवसर पर कुरुक्षेत्रमें इन्हें भी दान देनेके लिए दो-चार ब्राह्मण मिल जायँ तो ये अपना सौभाग्य मानेंगे। इन्हें भी अपने तीर्थ-पुरोहितोंको ही देकर सन्तोष करना है।

सूत, मागध, बन्दी तथा दूसरे कलाजीवी कुरुक्षेत्र पहुँचते ही यादव-शिविरकी ओर भागेंगे। यह सत्य स्वीकार ही करना पड़ेगा कि श्रीकृष्णके प्रति जितना आकर्षण ब्राह्मणोंमें तथा वन्दी वर्गमें है, दूसरे किसीमें नहीं है और यह भी सत्य है कि हम उस दानकी कल्पना नहीं कर सकते, जो यादव प्रमुख भी एक-एक भिक्षुकको देते हैं। श्रीकृष्णके दानकी तो तुलना शक्य नहीं है। उनके समीप कल्पवृक्ष है। वे ही प्रत्येक याचकको कह सकते हैं—'तुम जो इच्छा हो, माँग लो।'

श्रीकृष्ण ही यह कर सकते हैं कि याचक अस्वीकार करता रहे और उसे आग्रह पूर्वक दें। उनके शिविरमें जो पहुँच जायगा, वह वहांसे प्राप्त पदार्थ बाँटने न लगे तभी बड़ी बात, उसे जींवनमें फिर कहीं याचनाकी आवश्यकता रह जाती है कि वह दूसरेका प्रतिग्रह-ग्रहण करे ?

मगधराज जरासन्ध, कुरुराज दुर्योधन, महामनस्वी कर्णके लिए भी जहाँ अवसर नहीं है, वहाँ हम जैसे लोगोंकी ओर कोई ब्राह्मण कोई भिक्षुक क्यों भटकने लगा। दानका अवसर मिलेगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। कुरुक्षेत्रमें केवल स्नान, जप, पाठ करके सन्तोष करना है। यज्ञ करानेको भी वहाँ इस समय ऋत्विक सुलभ नहीं हो सकते; क्योंकि वहाँ वासुदेव-संकर्षण आवेंगे। ऋत्विक बन सकें ऐसे सब ब्राह्मणोंका केन्द्र तो उनका शिविर होगा।

यही क्या कम है कि वहाँ पहुँचकर हम उन कमल लोचनका दर्शन करेंगे। वे अग्रज एवं अपने पूरे परिवारके साथ मिलेंगे।

—:०:—

सूत-मागध-बन्दी—

'वाणीकी शोभा केवल भगवान वासुदेवका स्तवन है, यह हम जानते हैं। सूत, मागध, बन्दी इन दिनों कहींके हों, किसी राज्यके आश्रयमें हों, सबमें एक ही चर्चा है—'सबसे अच्छे सूत हैं। उन्होंने यह उचित निर्णय किया कि वे पुराण कथा सुनावेंगे अथवा सारथ्य करके परिवार पोषण करेंगे। इस श्रेष्ठतम निर्णयका ही परिणामहै। कि आज उनमें किसीको किसी पुरुषकी स्तुति नहीं करनी पड़ती। ऋषि-गण भी कथा-वाचकसूतोंका सम्मान करते हैं।'

'पुराणपुरुष तो पुरुषोत्तम हैं। पुराणोंमें दूसरोंका जो चरित है, वह भी उन पुरुषोत्तमका प्रभाव प्रख्यात करनेके लिए ही है। अतः पुराणका प्रवचनकार भगवान पुरुषोत्तमके भुवन-पावन सुयशका गायक है। उसका सम्मान तो ऋषिगण करेंगे ही।' वन्दी मागध एक मत हैं—'कथावाचक सूत सौभाग्यशाली हैं। मुनिमण्डल ही उन्हें अवकाश नहीं देता कि वे किसी नरेशके यहाँ जायँ। जाना ही पड़े तो द्वारिकाके उदार-चक्र-चूड़ामणिके अतिरिक्त वे अन्यत्र जानेसे रहे। दुसरे नरेशोंके यहाँ केवल सारथ्य करने वाले सूत रह गये हैं और वे जहाँ भी हैं, उनके आश्रयदाताको उन्हें सम्मानपूर्वक रखना पड़ता है।'

मागधगणका काम है वंशावली सुनाना। इसकी आवश्यकता हो या न हो, अपने पूर्वजोंकी नामावली तथा उनकी कीर्ति सुनना सबको प्रिय रहा है। अतः प्रत्येक नरेशके आश्रममें उसके मागध रहते थे।

वन्दीगण नरेशको प्रातः उद्‌बोधित करते थे। राजसभामें, यात्रा में, युद्धमें एवं दूसरे उत्सवादिके समय पद्यबद्ध राजाके यश, पराक्रम वर्णन—प्रायः अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करके पुरस्कार प्राप्त करते थे।

'मरणधर्मा अल्प प्राण मनुष्यका स्तवन कैसा ? लेकिन, अहंकार अन्ध नरेश समझते ही नहीं कि उनकी उदारता, पराक्रम, विद्या आदिका अति-शोयोक्ति पूर्ण वर्णन उनका लगभग उपहास है। वे इससे प्रसन्न होते हैं। बर्णन जितना अतिरंजित होता है, वे उतने फूलते हैं और उतना बड़ा पुरस्कार देते हैं।

मागघ एवं वन्दियोंमें यह चर्चा इन दिनों प्रबल हो गयी है—'कितनी विडम्बना है कि हम जानते है कि हम एक अल्पप्राणको अपार पराक्रमी, एक कृपणको परमोदार कह रहे हैं; किन्तु पुरस्कारके लोभसे हम सब यही करते हैं। तुच्छ राजाओंकी भूरि-

भूरि प्रशंसा करनेमें ही हम सब अपनी समस्त प्रतिभा, सम्पूर्ण चातुरीका अपव्यय करते हैं।'

'हमारी वाणी अपवित्र हो चुकी है। हमारे चित्त लोभ-कलुषित हैं। हमने कल्पवृक्ष त्याग कर कण्टक तरुओंसे आशा कर रखी हैं। और उन्हें कल्पवृक्ष कहते थकते नहीं हैं। हमें प्रतिभा, काव्यकौशल प्रदान करके भगवती हंसवाहिनी भी सिर पीटती होंगी। हमारी वाणी तो गणिका हो रही है, अर्थ-तृष्ण-वश चाहे जिसे प्रसन्न करनेमें व्यस्त।

स्तवनीय केवल भगवान पुरुषोत्तम हैं। वाणी धन्य हो जाती है उनका गुणगान करके। उनके गुणोंका कहीं पार है? उन अनन्त गुण-गणार्णवके गुणोंका, पराक्रमका कहीं पार है? वहाँ कोई यथा तथ्य वर्णनमें ही समर्थ नहीं, अतिशयोक्ति कैसे करेगा? जो कुछ कहो, जितनी कल्पना दौड़ाओ—कहीं कल्पना उस अनन्तका कोई अंश स्पर्श कर पाती है?

वहाँ वाणी पवित्र होती है। वर्णन करनेमें प्रवृत्त होने वाला पावन होता है, इसलिए वर्णन है। वर्णन तो अपूर्ण, अल्प रहेगा ही। हम सब छुद्र शशकोंको बनराज कहते थकते नहीं हैं और भगवान नरहरिके पराक्रमको प्रकट करनेके लिए हमारे समीप शब्द नहीं हैं; शब्द भले न हों, उनका जो भी वर्णन हमसे बनेगा, वह हमें कृतार्थ कर देगा।

वे परमपुरुष पुरुषोत्तम धरा पर अवतीर्ण हुए हैं। वे भगवान वासुदेव पधारेंगे द्वारिकासे इस महापर्व पर कुरुक्षेत्र। तीर्थमें, इस परमपावन पर्वकालमें उनके अतिरिक्त कोई और स्तवनीय कैसे हो सकता है?

उन उदार शिरोमणिके उपहार—उनके करोंका प्रसाद तो वीतराग; दिगम्बर, अवधूत महापुरुष भी हाथ फैलाकर ग्रहण करते हैं, हम तो याचक हैं। वे रमाकान्त उनके श्रीचरणोंमें पहुँच कर फिर क्या किसी औरसे याचनाकी आवश्यकता रह जाती है?

जीवनका परम सौभाग्योदय-काल मिला है हमें। हमारी वाणी कृतार्थ होगी। वे भगवान वासुदेव मिलेंगे। हम स्तवन करेंगे उनका

—:o:—

कलाजीवी-

वीणापाणि भगवती हंसवाहिनीकी अनुकम्पा होती है, तब मनुष्यको अन्तरके आह्लादका उत्स वाह्यमें मूर्तिमान करना आता है। अन्यथा अपने भावको अभिव्यक्त कर पाना कहाँ सरल है। यह सरल होता तो सभी कलाकार होते।

भावाभिव्यक्तिका माध्यम भिन्न हो सकता है ; किन्तु कलाकार तो सबमें एक ही है। तूलिका हो या तक्षण, निर्माण तो उसे मूर्तिका ही करना है मूर्तिमें भी केवल पाषण-तक्षण ही कहा है। मोमसे कोमल पदार्थसे लेकर कठोरतम धातुओंमें काष्ठमें, शुक्तिमें, कला तो कहीं अभिव्यक्त हो सकती है।

कलाका अर्थ है दृष्टि—यह दृष्टि देती हैं भगवती शारदा और उनका यह प्रसाद सफल होता है विश्व रूप भगवान जनार्दनकी सेवामें लग कर।

जिसमें रस न हो, वह अनुकृति हो सकती है कला नहीं हो सकती और रस रूप तो एक ही हैं जो हृषीकेश सबके अन्तरमें विराजमान हैं। वहींसे इसका उद्‌गम है। अतः उनकी आराधनाका ही नाम है कला। वह उन अन्तर्यामी नारायणके श्रीचरणोंसे निकली रस रूपा सुरसरि है। वह सार्थक ही है उन्हींके विराट् रूपकी सेवा करके।

जो दर्शकके अन्तरमें रसोद्रेक न कर सके, उसे कोई कला कहेगा ? दर्शकके हृदयमें आसीन अन्तर्यामीकी सेवा—उसे उद्वेलित कर देनेमें कलाकी सफलता है।

वही अन्तर्यामी भी वासुदेव अब निखिल सौन्दर्यसिन्धु अवतीर्ण हुए हैं। उनके श्रीचरणोंके एक बार दर्शन नहीं हुए, उनके दर्शनको अन्तर आकुल नहीं हुआ, ऐसे ऊसर अन्तःकरणमें भगवती हंसवाहिनीकी अहर्निशि कृपा-वृष्टि भी कलाङ्कुर उद्‌भूत कर सकेगी ?

वे निखिल कलैक गुरु, वे सौन्दर्यके धाम रसराज, उनका सान्निध्य शुष्कतम हृदयमें भी अजस्र रसस्रोत प्रवाहित करता है। उनका क्षण-सान्निध्य भी कलाको शाश्वत जीवन दे देता है।

कला-मर्मज्ञ प्रशंसा करें, वह कला। अन्यथा, क्या उलूक संगीतका सत्कार करेंगे ? श्वानको कितनी भी सुन्दर मूर्ति मिले............गर्दभ चित्रकला समझेंगे ? वे फलक-भक्षण न करलें तो कुशल। ये सामान्य नरपति समझते भी हैं कलाको ? जो तूलिका एवं रंगसे परिचय नहीं रखते, उनके द्वारा चित्र या मूर्तिकी प्रशंसाका अर्थ ?

निखिल कला गुरु वासुदेव—उनकी दृष्टिमें न आवे, उस कलाको श्मशान कला ही कहना होगा। कोई कलाकार—किसीकी कोइ कृति उन भुवन-सुन्दरको क्या तुष्ट

कर सकेगी ? लेकिन वे परमोदार, अद्भुत रीझ है उनकी । सुना है—वे कलाकी सेवा प्रारम्भ करने वाले सामान्य शिक्षार्थीकी कृतिका—रेखाओंका भी सत्कार करते हैं। उसको भी पुरस्कृत करते हैं।

उन मृदिमा, सौंदर्य राशिको समीपसे देखे बिना किसीके अन्तरमें सौन्दर्य स्फुरित कैसे होगा ? हम मानते हैं, उनका लोकोत्तर सौन्दर्य—कोई कर उसकी अनुकृति करनेमें असमर्थ है; किन्तु उनका एक बार साक्षात्कार हो जाय तो समझा जा सकता है कि सुन्दरता कहते किसे हैं। उसका कोई सीकर कल्पनामें आ जाय, धन्य हो जाय कला।

विश्वमें कहीं किसी विद्याका कोई कलाकार नहीं है, जिसके हृदयमें श्रीकृष्णचद्रके दर्शनका उत्कण्ठा न हो। कवि गायक, वादक, मूर्तिशिल्पी, चित्रकार प्रभृति सबके आकर्षण केन्द्र हैं वासुदेव।

'उनकी जड़कों चैतन्य कर देने वाली वंशीध्वनि सुननेका सौभाग्य तो महा-मुनियोंको भी दुर्लभ हैं। सुना कि वीणा भी उन्होंने गुरुगृहमें एक ही बार स्पर्शकी। लेकिन उनकी उन करांगुलियोंके दर्शन तो सम्भव ही हैं।' गायक-बादकोंका समूह उनके किसलय करोंके चिन्तनमें तन्मय है।

'कालियनागके फणों पर नृत्य किया उन्होंने ? भूमिके नर्तक ही नहीं, स्वर्गकी अप्सराओंको भी नृत्यकी यह अनुपम लाघवता समझमें नहीं आती। उनका चित्त उनके अत्यन्त सुकुमार किंशुकारुण उन चारु चरणोंकी भावनामें डूबा जाता है।

'कैसी होगी वह मनोहारी मूर्ति जिसको देखकर तरु तक झूम उठते हैं ?' मूर्तिकार चित्रकार प्रभृति कल्पना करते हैं और समझ नहीं पाते कि उसके सम्बन्धकी कल्पनामें ही इतना आनन्द, इतना उल्लास, इतनी अतल गम्भीर शान्ति है तो वह स्वयं कैसा होगा।

पुरस्कार ? पुरस्कार भी उन साक्षात् श्रीपतिसे अधिक कोई किसीकों क्या दे सकता है ? कोई कितना भी उदार एवं सम्पन्न हो, कंगाल ही तो रहेगा उनके सम्मुख जिनके अन्तःपुरमें कल्प-पादप रोपित है। लेकिन पुरस्कारकी बात सोचना वैसे भी कलाकार हृदयने कहाँ सीखा है ? उसे कला मर्मज्ञ चाहिये। कृष्णचन्द्रसे उत्तम कला-मर्मज्ञ सृष्टि कभी भी देनेमें समर्थ होगी ? उन वासुदेवका दर्शन ही कम पुरस्कार है किसी भी प्राणीके लिए ?

कलाकारोंमें-से सब कुरुक्षेत्र पहुँचनेके प्रयत्नमें हैं। उनका एक ही आकर्षण—वहाँ वे वासुदेव मिलेंगे। मिलेंगे भगवान वासुदेव।

—:०:—

वणिग् वर्ग—

वस्तु-विनिमय द्वारा आजीविका अर्जन हमारी शास्त्र सम्मत वृत्ति है। अर्थोपार्जन प्रधान होनेसे वैश्य अर्थ-पुरुषार्थी माना जाता है; किन्तु समाजका निर्वाह भी तो वैश्य पर ही निर्भर है। धर्म भी हमारे उपार्जनसे ही पोषण प्राप्त करता है।

उपार्जन—शुद्ध उपार्जन दृष्टि ही तो क्या मोक्ष उपार्जन नहीं है? दृष्टि भौतिक अर्थमें ही केन्द्रित हो जाती है, तब वैश्य कृपण हो जाता है। अन्यथा समाजका जो उदर है, उसका प्रशस्त कर्तव्य तो वितरण है। सबका यथोचित पालनकर्ता है वह, लेकिन यह मिथ्या अहंकार है। सबसे अधिक पालन—सुरक्षाकी आवश्यकता वैश्यको ही सदा रही है—रहेगी।

विश्ववन्द्य वीतराग विप्र वर्ग अपने तेजसे ही सबका प्रतिपालक है। उसके त्याग, तप एवं विद्याके प्रकाशमें ही सब पलते हैं। उसे कोई क्या देगा। वह किसीकी सेवा स्वीकार करले, सेवकका सौभाग्य।

वैश्य वर्णकी चार आजीविका भेदसे चार जातियाँ मूलमें हुईं—

१. व्यापारी, २. कृषक, ३. गोप, और ४. व्याजग्राही—

इसको पहिले बनिया कहा गया। व्यापारीके भी दो भेद हुए—

१. वणिक—वस्तुओंको स्थानान्तरमें विनिमय करने वाले। इसीसे बनजारा वर्गबना।

२. पणिक्—बाजारके दुकानदार—पण (आपण) बाजार।

आज तो धरा निखिल ब्रह्माण्ड नामक समष्टिके परम पालकसे धन्य है। सुरासुर सेवित महर्षिगण भी उनके प्रसादाकांक्षी रहते हैं। वे श्रीद्वारिकानाथ भगवान वासुदेव—सदासे जो सबके प्रतिपालक हैं, आज प्राणियोंका परम भाग्योदय कि वे नेत्र-प्रत्यक्ष हैं भारत भूमि पर।

वे अखिलेश्वर हमारे अपने हैं। वे व्रजमें रहे गोपराज नन्दरायजीके यहाँ। व्रजराजको वे बाबा कहते हैं। हम गौरवान्वित हैं; क्यों कि गोप होनेके कारण श्रीनन्दरामको हम वैश्य मानते हैं, अपना-अपना मुकुटमणि मानते हैं।

कुरुक्षेत्रमें सूर्य ग्रहणके महापर्व पर पधारेंगे वे भगवान वासुदेव। उनके श्रीचरणोंके दर्शन होंगे। हम उन पादपद्मोंमें प्रणिपात कर सकेंगे जो योगीन्द्र मुनीन्द्रोंके मानसमें कभी कदाचित क्षणार्धको आते हैं।

'क्या अर्पित करेंगे उनके श्रीचरणोंमें हम? यहीं आकर हृदय और बुद्धि सब साथ छोड़ देते हैं। किसीको कुछ सूझता नहीं हैं। अपने वर्गके बड़े विख्यात अनुभवी वृद्धोंसे पूछ देखा, कोई कुछ बतलाता नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि वस्तु कितनी बहुमूल्य है। कितनी दुर्लभ है।उसे प्राप्त करनेके लिए कितना दीर्घ प्रवास और कितना कष्ट उठाना पड़ेगा। कोई कुछ बतलाता ही नहीं हैं।

'भगवती रमा उनकी चरण-सेविका हैं। उनके प्रांगणमें लगा कल्पवृक्ष भी वहाँ व्यर्थ है। द्वारिकामें चिन्तामणि भी सामान्य पाषाणके समान उपेक्षणीय है। जिनके भ्रू-भङ्गसे महामाया कोटि-कोटिब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करती हैं, उन्हें कोई क्या देगा? सृष्टिकर्ता भी कङ्गाल है उनके सम्मुख। यही एक उत्तर मिलता है सर्वत्र।

अन्ततः कोई वैश्य अपने उन दयामय परमपालकके श्रीचरणोंमें रिक्तहस्त तो नहीं जायगा। क्या ले जाय वह?

सूर्य-ग्रहण अकस्मात नहीं आ गया है। वर्षों पूर्व इसकी सूचना मिल गयी थी। न होता यह सूर्य-ग्रहण, द्वारिकाके द्वार किसी व्यापारीके लिए तो कभी बन्द हुए नहीं। पता नहीं कबसे, सम्भवतः अपनी प्रथम यात्रासे—पहिले व्यापार प्रवाससे यही एक लालसा मनमें रही है, इसकी उत्कण्ठामें दूर-दूरकी कठिनतम यात्राएँ सम्पन्न हुई हैं—'कोई एक वस्तु भगवान वासुदेवके भी चरणोंमें उपस्थित करने योग्य प्राप्त हो जाय।'

जहां जिस प्रदेशमें जो दुर्लभतम वस्तु सुनी गयी, वहाँकी यात्रा की। कठिनतम यात्रा की। उस पदार्थको प्राप्त किया; किन्तु जब वह हाथमें आया, हृदय निराश हो गया—'यह तुच्छ पदार्थ सर्वेश्वरेश्वरके श्रीचरणोंमें?'

ऐसा भी हुआ, अनेक बार हुआ कि किसी पदार्थकी प्राप्तिमें प्रतिस्पर्धा हुई। अनेकोंने प्रतिस्पर्धाकी। जिसे अत्यधिक, असाधारण मूल्य देकर, कठिनतम श्रमके पश्चात् वह प्राप्त हुआ, उसे बधाई दी—'आप धन्य हुए। आपने ऐसा दुर्लभ पदार्थ पाया और उसे........।'

'आप अनुग्रह करेंगे उसे स्वीकार करनेका?' प्रायः यही अनुरोध सुननेको मिला। बड़ा शिथिल स्वर—'बड़ा उत्साह था; किन्तु वह अब तो व्यर्थ वस्तु है। भगवानवासुदेवके श्रीचरणोंमें उसे उपस्थित करनेमें लज्जानुभव होगा। आपके किसी उपयोगमें आसके।'

'वहाँ सुशोभित हो सके ऐसा कुछ किसीको कभी,कहीं मिलने वाला नहीं है।' एक वृद्ध वाणिक श्रेष्ठने कहा था—'व्यर्थकी दौड़ धूप है सब। वे इतने उदार शिरोमणि स्वामी हैं कि रत्न तो दूर, एक अनगढ़ा सामान्य नन्हा पाषाण खण्ड अथवा समुद्र-तट पर पड़ी कोई शुक्ति या कार्षापणिका (कौड़ी) ले जाओ, वे उसे उठा लेंगे। प्रेमसे देखेंगे, प्रशंसा करेंगे। पारितोषिकसे पूर्ण कर देंगे।'

बात सच है; किन्तु हृदय मानता नहीं। महापर्व पर उनके श्रीचरणोंमें उपस्थित होना ही है और कुछ नहीं मिला, कुछ उनके समीप ले जाने योग्य नहीं मिला और वे परम प्रतिपालिक मिलेंगे?

—:o:—

वन्य जातियाँ---

वासुदेव तो अपने हैं। वे कमल लोचन ही एक अपने हैं। वे अकेले हों तो और राजाओंके समुदायसे घिरे हों तो भी वे अपने हैं। वही हैं जो हम वनवासियोंको देखकर दौड़ आते हैं। वही हैं जो हमारी सुविधा समझ सकते हैं। वही हैं जिनसे खुलकर अपनी बात कही जा सकती है।

वासुदेव भगवान हैं। भगवान ही तो सबकी सुधि रख सकते हैं। सबके मनकी बात समझ सकते हैं। सबका यथोचित पालन कर सकते हैं। भगवानके अतिरिक्त दूसरा कौन सबको अपनानेमें समर्थ है।

नगरोंकी भीड़-भाड़, ऊँचे भवन और अश्व, गज, रथोंकी दौड़ा-दौड़में लगता है कि हमारी श्वास घुट जायगी। नगरोंके तो नन्हें शिशु भी इतने कृत्रिम लगते हैं जैसे खिलौने सजाये गये हों। नगरके नर नारी, बालक-वृद्ध सब हम लोगोंको ऐसे देखते हैं, जैसे हम वन-पशु हों।

नगरोंमें तो सब कहीं प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध हैं। जहाँ देखो वहीं प्रहरी खड़े हैं और वे—'इधर चलो, इधर मत चलो, यह करों, वह मत करो।' चलने-बैठने, दौड़ने-हँसने सब पर प्रतिबन्ध। पता नहीं नगरोंके लोग इतने प्रतिबन्धोंमें कैसे रह लेते हैं। लेकिन उनका स्वंयका जीवन भों तो जकड़ा है! पैरसे सिर तक वस्त्रोंसे ज कड़े रहेंगे। ग्रीष्ममें भी जकड़े रहेंगे वे। हमको तो बहुत विवश लगते हैं नागरिक जन। इतने पर भी इतना गर्व दिखलावेंगे कि पूछो मत।

हम वनवासी केहरी, भल्लूक, वाराह तथा वनगजके साथ खेल सकते हैं। व्याघ्रके साथ उसकी गुफामें शयन कर सकते हैं; किन्तु नागरिक लोग—ना इनसे दूर ही रहना भला। ये भी तो हमें देखकर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं।

पता नहीं क्यों भगवान वासुदेव इन नागरिकोंमें रहने लगे, वे तो भगवान हैं। उन्हें सबका पालन करना हैं। सब कहीं रह लेनेमें स्वतंत्र हैं—समर्थ हैं वे। इतने पर भी हम उनसे मिलने द्वारिका नहों जा पाते। द्वारिका तो महानगर हैं—ऊँचे भवनोंका विकटम वन। उसमें भूल जाओ तो भटकते रहो, पथ ही नहीं मिलेगा।

अब ग्रहण-स्नान करने हमारे वे वासुदेव भगवान कुरुक्षेत्र आवेंगे। कुरुक्षेत्र तो नगर नहीं है। वैसे नागरिक लोग जहाँ पहुँचते हैं, वहीं नगर बना डालते हैं। उन्हें नगरकी प्रतिबद्धताके बिना रहना ही नहीं आता। कुरुक्षेत्रमें भी वे दूर दूर तक वस्त्र-शिविर और तृणोंके भारी घेरे बना कर नगर बसा लेंगे, किन्तु हम लोग उनके नगरसे दूर वहाँ सरस्वती तट पर कहीं भी बस सकते हैं।

अन्ततः कुरुक्षेत्रमें ऋषि-मुनि भी तो आवेंगे। इन मुनियोंको भी हमारी ही भाँति नगर प्रिय नहीं होता। ये भी नागरिकोंसे दूर ही रहना उचित मानते हैं। ये भी कहीं सरस्वतीके समीप ही कुटिया बनावेंगे। हम सब ऋषि-मुनियोंसे भी थोड़ी दूर रहेंगे। उनकी भी कुछ सेवा कर दिया करेंगे। उन्हें भी कन्द, मूल, फल पहुँचा दिया करेंगे।

हमारे वासुदेव मिलेंगे हमें। उनके लिए वाराहको भी न मिल सके ऐसे दुर्लभ कन्द, भल्लूक सुलभ जड़ियाँ और उत्तम चर्म चाहिये। नागरिक नरेश तो ये पदार्थ उन्हें नहीं दे सकते।

प्रत्येक वनवासी जातिका मूखिया मानता है कि उसे ही सब दुर्लभ औषधियाँ, अलभ्य कंद, चर्म एवं सुन्दरत पक्षियोंके पंख संग्रह करने हैं। उसे ही सर्वश्रेष्ठ पालने योग्य उत्तम लक्षणों युक्त पशु तथा पक्षी भेंट देने हैं और इन्हें सुशिक्षित भी तो उसे ही करना है।

बहुत पहिलेसे वनवासी युवक अपने अग्रहीके आदेशसे घोरतम वनोंमें, दुर्गम पर्वतोंमें भटकते रहे हैं। भटकता तो रहा है उनका मुखिया स्वंय, उनकी स्त्रियाँ और बालक-बालिकाएँ भी। प्रत्येकके मनमें उमंग है—अपने वासुदेवको वह कोई उपहार देगा। कोई दुर्लभ उपहार देगा। उपाहर देगा तो उनकी ओरसे उनका मुखिया ही, किन्तु उनका उपहार—वासुदेव तो भगवान हैं, वे क्या नहीं जान लेगें कि उपहार किसका है।

ये उपहार बार बार परिवर्तित हुए हैं। बार बार इनमें कुछ अपूर्णता, कोई त्रुटि दीखी है। बार बार इनमें-से अनेक संशोधित हुए हैं। प्रत्येकको ही अपने उपहारसे पूरा संतोष नहीं है; किन्तु जो मिल सका, उसी पर तो सन्तोष करना है।

सबको पूरा विश्वास है, उचित विश्वास है कि वासुदेव उसका उपहार उमंग पूर्वक स्वीकार करेंगे। उसकी प्रशंसा करेंगे और अपने प्रिय जनोंको दिखलावेंगें, देंगे उन उपहारोंको। वे मिलेंगे। वे भगवान वासुदेव–अपने वासुदेव अपनोंका भाँति हँसते सुप्रसन्न मिलेंगें।

—०—

सामान्यजन---

अहो भाग्य अपना—सुनते हैं कि सुरोंको भी भगवान वासुदेवका दर्शन बहुत सुलभ नहीं है। योगीन्द्र-मुनीन्द्र उनका ध्यान करते रहते हैं। इस समय उन दयामयने पृथ्वीपर अवतार लिया है, किन्तु द्वारिका जाकर उनका दर्शन कर लेना इतना सुगम तो नहीं है। जीवनका परम भाग्योदय हो तब उनका दर्शन हो।

जीवनमें ऐसा सूर्य-ग्रहण ही कहाँ बार बार आता है। जीवनका भरोसा भी क्या कि कब तक रहे कब न रहे। गृह-प्रपञ्चमें पड़े हम सबके लिए इससे निकल कर तीर्थ-यात्राका संकल्प करना भी कठिन होता है। यह तो अवसर आ गया है। इतने अधिक लोग यात्रा कर रहे हैं कि मार्ग एवं यात्रा-सहचरका प्रश्न ही नहीं रहा है।

मार्गमें पड़ने वाले राज्योंके नरपति गणोंने पूरा मार्ग भली प्रकार बनवा दिया है। सुना है कि सरिताओंपर सेतु जहाँ नहीं बना सके हैं, वहाँ नौकाएॅं तीर्थयात्रियोंके लिए बिना कुछ लिये सुलभ हैं। नरेशोंने तथा धनिक व्यापारियोंने भी पथमें आवासका प्रबन्ध कर दिया है। अन्न-सत्र तथा प्रपा (प्याऊ) स्थापित कर दिये हैं स्थान-स्थानपर। इस समय तो मार्ग भी पूछना नहीं है। जैसे सब सज्जित मार्ग कुरुक्षेत्र ही जा रहे हों।

हम सामान्य लोगोंके लिए अपना उदर-भरण ही बड़ा काम होता है। हम तो पशुओंके समान अपना और अपने परिवारका भरण पोषण करनेसे ही अवकाश नहीं पाते हैं। कभी भगवानकी कृपा होती है, तब हम जैसोंमें-से किसीके मनमें दान-धर्म,तीर्थ-व्रत जैसे पुण्य करनेकी इच्छा जागती है।

हमारे समीप कहाँ साधन हैं कि हम तीर्थ यात्रियोंके लिए धर्मशालाएँ, कूप, सरोवर बनवायेंगे अथवा अन्न-सत्र चलावेंगे। दूसरे सम्पन्न लोगोंके द्वारा प्रदत्त सुविधाके द्वारा तीर्थ कर आवें, यही हमारा बड़ा पुण्य। मुट्ठी भर अन्न, दो मुट्ठी तृण किसीको कभी दे सकें तो बड़ा दान कर चुके। जिन्होंने पहिले जन्ममें दिया है, वे देने योग्य हुए हैं।

दुःख और दरिद्रता पूर्वकृत अपकर्मोंके फल ही तो हैं। अतएव क्या दोष है दूसरोंका—धनीवर्गका या नरेशोंका कि वे हम कङ्गलोंसे पृथक रहना चाहते हैं। हम कुछ पुण्य करें, कुछ जप-तप करें, , तब तो आगे सम्मानके भाजन होंगे। वैसे यह मोह, यह ममता ही कुछ करने नहीं देती। अन्यथा दरिद्रको तप, ब्रत, जप करनेसे रोकता कौन है।

कठिनाई होती है वहाँ जाने, रहनेमें जहाँ बहुत सम्पन्न लोग एकत्र हों। कोई तिरस्कृत न भी करे, अपना ही मन क्या वहाँ कुछ खुलकर करने देता है ? उठने-बैठने बोलने-चालने, मिलने में, सबमें ही तो संकोच होता है । अपनी ही बुद्धि तो कुण्ठित हो जाती है ऐसे समाजमें पहुँच कर ।

कुरुक्षेत्रमें इस अवसर पर देश-देशके नरेश आवेंगे अपने परिकरोंके साथ। प्रायः सब धनी वर्ग आवेगा । ऐसे समय तीर्थ पुरोहित, सामान्य सेवक, शाकादिके व्यवसायी क्या साधारण लोगोंकी ओर ध्यान दे सकेंगे ? जहाँ सब नरेश एवं अधिकाँश नगरोंके श्रेष्ठि एकत्र होंगे, वहाँ साधारण व्यक्ति कहाँ रहेगा ? क्या करेगा ? वह यात्री आवासोंमें रह तो लेगा; किन्तु उसकी यात्रा भी कोई यात्रा है ? उसके तीर्थ कर्म पूरे करानेको कोई मिलेगा ?

अपने कुलके तीर्थ पुरोहित होंगे वहाँ। वे अपने ग्राम, अपने राज्यके सभी सामान्य-जनोंका तीर्थ कर्म सम्पन्न करानेको कोई एक सेवक अपना नियुक्त कर देंगे, इतना भी क्या कम है ?

इस समय वहाँ तीर्थ यात्रा मुख्य कहाँ रह गयी है । वहाँ एक आवेंगे—वे नवधन सुन्दर पुरुषोत्तम जो अनाथ-नाथ हैं । उन दीनबन्धुको राजाओं तथा श्रेष्ठजनोंसे क्या कुछ लेना है ? उनके श्रीचरणों तक महामुनीन्द्र । योगसिद्ध महातापस पहुँचें या न पहुँचे, कोई अकिञ्चन, अनाथ कैसे नहीं पहुँचेगा ? वे पतिति पावन कहाँ देखते हैं कि किसने कितने पुण्य किये हैं ।

कुरुक्षेत्र यात्राका, ग्रहण स्नानका और दूसरा भी जीवनमें कभी कुछ पुण्य, परोपकार, देवपूजनादि धर्म बना हो तो वह इस समय सहायक हो । उस सबका फल—परमफल यह हो कि कमल-लोचन वासुदेवके दर्शन हो जायँ । भले दूरसे दर्शन हों, किन्तु एक बार उनकी झाँकी ये नेत्र कर लें ।

वे दीनबन्धु, अनाश्रयाश्रय, अधमोद्धारण, करुणा-सिन्धु वहाँ मिलेंगे । मिलेंगे वे सौन्दर्य-सुषमा-सिन्धु । उनका दर्शन होगा वहाँ ।



सेवकगण--

विपुल उत्साह है सेवकगणोंमें । उन सेवकगणोंमें, जिन्हें कुरुक्षेत्र इस ग्रहण-स्नानके अवसर पर उपस्थित रहनेका सुयोग प्राप्त हो गया है । इनमें राजाओंके, श्रेष्ठियोंके तथा अन्य तीर्थ यात्रियोंके सेवक हैं । कुरुक्षेत्रके तीर्थ पुरोहितोंके सेवक तो हैं ही ।

'आप भी तीर्थ यात्रा कर लें । सुना है कि ऐसा सूर्य-ग्रहण प्रलयकालके समय होता है ।' सेवकोंने अपने स्वामियोंको, सेविकाओंने स्वामिनियोंको प्रोत्साहित किया है ।

'आप सदनकी चिन्ता न करें । हम आपको शीघ्र यहाँका सम्वाद देंगे । सेवक-सेविकाओंमें प्रायः सब कहीं एक सहमति हो गयी है । जिनको नगरोंमें ग्राममें वहाँके कार्योंमें लगे रहना है, उन्होंने स्वामीके साथ जाने वाले सेवकसे यथा-सम्भव समझौता कर लिया है कि वे सम्वाद देने आवेंगे तो जो अभी जा रहे हैं, वे लौट आवेंगे जिससे नवीन जाने वालोंको चार दिन तीर्थमें रहनेका अवसर मिल जाय—'ग्रहण स्नान न सही, तीर्थ स्नान हो जायगा और भगवान वासुदेवके दर्शन हो जायँगे ।'

'हम सेवकोंका कर्तव्य तो अपने स्वामीके आदेशका पालन है । हम कहाँ कोई यात्रा करनेमें स्वतन्त्र हैं । आपका परम सौभाग्य कि उन पुरुषोत्तमका दर्शन करनेका सुयोग मिलेगा ।' बहुत अधिक सेवक-सेविकाएँ हैं, जिनको उनके स्वामी अपने सदन छोड़ रहे हैं । यात्रामें सभी कम-से-कम सेवक साथ ले चलना चाहते हैं । अपनी अनुपस्थितिमें गृहरक्षा एवं गुरुजनोंकी सेवाका विशेष दायित्व सेवकों पर ही गृहपतिको छोड़ना है । अतः सेवकोंका एक बड़ा वर्ग तो कुरुक्षेत्र जानेसे वञ्चित रहेगा ही । इसी प्रकारसे सेविकाओंका भी एक बड़ा वर्ग नहीं जा सकेगा ।

'उन इन्दीवर सुन्दर वनमाली वासुदेवकी तनिकसी पदरज ले आना हमारे लिए । केवल सेवक-सेविका ही आग्रह करते हों, ऐसा नहीं है । जो भी छूट रहे हैं, उन सबका आग्रह है । जिनके गृहोंसे कोई नहीं जा रहा, उनका भी जाने वालोंसे आग्रह है ।

कुरुक्षेत्र सभी लोग तो नहीं जा सकते । वृद्ध, बालक यात्रामें असमर्थ होते हैं । तरुणोंमें भी सबको सुयोग नहीं है । गृह-रक्षा तथा अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य रोकते हैं । सब इतने पुण्यात्मा तो नहीं कि भगवान वासुदेवके पादपद्मोंका दर्शन पा सकें । सृष्टिका जो सञ्चालन करती हैं, उन महामायाके समीप प्राणीको अपने आवर्तोंमें

उलझाये रखनेके असंख्य उपाय हैं। उन्हें पता है, कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि-सीमामें पहुँचने पर प्राणी भवाटवीसे पार हो चुका होता है।

उनकी तनिकसी पदरज—यह परम काम्य है जाने वालोंकी और न जाने वालोंकी भी। न जाने वाले केवल जाने वालोंसे अनुनय कर सकते हैं। उनके आश्वासनके कारण आशा रख सकते हैं।

द्वारिकाके राजसदनके समान मणिभूमि तो नहीं है कुरुक्षेत्रमें। वे गरुड़ध्वज भुवन पावन वहाँ सब समय तो रथ पर ही नहीं चलेंगे। वे सर्वज्ञ, परमदयालु हम अधम-जनोंकी अभिलाषा क्या नहीं समझेंगे ? वे हमारी आन्तरिक अभीप्सा अवश्य पूर्ण करेंगे।

हम तो सेवक हैं—पराधीन सेवक। कुरुक्षेत्र पहुँच कर भी हमें सेवा-व्यस्त ही रहना है। कठिनाईसे पर्व-स्नानकी आज्ञा हमें मिलेगी अपने प्रतिपालकसे। सेवाका, कर्तव्यका भार प्रवासमें बढ़ता ही है।

श्रीद्वारिकेशके शिविर हमें किसी कार्यसे हमारे अधिपति भेज सकते हैं। तीर्थ स्नानके समय, आपाणमें कुछ लेने जाने पर, देवदर्शनके समय भी तो उन भगवान वासुदेवके दर्शन हो सकते हैं। वे हमारे शिविरकी ओरसे कभी निकलेंगे नहीं ?

यह सब छलना है। वे दया धाम स्वयं दया करें तभी उनका दर्शन सम्भव है। कुरुक्षेत्रमें लक्ष-लक्ष मानव आवेंगे। सबको उन भुवन-मोहनके दर्शन करने हैं। ऐसा भाग्यहीन कौन होगा जो उनकी पदरज पाना न चाहे। वे जिधर निकलेंगे, सम्पूर्ण जन-सुमदाय उधर उमड़ पड़ेगा। विप्रोंकी, नरपतियोंकी, सूत-मागधादिकी भीड़ घेरे ही रहेगी उन्हें। किसी छुद्र सेवककी उनके पादपङ्कजों तक पहुँच सम्भव है ?

अपने प्रयत्नसे तो उनके श्रीचरणों तक नरपति भी नहीं पहुँच पाते। लोकोत्तर धर्मात्मा, तपस्वी, योगीजन जन्म-जन्मकी साधनासे उनके पादप्रान्त तक ही तो पहुँचना चाहते हैं। वहाँ हम अत्यन्त तुच्छ, पराधीन सेवक ?

उनके सम्मुख तो सबसे हीन, उपेक्षणीय कोई नहीं। वे ही तो अनाथ-नाथ हैं। उनकी कृपाका ही बल है। वे आवेंगे, अपनी अहैतुकी कृपासे ही मिलेंगे वे हमसे अधमोंको—मिलेंगे वे पतित पावन।

—०—

तीर्थपुरोहित--

अन्तर क्या पड़ता है इमसे कि हम यदुकुलके तीर्थ पुरोहित नहीं हैं। ब्रह्माण किसी भी यात्रीको आशीर्वाद दे सकता है। तीर्थ-यात्री दूसरे किसी ब्राह्मणको दान न करे, ऐसा प्रतिबन्ध तो कोई है नहीं। अपने आचार्यका सम्मान करे, उन्हें यथेच्छ दक्षिणा दे, इसमें हम सबको भला क्यों बाधा होगी। इस समय तो यदुकुलके पुरोहित ही हममें प्रधान हैं। हमको उनका अनुगमन करना है।

भगवान वासुदेवकी चरण सेविका हैं भगवती सिन्धुसुता। सुना तो यह भी है कि वे कल्पतरु इस यात्रामें साथ ला रहे हैं। क्यों ला रहे होंगे? यह भी नर-नाट्य ही है उनका, अन्यथा जिनकी इच्छा मात्रसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि-प्रलय होती रहती है, उन्हें किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिए कल्पवृक्षकी कोई आवश्कता है? उनके पादार-विन्द क्या समीप आगतके वान्छा-कल्पतरु नहीं हैं?

अब वे कल्प वृक्ष तो ला ही रहे हैं। किसी दुर्भाग्यसे किसीके मनमें अर्थ, धर्म, कामके क्षेत्रमें कुछ पानेकी कामना ही हो तो द्वारिकाके शिविरमें ब्राह्मणके प्रवेश पर प्रतिबन्ध नहीं रहने वाला है। जिसके जी में आये, कल्प वृक्षके नीचे स्वयं जा खड़े हो और जो मांगना-लेना हो, तो आओ। इसमें उन श्रीद्वारिकानाथसे भी कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऐसी अवस्थाएँ यहाँ किसी तीर्थपुरोहित, किसी याचकको भी क्या किसी अन्यका मुख देखनेकी आवश्यकता है? किसीको अपेक्षा है कि उसे कोई दान दे?

पौरोहित्य वैसे भी प्रशस्त कर्म नहीं है और उसमें भी तीर्थ-पुरोहित तो ब्राह्मण-समाजमें कभी श्रेष्ठ माना नहीं गया; किन्तु श्रेष्ठ-कनिष्ठका प्रश्न नहीं है। प्रश्न है कर्तव्य पालनका और उसमें हम प्रमाद नहीं कर सकते।

तीर्थ-यात्री दृढ़ श्रद्धा लेकर, अनेक प्रकारके कष्ट उठाकर दीर्घ प्रवासके पश्चात् तीर्थमें पहुँचते हैं। अपने गृह-जीवनमें वे कैसे भी रहे हों, तीर्थयात्राके समय तपस्वी, संयमी, विनम्र एवं उदार होते हैं। ऐसे समय उन्हें सुख-सुविधा उपलब्ध करा देना, उनके तीर्थ-कृत्य सम्यक् सम्पादिन करा देना तीर्थ-पुरोहितका कर्तव्य है।

दक्षिणा-ग्रहण भी तो यात्री की तीर्थ-यात्रा पूर्ण करनेका आवश्यक अङ्ग है। अपनी शक्तिके अनुसार वह दक्षिणा देता ही है। उसमें जागृत श्रद्धा होती है। तीर्थ-पुरोहितकी आवश्यकताका प्रश्न नहीं है, निर्धनतम यजमानको भी सम्पूर्ण सुविधा

प्रदान करके, उसके तीर्थकृत्य पूर्ण करानेके पश्चात् उसकी अत्यल्प दक्षिणा हममें-से सम्पन्नतम तीर्थपुरोहित भी उसी उत्साहसे स्वीकार करते हैं, जिस उत्साहसे सम्राटके गज-दान लेते हैं। अतः हम सबको आवश्यकता हो या न हो, इस अवसर पर भी अपने यजमानोंकी दक्षिणा तो ग्रहण करनी ही है।

तीर्थपुरोहित यदि यात्रीकी सेवामें, उसके तीर्थकृत्य सम्पन्न करानेमें प्रमाद करता है, आलस्य या लोभसे अभिभूत होता है तो पाप-भाजन होता है, किन्तु प्रमाद, लोभ तो सर्वत्र ही दोष हैं। तीर्थपुरोहित इनसे बचा रहे तो उसका कर्तव्य उसे श्रमशीलता, विनम्रता, तितीक्षादि सद्गुण स्वतः दे देता है।

तीर्थपुरोहितका पुण्य है श्रद्धालु यात्रीकी सेवा। इसी पुण्यका प्रसाद है कि उसे बिना तप त्याग तथा अन्य किसी साधनके आश्रमके अपने स्थान पर रहते ही लोक-पावन ऋषि-मुनियोंके महापुरुषोंके दर्शन प्राप्त होते रहते हैं। उनकी सेवका भी सौभाग्य मिलता रहता हैं। अनेक बार उनके उपदेशामृत श्रवणका सुयोग मिलता है।

इसी परम पुण्यका फल है कि अब वे परम-पुरुष पुरुषोत्तम भगवान वासुदेव पधार रहे है। सुरेन्द्र भी कठिनाईसे जिनके पादपीठ पर केवल प्रणतिका अवसर पाते हैं, उनके समीप जानेका, उन्हें आशीर्वचन कहनेका अवसर आ रहा है। अनेक दिन वे यहाँ विराजेंगे और हम सबको उनका दर्शन सुलभ रहेगा।

जन्म-जन्मकी तृष्णा जिनका स्मरण दूर कर देती है, वे वनमाली आ रहे है। उनके पादपद्म हृदयमें आते हैं तो कामना सदाके लिए पलायन कर जाती हैं। उनसे भी क्या कुछ पाना हैं? वैसे वे ब्राह्मण्यदेव हैं और हम तो प्रतिग्रह-जीवी ब्राह्मण हैं। उनके करोंका दान प्राप्त होनेका अवसर हो तो धनाध्यक्ष कुबेर भी अलका त्यागकर कंगालोंकी पक्तिमें बैठना चाहेगा। हमको उनका दान प्राप्त होना ही है, वह दान जो गृहीताको फिर कभी किसीके सम्मुख कर फैलानेकी आवश्यकता अनुभव नहीं करने देता।

वे कल्पवृक्ष लेकर आ रहे हैं; किन्तु किसे कल्पवृक्षकी आवश्यकता हैं? उनके दर्शन मिलेंगे, वे मिलेंगे हमें साक्षात् परमपुरुष भगवान वासुदेव।

—:०:—

तृतीय खण्ड

[हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थके लोग]

शकुनि—

अपना लक्ष्य जैसे प्राप्त हो सकता हो, उसे बिना हिचक प्राप्त करना चाहिये, यही कूटनीतिका मूलसूत्र है और इसीको हमारे पूर्वजोंकी परम्पराने स्वीकार किया है। भारतीय नरेशोंकी कोरी आदर्शवादिता स्वयं उनको तथा उनके आश्रितोंको कष्ट दिया करती है।

हमारे पूर्व-पुरुष हिमालयके तनिक उस पार जा बसे तो यहाँके लोग उन्हें उपगण कहने लगे, यह बात तो समझमें आ सकती है; किन्तु केवल इसलिए कि हम शूर हैं, हमें अपना लक्ष्य सीधे प्राप्त करना आता है, हम कोरी आदर्शवादिताका राग नहीं अलापते, हमें 'अपगण' कहकर तिरस्कृत किया जाय और हमारे गान्धार को अपगणस्था * कहा जाय, यह यहाँके लोगोंका औधत्य सहन करने योग्य नहीं है।

हस्तिनापुरके अन्ध राजकुमारके साथ अपनी बहिनका विवाह कर देनेको मैंने पिताजीको अकारण तो प्रस्तुत नहीं किया था। धृतराष्ट्र ज्येष्ठ कुमार थे। नियमतः उन्हें सम्राट होना चाहिए था और तब शकुनि उनका महामन्त्री हो जाता। लेकिन उन्हें राज्य-वञ्चित कर दिया यहाँके ऋषि-मुनियोंने। पाण्डुको राज्य मिला। मेरी अभिलाषा ध्वस्त हो गयी।

यह तो शकुनिका सौभाग्य कि पाण्डु अल्पायु निकला। उसकी मृत्युके पश्चात् मेरे संकल्पको सफल होनेका सुयोग्य उपस्थित हुआ। धृतराष्ट्र भले सम्राट कहे जायँ, सभी जानते हैं कि राज्यका वास्तविक शासक सुयोधन है।

योग्य है मेरा भागिनेय सुयोधन। मेरी बहिन गन्धारीके सौ पुत्र—सब योग्य है। सब अपने अग्रजके दृढ़ अनुवर्ती हैं। सुयोधन मेरी सुनता है। भले मैं कौरवराजका घोषित मन्त्री नहीं हूँ, मन्त्रणा मेरी ही चलती है।

पाण्डुके पुत्र न आगये होते बीचमें, तो सब बात मैंने बनाली थी। भीष्म और द्रोणाचार्यने क्या कर लिया जब शकुनिकी मन्त्रणाने पाण्डवोंको लाक्षागृह भेजकर भस्म ही कर दिया था; किन्तु बच गये अपने भाग्यसे वे ओर बच ही नहीं गये, पाञ्चाल राजकुमारीको स्वयम्बरमें प्राप्त करके द्रुपदके सम्बन्धी बन गये। फलतः उन्हें हस्तिनापुरसे पृथक करना पड़ा।

पाण्डुपुत्रोंको मेरी मन्त्रणासे इन्द्रप्रस्थ भेज दिया गया है। वे वनमें उत्पन्न हुए। लाक्षागृहसे बचकर भी वनमें रहे। वनमें रहनेके वे अभ्यासी हैं। उनको वनमें

---

* गांधारका अपभ्रंश कन्धार होगया है और अपगण स्थानका अफगानिस्तान।

रहकर तप करना चाहिये। राज्य और राजधानी उनके उपयुक्त नहीं है। खाण्डव-वनके समीपका गाँव इन्द्रप्रस्थ उनके लिए पर्याप्त है।

कठिनाई यह है कि श्रीकृष्ण इस मेरी योजनामें हस्तक्षेप करने लगे हैं। पता नहीं उन्हें क्यों अब अन्यत्र दत्तक गयी वासुदेवकी बहिन पृथा और उसके पुत्रोंमें रुचि हो गयी है। उन्हें बुआके ही पुत्र प्रिय हैं तो शिशुपाल है, दन्तवक्र है, विन्द-अनुविन्द हैं, ये भी तो उनकी बुआके ही पुत्र हैं। इनसे घनिष्ठता क्यों नहीं बढ़ाते वे ? ये सब सुयोधनके समर्थक हैं और सुयोधनने वासुदेवके पुत्र साम्बको अपनी कन्या दी है। उका सम्बन्धी है वह।

कृष्णके चक्रका जैसे कोई उपाय नहीं है, वह अमोघ है, त्रिभुवनमें अद्वितीय है, वैसे ही उनकी बुद्धिमत्ताकी भी समता नहीं है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। राजनितिका मूलमन्त्र है कि कभी कटु न बनना। हँसते-हँसते, स्वागत करते हुए शत्रुका समूलोन्मूलन करनेका दृढ़ प्रयत्न करना और इस आचारमें शकुनि भी वासुदेवकी क्षमताकी तुलनाका साहस नहीं कर पाता।

कृष्णने यादवोंको लगभग अजेय बना दिया है द्वारिका जैसे दुर्गका आश्रय देकर। अब वे उग्रसेनको राजाधिराज कहते हैं तो कुरुराजको आपत्ति नहीं है। भले सुयोधनने विवश होकर कन्या दी; किन्तु बलराम शस्त्र-शिक्षा गुरु हैं कुरुराजके। उनसे पराजयमें हनत्व नहीं है। अब कन्या दे दी तो वह पक्ष बड़ा तो हो गया। अतः वासुदेवका हम सब सम्मान कर लेंगे।

सुयोधनकी समृद्धिमें, कौरवोंके वैभवमें यादवोंको प्रसन्न होना चाहिये। अब यदि कुरुराज सम्राट होते हैं तो कृष्ण उनके सम्मान्य ही रहेंगे; किन्तु कृष्णकी नीति किसीकी समझमें नहीं आती। उन्होंने मथुरासे ही भेज दिया था अक्रूरको हस्तिनापुर पाण्डु-पुत्रोंको समर्थन देनेके लिए। क्या धरा है पाण्डवोंके समीप ? वासुदेवने इन्द्रप्रस्थको महानगर बनवा दिया उनके लिए और खाण्डववन भस्म करा दिया। युधिष्ठरके लिए दानवेन्द्रमयके द्वारा सुर-दुर्लभ राजसभा बनवादी।

इन वासुदेवसे सावधान रहना पड़ेगा। इन्हें पूरा प्रयत्न करना होगा। देखना होगा कि इनको सुयोधनका समर्थक बनाया जा सकता है या नहीं। अब ये कुरुक्षेत्र मिलेंगे।



दुर्योधन–

अक्रूर आये थे मथुरासे पिताजीके समीप । उसी समय स्पष्ट हो गया था कि वासुदेव पाण्डवोंका पक्ष लेंगे; किन्तु वे मुझसे रुष्ट हों, इसका तो कोई कारण नहीं है । मैंने यादवोंका कोई अनिष्ट नहीं किया है ।

जहाँ तक कन्या देनेसे पूर्व साम्बसे संघर्ष एवं उसे बन्दी बनानेकी बात है, क्षत्रियोंमें किसीको जामाता बनानेसे पूर्व उसके तथा उसके कुलकी शक्ति-परीक्षा कहीं शत्रुताका कारण नहीं मानी जाती । वह प्रसङ्ग समाप्त हो गया जब मैंने कन्याका विवाह कर दिया । अब तो श्रीकृष्ण मेरे सम्बन्धी हैं ।

पाडण्वोंको उन्होंने इन्द्रप्रस्थका महानगर बनवा दिया, दानवेन्द्र मयके द्वारा राजसभा बनवा दिया, इसका मैं बुरा नहीं मानता । मुझे ऐसा दान किसीका नहीं चाहिये । वैसे भी यादव कन्या लेकर हमारे गृहीता हो गये हैं । हम उन्हें देने वाले हैं । उनसे लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता । अतः अपनी बुआके पुत्रोंको वे जो चाहे वह दें, इसमें मुझे क्यों बुरा लगेगा ।

मातुल शकुनि ठीक कहते हैं कि मनुष्य सत्कारसे सानुकूल बनता है । पितामह-भीष्म, आचार्य द्रोण जैसे महामनस्वी मेरे सत्कारसे, सेवासे ही मेरे अनुकूल हुए हैं । मैं क्या जानता नहीं हूँ कि ये लोग पाण्डवोंसे कितना प्रेम करते हैं । महामनस्वी कर्णको मेरे सत्कारने ही मेरा अभिन्न मित्र बना दिया है । अतः कोई कारण नहीं है कि श्रीकृष्ण सत्कारके द्वारा सानुकूल न किये जा सकें ।

अर्जुनसे उनकी मित्रता है, यह ठीक है ; किन्तु पितामह और आचार्यको भी तो वह मध्यम पाण्डव प्रिय है । ऐसे ही वासुदेवको भी प्रिय बना रहे ; किन्तु वे उसकी सक्रिय सहायता न करे, ऐसा होना असम्भव तो नहीं है ।

मुझसे हीं थोड़ा प्रमाद हुआ । मैंने उन्हें आमन्त्रित नहीं किया हस्तिनापुर । अपनी बुआसे मिलने वे इन्द्रप्रस्थ आ सकते हैं ; किन्तु मेरे तो सम्मान्य सम्बन्धी हैं, मुझे आमन्त्रित करना चाहिये था ।

साम्बने मेरी कन्याका हरण किया था, अत :अपने गौरवके अनुरूप हमने प्रतिकार किया । मेरे गुरुदेव भगवान संकर्षण अनन्त पराक्रम हैं । उनके सम्मुख पराजित होनेमें कोई अपमान नहीं था हमारा ; किन्तु उस समय अपनी कन्याके दहेजमें चाहे जो कुछ मैंने दिया, वह मेरी ओरसे सत्कार किया गया, यह तो कोई मानेगा नहीं ।

कृष्णचन्द्र तथा दूसरे यादवोंने यदि मेरे उपहार भयके कारण दिये गये माने हों, तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

उसके पश्चात् कोई अवसर नहीं आया। वे मुझे आमन्त्रित करें, इसकी आशा मुझे नहीं करनी चाहिये। मैं स्वयं बिना कोई महत्त्वपूर्ण कारण हुए द्वारिका नहीं जा सकता ; किन्तु अपनी कन्याको जामाताको तथा श्रीकृष्णचन्द्रको हस्तिनापुर तो आमन्त्रित कर ही सकता था। मैं अपनी कन्याको बुला लेता तो उसके विदाके समय श्रीकृष्णचन्द्रको आमन्त्रित कर सकता था।

अब सूर्यग्रहणके महापर्व पर श्रीकृष्ण सपरिवार कुरुक्षेत्र आ रहे हैं। इस अवसर पर पूरे यादव समाजका मैं सत्कार करूँगा। मुझे उनका सत्कार करनेका स्वत्व प्राप्त है। वे मेरे उपहारोंको अस्वीकार नहीं कर सकते।

मैं श्रीकृष्णको हस्तिनापुर आमन्त्रित करके उनका सत्कार करूँ तो मेरे समर्थक नरपति वर्गमें भ्रम हो सकता है। मैं यादवोंसे भयभीत होकर उनका अनुगामी बन गया हूँ, यह भ्रम तो किसीके मनमें नहीं होना चाहिये। मगधराज जरासन्ध भी मेरा सम्मान करते हैं। यादवोंका अनुगामी तो कुरुराज कभी बनेगा नहीं। दुर्योधन निखिल राजन्य मुकुट मणि होनेके लिए उत्पन्न हुआ है। यादव आज शक्तिशाली हुए हैं, अन्यथा वे हस्तिनापुरके वशवर्ती ही रहे हैं। वे हमारे सामन्त ही तो हैं।

मैं श्रीकृष्णको हस्तिनापुर आमन्त्रित नहीं कर सकता। यदि वे स्वयं आजायँ, उनका यथोचित सत्कार करूँगा मैं ; किन्तु वे क्या स्वयं आवेंगे ? मुझे अवसर मिलेगा उनका सत्कार करने का ?

अवसर इस समय है। तीर्थ स्थलमें सब विवाद-विस्मृत करके विरोधियोंका भी सत्कार किया जाता है। सुना है—मगधराज भी आ रहे हैं। आवेंगे तो वे भी यादवोंका सत्कार ही करेंगे। अतः मैं भरपूर सत्कार करूँगा श्रीकृष्णचन्द्रका यहाँ। वे यहाँ मुझसे मिलेंगे। मैं भी उनसे खुलकर मिल सकूँगा।

———

दु:शासन---

अनुजका कर्तव्य है अग्रजका अनुगमन। मैं अपने महान अग्रजका अनुगामी हूँ; किन्तु उनकी बहुतसी बातें मेरी समझमें नहीं आती हैं। अब मातुल शकुनि और मेरे अग्रज श्रीकृष्णको सत्कार करके, उपहार देकर अपने पक्षमें करना चाहते हैं, यह बात मैं किसी प्रकार समझ नहीं पाता हूँ।

साम, दान, दण्ड और भेद—चार ही नीति हैं। पाँचवीं कोई नीति मैंने तो सुनी नहीं। मुझे ये चारों वासुदेवके सम्बन्धमें निष्फल लगती हैं।

मुनिगण भी कहते हैं कि वासुदेव बुद्धि एवं विद्यामें अद्वितीय हैं। अतः उन्हें सामके द्वार समझाकर कैसे अपने पक्षमें लाया जा सकता है ? वे सोच समझकर, जिसे अपने लिए उपयोगी, उचित मानते हैं, उसका पक्ष ग्रहण करते हैं। उनको अपने निर्णयसे विचलित करनेका विचार भी अज्ञता है।

सुरेन्द्रको पराभव देकर उन्होंने अमरावतीके नन्दनकाननसे कल्पद्रुम अपने अन्तःपुरमें लाकर लगा दिया है। उन्हें अब हम ऐसा क्या दे सकते हैं जो उनको सन्तुष्ट कर सके ? मातुल और अग्रजकी दान नीति मुझे सर्वथा विफल लगती है। अग्रज यह सीधी बात भी नहीं समझते हैं कि हम चाहे जो दें, जितना दें, वह सब अग्रजके जामाताको उपहार माना जायगा। उससे वहाँ कोई उपकृत होने वाला नहीं है। उसे स्वीकार करना उनका स्वत्व हो गया है।

दण्डकी बातका समय नहीं है। केशवसे शत्रुता करनेका कोई कारण नहीं। एक बार हमने सिर उठाकर देख तो लिया था। 'त्राहि-त्राहि' पुकारते शीघ्र दौड़ न पड़े होते तो श्रीसङ्कर्षणका हल हमारे नगरको और हमें गङ्गामें फेंक चुका होता। उन अप्रमेय श्रीहलधरके रहते उनके अनुजसे शत्रुता करनेका हम साहस करेंगे ? यह न भी हो तो भी क्या यह भूलनेकी बात है कि लोक-भयङ्कर यमराजकी साक्षात् भगिनी श्रीकृष्णकी पट्टमहिषी हैं ? उन महिषवाहनका कोप-भाजन बननेका साहस है किसीमें ?

पाण्डपुत्रोंके साथ श्रीकृष्णकी प्रीति सहज है। किसी स्वार्थको लेकर वह होती तो उसमें भेदका प्रवेश सम्भव था। पाण्डवोंका वैभव उन वासुदेवके कारण है। वे श्रीकृष्णके कृतज्ञ हैं और हमसे उनका चाहे जितना विरोध हो, हमारे प्रति भी कोई कुटिलता उन्होंने कभी नहीं की। ऐसी अवस्थामें उनसे श्रीकृष्णका भेद किस प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है ?

मैं मानता हूँ कि मातुल जैसी कूटनीति मुझे नहीं आती। मेरा विश्वास अपने बाहुबलमें है। वासुदेव हमारे भी सम्बन्धी हैं। हमें अपने इस सम्बन्धको सावधानी पूर्वक सक्रिय रखना चाहिये। हमारा व्यवहार ऐसा अवश्य रहना चाहिये कि हमारे सम्बन्धीकी उपेक्षा श्रीकृष्ण न कर सकें।

हममें और पाण्डवोंमें पट तो कभी सकती नहीं। हमारा संघर्ष अनिवार्य है। श्रीकृष्ण पाण्डवोंके प्रत्यक्ष पक्षधर हैं; किन्तु लोकमतकी, लोकाचारकी उपेक्षा तो वे भी कर नहीं सकते। हम उनके साथ अपने सम्बन्धको सबके सम्मुख महत्व देते रहेंगे तो पाण्डवोंसे जब भी हमारा संघर्ष होगा, हमारा सम्बन्ध उन्हें तटस्थ रख सकता है। पाण्डवोंका खुला समर्थन करनेमें उन्हें भी संकोच होगा।

इस समय महापर्व पर कुरुक्षेत्रमें देशके प्रायः सभी नरेश पधारेंगे। प्रजाजनोंका भी विशाल समुदाय एकत्र होगा। अग्रजका यह विचार उत्तम है कि इस अवसर पर यादवोंका हमें भली प्रकार सत्कार करना चाहिये। भरपूर भेंट देनी चाहिये उन्हें। इस सत्कार तथा भेंटको भरपूर प्रचारित किया जाना चाहिये। मैं यह करूँगा। अधिकसे अधिक लोगोंको जानना चाहिये कि कुरुराजने अपनी कन्या तथा जामाताका, जामाताके स्वजनोंका कैसा विपुल सत्कार किया है।

हम सब भाइयोंको श्रीकृष्णसे निकट सम्पर्क बनाना चाहिये। वे इतने सुन्दर, इतने सुकुमार होकर भी इतने वीर कैसे हैं? मेरे मनमें यह बहुत उत्सुकता है। उन्होंने लगभग बारह वर्षकी ही अवस्थामें कंसके कुवलयापीड महागजको मार दिया। कंसके प्रसिद्ध मल्लोंको अखाड़ेमें पछाड़ा और स्वयं कंसको भी मार दिया। यह उनका कैसा कौशल है?

मेरे मनमें उन्हें निकटसे देखनेकी, उनके शरीरको स्पर्श करनेकी उत्सुकता है बहुत दिनोंसे। कोई अस्त्र-शस्त्रके ज्ञानमें बहुत निपुण हो सकता है; किन्तु शरीर बलमें तो कौशल काम नहीं देता। इतना सुकुमार शरीर और सुप्रसिद्ध मल्लोंको मल्लयुद्धमें मार देनेका कौशल? यह क्या है? निकटसे मैं देख सकूँगा उन्हें। मिलेंगे इस अवसर पर वे वासुदेव।



मनस्वी कर्ण–

अचिन्तनीय है नियतिका विधान। अन्यथा क्या भगवान भुवन भास्करका साक्षात् पुत्र लोकमें सूतपुत्र प्रख्यात होता। यह नियति ही है मेरी कि मैं अपने ही भाइयोंका विपक्षी बन गया हूँ और उनके विरोधी कौरवोंका मित्र हूँ। मैं अपनी ही मान्यताके विपरीत व्यवहार करनेको विवश हो गया हूँ।

मैं कैसे भूल सकता हूँ उस दिनको जब कुरुकुलके राजकुमारोंके अस्त्रज्ञान परीक्षणकी सभामें सबके सम्मुख मुझे सूतपुत्र कहकर तिरस्कृत किया गया।

मैं सूतपुत्र तो हूँ। सम्मान्य हैं मेरे लिए मेरे पालनकर्ता पिता अधिरथजी। मैं उनके स्नेह, वात्सल्यका तिरस्कार नहीं कर सकता। ऐसे ही मैं सुयोधनका उपकार भी कैसे भूल सकता हूँ। जब भरी सभामें 'सूतपुत्र' कहकर मुझे अपमानित किया गया, सब मेरा परिहास कर रहे थे, सुयोधनने मुझे अपनाया। मेरा सम्मान किया। भुजा फैलाकर मिले।

'तुम दुःशासनके समान मेरे भाई हो।' केवल ये शब्द तो नहीं थे। उसी दिन सुयोधनने मुझे अङ्ग प्रदेशका राज्य दिया, सम्पत्ति दी और तबसे अब तक मुझे सगे भाईका सम्मान देते हैं। उनके सब भाई मुझे ज्येष्ठ मानते हैं। मेरी सम्मतिका सम्मान किया जाता है। मैं ऐसे उपकारी मित्रके लिए जीवन न दे सकूँ तो मुझसा कृतघ्न कौन होगा ?

समझता हूँ कि सुयोधनमें अनेक दुर्बलताएँ हैं। किसमें नहीं होती ? उनमें कुछ अधिक हैं; किन्तु मेरा काम मित्रके दोष देखना तो नहीं है। मेरा कर्तव्य मित्रका समर्थन करना है। मित्रकी इच्छा पूर्तिके लिए अपनेको उत्सर्ग करना है। यह मैं करूँगा।

अब मेरी नियतिकी महती विडम्बना—भगवान वासुदेव पाण्डवोंके पक्षधर होगये हैं। उन्हें ऐसा करना ही था; क्योंकि वे सदा धर्मके पक्षधर हैं और युधिष्ठिर धर्मकी मूर्ति हैं। मुझे सुयोधनके उपकारोंने उनका समर्थन करनेको विवश बना दिया है। सुयोधन पाण्डु-पुत्रोंको सह नहीं सकते। इस संघर्षमें मैं मित्रका साथ छोड़ नहीं सकता। फलतः मुझे कदाचित वासुदेवके भी विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़े। मैं उनका दर्शन करते भी देहत्याग कर सकूँ तो मेरा सौभाग्य—यह सौभाग्य सुलभ होगा मुझे ?

मैं सूर्यपुत्र हूँ। हायरे नियति—कर्ण किस मुखसे कहे कि श्रीकृष्णचन्द्र इसके सम्मान्य सम्बन्धी हैं ? कौन विश्वास करेगा कि देवी कालिन्दी इसकी सगी बहिन हैं। इस ग्रहण महापर्व पर कुरुक्षेत्र जैसे पावनस्थल पर वे पधारेंगी ; किन्तु कर्ण अपनी उन पूज्यनीया अग्रजाके दर्शनका भी सौभाग्य पाने योग्य नहीं रहा है।

सुयोधन कहते हैं कि वे इस पुण्य पर्व पर तीर्थमें अपने जामाताका, समस्त यादवोंका सत्कार करेंगे। कर्णको लोकमें दानशील कहा जाता है। दानको ही इसने अपना मुख्य धर्म बनाया है और इतना महान पर्व पाकर, ऐसे पुण्य क्षेत्रमें पहुँचने पर भी यह अपनी भुवन-पूज्या बहिनको, उनके त्रिलोकेश्वर स्वामीको, अपने भागिनेयोंको भी कुछ अर्पित करनेकी स्थितिमें नहीं है। कर्ण कैसे कहेगा श्रीकृष्णसे कि यह उनका श्यालक होता है ?

अपनी इच्छासे ही अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाले परम पुरुषने यदुवशमें अवतार धारण किया है, यह मैंने महर्षियोंसे सुना है। इतना मैं समझता हूँ कि भगवान सूर्यकी कन्या, यम-भगिनी किसी सामान्य पुरुषका वरण नहीं कर सकतीं। वे वासुदेव सर्वज्ञ हैं, वे भाग्यके मारे इस कर्णकी विवश-स्थिति नहीं समझेंगे ?

मैं उनका स्नेह पाने योग्य हूँ। भगवती कालिन्दी मेरी बड़ी बहिन हैं। उनका अनुज कह पाता अपनेको, वासुदेवका वात्सल्य मेरा स्वत्व होता ; किन्तु वे सर्वज्ञ क्या इस तथ्यको जानते नहीं होंगे ? यह दूसरी बात है कि वे भी इसे प्रकट न करें। उन्हें प्रकट तो नहीं ही करना चाहिये। अनेक अनर्थ हैं इसे प्रकट करनेमें। वे मेरी स्थिति समझेंगे और इसे प्रकट नहीं करेंगे। लेकिन उनका स्नेह भी क्या नहीं मिलेगा मुझे ?

वे अर्जुनके प्रिय सखा हैं और धनञ्जयसे ही मेरी प्रतिस्पर्धा है। सुयोधनकी आशा भी यही है कि उनका जब कभी पाण्डवोंसे युद्ध हो—यह युद्ध अनिवार्य है, तब मैं अर्जुनका सामना करलूँ। वह मैं करूँगा ही, पर यह भक्तापराध नहीं होगा ? वासुदेव मेरा यह अपराध क्षमा कर देंगे ?

मैं इतना ही तो चाहता हूँ कि युद्धमें वे वनमाली, मयूरमुकुटी मेरे सम्मुख रहें और अर्जुनके शरोंसे मेरा शरीरपात हो। इस महापर्व पर, कुरुक्षेत्रके तीर्थमें यह दानी कहलाने वाला कर्ण उनके पाद-पद्मोंमें यह नीरव याचना लेकर उपस्थित होगा। इतना दान वे इसे नहीं देंगे ? वे मिलेंगे इस अवसर पर और शब्दहीन प्रार्थना सुनेंगे वे।



अश्वत्थामा—

अमरत्व बहुत उत्तम स्थिति नहीं है। शरीरका मोह ही अमर होनेको प्रलुब्ध करता है। जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं रहती, तभी तक लुभावनी लगती है। मैं अमर हो गया भगवान मृत्युञ्जयके वरदानसे, क्या लाभ ? दूसरे तो दूर, कुरुराज दुर्योधन ही मुझे उतना महत्त्व नहीं देते, जितना सूतपुत्र कर्णको देते हैं।

पितासे मैने पूछा तो वे कहते हैं—'वत्स ! जीवन ज्योतिर्मय आदरणीय होता है और जीवनमें ज्योति शक्तिसे, प्रतिभासे, तपसे, पुण्यसे, आराधनासे आती है। कोई कृकलास या पिपीलिका अमर होजाय, तुम उसकी पूजा करोगे ? तुम्हारे कोई स्वजनसुहृद न रहें, तब भी तुम नवीन सुहृद पा सकते हो, किन्तु शरीर स्वस्थ, सशक्त न रहे—'

मैं कल्पनासे ही काँप गया। शरीर अपंग रहे, रोगी रहे, कष्ट भोगता रहे और अपने कोई स्वजन, सुहृद न रहें, ऐसा अमर जीवन तो भारी अभिशाप होगा और मेरा अमरत्व मेरे लिए अभिशाप न बन जाय, इसमें मुझे सावधान रहना है।

मर्त्य धरापर अमरत्व अभिशाप बने बिना रह नहीं सकता। मैं अमर हूँ, इसका अर्थ ही है कि मुझे अपने समस्त स्वजनों, परिचितोंका मरण-साक्षी होना है। मुझे इन सबसे विमुक्त होकर रहना है। जो भी नवीन सुहृद बनेंगे, सबकी मृत्यु मेरे सामने होगी।

अब मुझे लगता है कि अमरत्वका वरदान लेना कितना बड़ा अज्ञान था मेरा, किन्तु अब तो उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। मेरा शरीर अपंग, रुग्ण, असमर्थ न हो जाय, इसकी मुझे अब विशेष चिन्ता करनी है। यदि ऐसा कुछ हुआ, अमरत्व मेरे लिए असह्य यन्त्रणा बन जायगा।

'जो जीवनको उत्सर्ग नहीं कर सकता, शौर्य उसमें सम्भव नहीं। जीवन उसका अपना नहीं है।' सूतपुत्र कर्ण उपहास करता कहता –है'आचार्य पुत्रको उनके अमरत्वने अधिक सशङ्क एवं शरीरका मोह प्रदान किया है।'

शरीरकी ओरसे अधिक सशङ्क तो सचमुच रहना पड़ेगा। युद्धमें दूसरोंके समान मैं अङ्गहीन होजाऊँ तो मुझे कल्प पर्यन्त अपङ्ग रहना होगा। मेरी यह आशङ्का मुझे भीरु बनाती है—इसे जानता हूँ ; किन्तु इसका उपाय ?

मुझे जीवनमें ज्योति चाहिये—वह प्रचण्ड ज्योति, जिसके सम्मुख सब मस्तक झुकावें। मैं अमर हूँ। मेरे मस्तकमें किसी सम्राटके पूरे साम्राज्यसे भी मूल्यवान मणि है, यह तो बड़ी महत्ता नहीं है। मस्तक तो मुझे कुरुराज दुर्योधन आचार्य पुत्र होनेके कारण झुकाते हैं। यह भी कोई गौरव है ?

मेरे पिता तथा भीष्मका सब सम्मान करते हैं, लेकिन यह सम्मान उनके वयोवृद्ध होनेका है। मुझे अभीष्ट है शक्तिशाली होनेका सम्मान। ऐसा सम्मान जो केवल वासुदेवको प्राप्त है।

ऋषिगण, राजन्य वर्ग तथा लोक पूजित महारथी भी श्रीकृष्णका सम्मान करते हैं। कर्ण और दुर्योधन भी डरते हैं उनसे। ऐसी क्या विशेषता है वासुदेव में ?

श्रीकृष्ण भगवान हैं, किन्तु अमर नहीं हैं। मैं अमर हूँ। मुझे उनकी भगवत्ता नहीं चाहिये। मुझे उनकी शक्ति चाहिये। वह शक्ति चाहिये जिसके कारण सुरपति तथा दानवेन्द्र मय भी उनका सम्मान करते हैं।

वासुदेव ब्रह्मण्यदेव हैं और मैं ब्राह्मण हूँ। वे सूर्य ग्रहणके महापर्व पर कुरुक्षेत्र आरहे हैं। उनके यहाँ मैं चाहे जब जा सकता हूँ, वे मेरा सम्मान-सत्कार करेंगे। उनकी शक्तिका रहस्य क्या है, यह मुझे देखनेका अवकाश मिलेगा। यदि वह माँगी जाने योग्य वस्तु हो, मैं माँग ले सकता हूँ। मुझ ब्राह्मणको वे यहाँ तीर्थमें अस्वीकार तो नहीं करेंगे। मैं यहाँ सबके सम्मुख न भी माँग सकूँ, कभी भी द्वारिका पहुँचनेमें ब्राह्मण पर तो प्रतिबन्ध है नहीं।

श्रीकृष्णकी शक्ति ? यह कल्प वृक्ष नहीं हो सकता। कल्प वृक्ष तो सुरोंको पराजित करके वे स्वयं ले आये हैं। उनका अस्त्रज्ञान ? लेकिन अस्त्रज्ञान तो मुझे भी अल्प नहीं है। मैं ब्रह्मास्त्रवेत्ता हूँ। केवल दो बातें सम्भव हैं, एक श्रीकृष्णका चक्र और दूसरी कोई उनकी उपासना।

कोई उपासना ? वे लोकमें भगवान वासुदेव प्रख्यात हैं। कोई उपासना भी करते होंगे तो गुप्तरूपसे करते होंगे। मेरे पिता कहते हैं कि 'उपासनासे जीवनमें ज्योति आती है।' वासुदेवके जीवनमें ज्योति है, देखना होगा कि वह उनके किस तप या आराधना-से उन्हें प्राप्त है।

तीर्थमें; पर्वके अवसर पर पूछने पर वे ब्राह्मणको वंचित नहीं करेंगे। उनसे मैं पूछ सकता हूँ, माँग सकता हूँ। इस अवसर पर वे वासुदेव मुझे मिलेंगे।



द्रोणाचार्य—

असि-जीवी होनेके कारण मैं ब्राह्मणाधम हूँ। अपनी यह हीनता मैं समझता हूँ। मैं धृतराष्ट्रके और पाण्डुके पुत्रोंका भी अस्त्र-शिक्षागुरु हूँ, इसलिए मेरा सम्मान किया जाता है। द्रोणका सब आदर करते हैं; किन्तु यह आदर ब्राह्मणका नहीं है। यह आदर ब्रह्मास्त्रवेत्ता महारथी द्रोणका है। यह क्षत्रियोचित सम्मान ही तो हुआ।

मैं ब्रह्मबन्धु होगया और मेरा पुत्र भी मेरा ही पदानुगामी हुआ। उसकी रुचि भी यज्ञ, दान, तपमें नहीं हुई। वह महत्वाकांक्षी है; किन्तु उसकी महत्वाकांक्षा शूरशिरोमणि बननेकी है। तप करके ऋषित्व प्राप्त करनेमें उसे रुचि नहीं है। यह मेरा ही तो दोष है। मैंने ही तो मोहवश उसे इस पथ पर डाल दियां।

अब समय बीत गया। द्रोण या द्रोणपुत्र अब विशुद्ध ब्राह्मण नहीं बन सकते। अब तो अपने इसी रूपका निर्वाह करना है। विडम्बना यह है कि द्रोण दुर्योधनका साथ देनेको विवश हो गया है। जब तपस्या करनेका उत्साह नहीं है, जब राजकीय सुख-सुविधा अभीष्ट है, तब राज्याश्रित तो रहना ही पड़ेगा।

अब कुरुक्षेत्रमें ग्रहण पर्व पर श्रीकृष्णचन्द्र मिलेंगे। वे पुरुषोत्तम अपने प्रिय सखा अर्जुनके सम्बन्धसे मुझे आचार्य कहते हैं, मेरी चरण वन्दना-करते हैं। वे ब्रह्मण्यदेव हैं, उन वासुदेवको दूसरोंके दोष-दुर्गुण दीखते नहीं हैं। उन्हें दूसरोंको सम्मानित करना बहुत अच्छा आता है।

मेरा सबसे योग्य शिष्य अर्जुन उन वासुदेवको अत्यन्त प्रिय है। अर्जुन सब प्रकारसे योग्यतम सिद्ध हुआ। अस्त्र ज्ञानमें वह मुझसे किञ्चित् भी न्यून नहीं है। उसीने गुरुदक्षिणामें राजा द्रुपदको पराजित करके बन्दीके रूपमें उपस्थित कर दिया था मेरे सम्मुख। द्रुपदका आधा राज्य स्वीकार करके शिष्यके शौर्यसे मैं उसी दिन राजा होगया; किन्तु मेरा लोभ सन्तुष्ट नहीं हुआ। मैं दुर्योधनकी सेवा सत्कारके वशमें हो गया। गाण्डीव धन्वा योग्य शिष्य सिद्ध हुआ; किन्तु द्रोण योग्य आचार्य सिद्ध नहीं हो सका।

मैं द्रुपदका आधा राज्य पाकर भी हस्तिनापुर रहनेके लोभमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंका अनुवर्ती बन गया। उसी समय पाञ्चाल चला गया होता। अब द्रुपद पाण्डुपुत्रोंके

सम्मान्य सम्बन्धी हैं । वे भी आवेंगे ही कुरुक्षेत्र । अब वे आदरपूर्वक मिलेंगे मुझसे ; किन्तु श्रीकृष्णके सम्मुख क्या यह मेरा दम्भ शोभा देगा ?

मैं अस्त्रज्ञ क्षत्रियोंके मध्य चाहे जितना सम्मानित होऊँ, मुनि मण्डली जब एकत्र होती है, वेदज्ञ तपोमूर्ति ब्राह्मणोंके समूहमें मुझे अपना हीनत्व स्पष्ट दीखने लगता है । मैं वहाँ मस्तक नहीं उठा पाता । कुरुक्षेत्रमें ग्रहण पर्व पर तो दिव्यलोकोंके ऋषिगण भी पधारेंगे । तपस्वियोंके तपका परम फल है श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणारविन्दोंका दर्शन । कोई मुनि, कोई वेदज्ञ ब्राह्मण इस अवसर पर अनुपस्थित रहना चाहेगा ? वे सब कुरुक्षेत्र आवेंगे । आवेंगे वे पुरुषोत्तम वासुदेवके समीप ।

द्रोण उन मयूरमुकुटीके समीप विप्रमण्डलीके साथ नहीं जा सकता । यह जायगा भीष्म तथा हस्तिनापुरके अपने शिष्योंके साथ ; किन्तु वहाँ वासुदेवके समीप ऋषिगण उपस्थित नहीं रहेंगे ? उनके समीप तो वहाँ मुनियोंका समूह बना ही रहने वाला है ।

पुरुषोत्तम वासुदेव प्रणिपात करेंगे द्रोणको । इसे वे आचार्य कहते हैं, अतः इसे राजन्यवर्गके मध्य तो आसन दे नहीं सकते । वे तो इसे ऋषियोंके मध्य उच्चासन देंगे । इसकी अर्चा करेंगे ; मैं कैसे सिर उठा सकूँगा ? श्रीकृष्ण लोकपूजित मुनिगणोंके मध्य मेरा पाद-प्रक्षालन करेंगे और मैं .... ।

पर्वका समय है, तीर्थस्थान है, द्रोण भले ब्रह्मबन्धु हो, वासुदेव ब्रह्मण्यदेव हैं । वे इसे अवश्य दान देंगे । विपुल दान देंगे । उनका दान तो अत्यन्त अपरिग्रह, दिग्वासस महामुनिगणोंको भी पवित्र करता है । द्रोण उनका प्रतिग्रह स्वीकार करके परिपूत हो जायगा ।

उन कमल-लोचनका दर्शन होगा । उन निखिल लोक-ललामको भर नेत्र देख सकूँगा । वासुदेवके करोंकी अर्चा, उनका उपहार प्राप्त कर मेरे कलुष नष्ट हो जायँगे ।

श्रीकृष्ण ही जानते हैं कि किसीको भी बिना संकोचमें डाले कैसे-सत्कृत किया जाता है । वे वनमाली तो सत्कार करके, विपुल दान देकर भी स्वयं संकुचित होते हैं, जैसे कुछ न कर सके हों । धन्य हो जायगा द्रोण भी उनके समीप पहुँच कर । कुरुक्षेत्र चलना है, केवल इसलिए चलना है कि वहाँ वे वासुदेव मिलेंगे ।

—:०:—

कृपाचार्य—

वासुदेव मिलेंगे कुरुक्षेत्रमें इस ग्रहण महापर्व पर—यह इस अवसरका परम लाभ है। अन्यथा महत्तम पुण्य भी बन्धनके ही कारण बनते हैं। कर्म होते ही हैं प्रकृति-प्रेरित। उनमें अपने कर्तृत्वका अभिमान जब सम्मिलित हो जाता है, कर्म शुभ या अशुभ बनकर अदृष्ट उत्पन्न करता है, और उसके अनुसार सुख या दुःखरूप परिणाम यथावसर प्राप्त होता है।

शरीर और संसार विकारी हैं। ये प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहे हैं। जब परिणाम होगा, कोई वस्तु या क्रिया है तो वह किसीके अनुकूल होगी, किसीके प्रतिकूल होगी। वस्तुके इस परिवर्तनको रोका तो जा नहीं सकता।

इस परिवर्तनके अन्तरालमें रहकर जो इन सबका आधार, इन सबसे असंस्तुष्ट है, वह एकरस अद्वितीय निर्विशेष चित् सत्ता है। वह निर्विशेष है, अतः निर्द्वन्द्व है। जहाँ विशेषता उत्पन्न हुई—द्वन्द्व, संघर्ष प्रारम्भ हो गया। जीवन जितना निर्विशेष, सामान्य, उतना पूर्ण। उतना शान्त। उतना अपने स्वरूपमें स्थित।

वासुदेवको देखा प्रथम और लगा कि युग-युगसे कल्प-कल्पसे इसी इन्दीवर सुन्दर, नवनीरद कमल-लोचनको हृदय अन्वेषण कर रहा था। इसीकी प्राप्तिके लिए सम्पूर्ण प्रकृतिका अणु-अणु अविराम क्रियाशील, गतिशील है। विश्राम—परिपूर्णताके बिना विश्राम सम्भव नहीं और परिपूर्ण परमतत्त्व तो वासुदेव हैं।

श्रीकृष्णका साक्षात् हुआ, लगा कि शम-दम, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधानकी पूर्ण परिपक्वतामें जो विवेक जागता है, प्रबलतम वैराग्यका वेग और सत्यको जान लेनेकी उत्कट जिज्ञासा, वह सब एक साथ शान्त हो गयी। ऐसी शान्त जो पूर्णतामें ही सम्भव है। सरिताका वेग जैसे सागरमें पहुँच कर शान्त हो जाता है।

श्रीकृष्णको प्रथम देखा, वे मयूरमुकुटी अपने गोत्रका नाम लेकर अभिवादन करने लगे थे; किन्तु कृपको तो अपने कृप होनेका भी ज्ञान नहीं रह गया था। वे सम्मुख हों, व्यक्तित्वका पार्थक्य-बोध बचा कैसे रह सकता है। सूर्य सम्मुख हो और अन्धकारका लेश भी बचा रहे।

वही चिद्धन इस प्रपञ्चके नाना रूपोंमें क्रीड़ा कर रहा है। उस साच्चिदानन्दका ही यह विलास जगत है। यह जगत जिसमें दुःख ही दुःख, जड़ताका ही वैभव दीखता है। जिसमें प्रत्येक प्राणी माया-मोहित निरन्तर प्रयत्नशील है। प्रत्येक विशेषताओंकी

प्राप्तिके लिए श्रम करने, संघर्ष करनेमें जुटा है, बिना यह देखे कि उसके इस प्रयत्नका कोई अर्थ नहीं। अज्ञानान्धकारमें भटकती भूतों जैसी तथ्यहीन आकृतियाँ और इनकी सत्ताहीन स्वप्नोपम क्रियाएँ। यह सब है एकरस, शान्त, निर्विशेष, अविकारी, सच्चिदानन्दमें। श्रीकृष्ण सम्मुख आये और यह सत्य प्रत्यक्ष हो गया। वे आनन्दकन्द, लगा कि समस्त शंकाओं, सब तर्कोंको शाश्वत समाधान प्राप्त होगया।

शिशुपाल उनसे द्वेष करता है। दुर्योधन उनको अपने पक्षमें ले आनेके उद्योगमें लगा है। वही तो सर्वरूपमें विद्यामान हैं। वे अनुपस्थित कब होते हैं; किन्तु अविद्याग्रस्त जीवके लिए वे सदा ही अदृश्य हैं। अपने करोंसे नेत्र बन्द कर रखे हैं जिन्होंने, उनको सूर्य क्या करे?

परमतत्त्व अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्णको सम्मुख देखकर यह सत्य—इसमें बुद्धि डूब गयी। श्रीकृष्ण कहीं समझमें आया करते हैं। उनकी अनन्त सक्रियता, उन्हींकी भृकुटिका विलास तो सृष्टि है। उनकी क्रिया, उनके सद्‌गुण क्या कभी सहस्रमुख शेष भी गिन सकते हैं? इतने पर भी निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विशेष हैं।

कृप तो साधारण व्यक्ति है। कुरुकुलके कुमारोका अस्त्र-शिक्षक भी नहीं रहा; किन्तु कृपको उन अनन्त कृपा-पारावारने पूर्ण कर दिया। उनका साक्षात्कार हुआ और जीवन सामान्य हो गया। मिट गयी विशेषताओंकी बुभूत्सा। शान्त हो गयी वासनाओंकी पिशाची तृष्णा। कृपको तो कुछ नहीं चाहिये। कहीं कुछ भी तो काम्य नहीं है। जो सहज सम्मुख आता जाय, उसे स्वीकार करो। उसमें अपना योगदान देते रहो—बस।

देश, काल, पदार्थ जिसमें सत्ताहीन हैं, उसमें तीर्थस्नान, ग्रहण-पर्वका अर्थ? लेकिन वह लीलामय है। वह वनमाली स्वयं आरहा है कुरुक्षेत्रके तीर्थमें ग्रहण पर्व पर। उसका प्रत्यक्ष होगा वहाँ।

परशुरामने क्षत्रियोंका महासंहार करके कुरुक्षेत्रमें उनके शोणितसे पाँच सरोवर भर दिये। क्रूर हत्यासे भरे गये नररक्तके वे सरोवर—समन्तक पञ्चक तीर्थ परम-पावन होगया केवल इसलिए कि वहाँ उन प्रचण्ड भार्गवने यज्ञ कर लिया?

इसीलिए धर्मका तत्त्व बुद्धिसे परे कहा गया है। परशुरामके भूभार-हरणकी वह प्रतीक स्थली पवित्र हो गयी। पवित्र ही थी वह राजर्षि कुरुके आत्मोत्सर्गसे। अब वासुदेव वहाँ पधार रहे हैं। उन्होंने—उन सर्व-नियन्ता, सर्व-स्वरूपने उसे तीर्थके रूपमें स्वीकृति दे दी तो वह तीर्थोत्ताम। वहाँ कृप भी स्नान करेगा। वे वासुदेव वहाँ मिलेंगे।

—:o:—

आचार्य धौम्य----

अद्‌भुत नियति-विधान मिला है मुझे। पुरोहितका प्रारब्ध अपने यजमानके साथ आवद्ध होता है। मेरे यजमान थे परम धर्मज्ञ महाराज पाण्डु। इस कुरुकुलको उन्होंने चक्रवर्ती वनाया। धौम्य चक्रवर्ती सम्राटका पुरोहित हुआ, किन्तु कितने दिनोंको ? महाराज पाण्डु युवावस्थामें ही प्रशप्त होकर पत्नियों के साथ वनमें तप करने चले गये। एक बार लगा कि मेरे पुरोहितका कुल ही समाप्त हो गया।

महाराज पाण्डुके परलोकवासी होने पर देवी माद्री तो सती ही हो गयीं। देवी कुन्ती अपने और सपत्नीके शिशुओंके साथ हस्तिनापुर आयीं। अन्धे राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके मोहवश प्रज्ञान्ध हो चुके हैं। सगे भाईके शिशुओंके साथ समत्वका व्यवहार तो स्वप्न हो गया, उनके पुत्र इन पितृहीन बालकोंको मारनेकी दुदभिसन्धि करते रहे और धृतराष्ट्र समर्थन करते गये। भीमसेनको सवोंने विष दे दिया। माताके साथ पाँचों भाइयोंको लाक्षागृहमें जला देनेकी चेष्टाकी दुर्योधनने। मैं तो कर्मकाण्डी ब्राह्मण हूँ। धर्म ही मेरे आराध्य हैं। मैं अपने यजमानोंके लिए स्वस्तिपाठ ही तो कर सकता था।

पाण्डुपुत्र लाक्षागृहमें जले नहीं हो सकते, यह मुझे उसी दिन विश्वास हो गया, जिस दिन वासुदेव हस्तिनापुर आये। वे अपनी बुआ तथा उसके पुत्रोंके लाक्षागृहमें भस्म हो जाने का समाचार पाकर शोक-प्रकट करने आये थे। शोक ही प्रकट कर रहे थे वे लीलामय; किन्तु श्रुति एवं धर्मके परमप्रभु जिनके लिए शोक प्रकट करेंगे, जिनका मंगल उन्हें प्रसन्न करेगा, उसका अमंगल करने वाली शक्ति कहीं सम्भव है ?

'श्रीकृष्ण ! मैं तो कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हूँ। श्रुति पर मेरी श्रद्धा है। सुना है महर्षियोंके मुखसे और मानता हूँ कि तुम धर्मकी रक्षाके लिए ही धरा पर अवतीर्ण हुए हो। तुम धर्मके प्रभु हो।' मैंने एकान्तमें वासुदेवसे कहा था—'धर्म तुम्हारे सम्मुख भी अपने रक्षकोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो गया ? मेरे यजमान दिवंगत महाराज पाण्डुमें कोई अधर्म था कि उनका वंश उच्छिन्न हो जाय ? पाण्डुपुत्रोंमें कोई च्युति आयी थी ? यदि च्युति ही आयी थी तो तुम अच्युत उनके लिए क्यों रोते हो ? तुम्हारे कमल लोचनोंमें उनके लिए अश्रु क्यों ?

'आचार्य ! स्वर्णको समुज्वल होनेके लिए अग्निका प्रचण्ड ताप सहना पड़ता है।' 'वासुदेवने गम्भीर होकर कहा था—'आप जैसे तपस्वी, संयमी, श्रुतिनिष्ठ ब्राह्मण

जिनका क्षेम चाहेंगे, वे यमलोक भी हों तो मृत्युको मस्तक झुकाकर उन्हें सादर विदा करना पड़ेगा।'

मैं वासुदेवकी वाणीका तात्पर्य नहीं समझ सका; किन्तु इतना समझ गया कि मेरे यजमान लौटेंगे। वे लाक्षागृहमें भस्म भी होगये हों तो लौटेंगे। अन्ततः वासुदेव समुद्रमें डूबे गुरूपुत्रको यमकी संयमिनी पुरी ही से तो ले आये थे।

मैं कहाँ ऋषि हूँ, ऋषि भी श्रीकृष्णका और उनकी वाणीका तत्त्व ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। मैं तो धर्मका—वैदिक कर्माश्रय धर्मका पालक हूँ। मेरी आस्था महर्षि जैमिनीके पूर्वमीमांसामें; किन्तु जानता हूँ कि धर्मके रक्षक वासुदेव हैं। ये वासुदेव ही धर्मके परमाश्रय हैं। समस्त धर्माचरण, सम्पूर्ण वैदिक यज्ञ-विस्तार सफल ही होता है इनके श्रीचरणोंमें अर्पित होकर।

यदुकुल पुरोहित महर्षि गर्गाचार्यको श्रुतिके नेत्र ज्योतिर्ज्ञानमें पारंगत माना जाता है। वे कहते हैं—'धौम्य जी! आपके प्रारब्धमें चक्रवर्तीका पुरोहित रहना है। लेकिन आपको तो सीवे शिखर पर और सीधे नीचे चढ़ने, उतरने वाला प्रारब्ध मिला है। धन्य भाग हैं आप। नियति ही आपको सुख-दुःख सम्पत्ति-विपत्तिमें समदर्शी तितीक्षु तत्त्वज्ञ बना देगी।'

जानता हूँ कि श्रुति तथा सुर परोक्षवादी होते हैं। ज्योतिर्विद्याके साक्षात् विग्रह महर्षि गर्गको भी परोक्ष-निरूपण प्रिय है; किन्तु मैं अपने यजमानोंकी ओरसे निश्चिन्त हो गया हूँ। युधिष्ठिर धर्म-मूर्ति हैं। उनके चारों भाई अग्रजके अनुयायी हैं और वासदेवको उन्होंने अपना बना लिया है।

श्रीकृष्णके करोंमें जिन्होंने अपना कर दे दिया, वे सुरक्षित हो गये। विपत्ति भी आवे तो उनको अधिक उन्नत करने ही आवेगी। उनके लिए अमंगलकी सृष्टि ही नहीं हुई।

मैं पाण्डु-पुत्रोंका पुरोहित हूँ। मेरा कर्तव्य है उनका हित-चिन्तन, किन्तु जिनका हित वासुदेव चाहते हैं; उनका हितचिन्तन दूसरा क्या करेगा। मुझे तो मेरे यजमानों-ने कृतकृत्य किया। मेरा हित—मेरा परम हित हुआ मेरे यजमानोंके द्वारा। वासुदेव पाण्डु-पुत्रोंके कारण मुझे मिले, मेरा सम्मान करते हैं वे सर्वेश।

अब कुरुक्षेत्रमें इस ग्रहण-पर्व पर वे कमल लोचन वनमाली पुनः मिलेंगे। उनकी सन्निधिका सुअवसर—समस्त वेदाध्ययन एवं कर्मकाण्डका सुफलोदय प्राप्त होने वाला है मुझे।



सञ्जय-

विनयकी शिक्षा किसीको लेनी हो तो वह वासुदेवसे लेने योग्य है । वे योगेश्वर परात्पर पुरुष हैं । सुरेन्द्र, मुनीन्द्र भी उनका स्तवन करते हैं; किन्तु हस्तिनापुर आये तो मुझ सूतका भी ऐसा सम्मान करते थे, जैसे मैं भी राजपुरुष होऊँ ।

सूत सम्मान्य हो जाता है, यदि वह पौराणिक हो जाय । भगवत्कथाका वर्णन, कीर्तन उसे पावन कर देता है, किन्तु तब भी तो ये कमललोचन कृष्णचन्द्र ही उसके ध्येय, गेय, वर्ण्य रहते हैं । इनके गुणवर्णनके अतिरिक्त वाणीकी कोई दूसरी सार्थकता कहाँ है ।

पिता गवल्गण एकान्त प्रिय हैं । उन्होंने पुराण-पठन किया और उसका परम-तत्त्व ग्रहण कर लिया । वे तो मुनि-वृत्ति ग्रहण करके अरण्य में रहने लगे । लेकिन मुझमें वह सात्विकता नहीं थी । सूत पौराणिक न बन सके, उसमें इन्द्रिय संयम, वैराग्य एवं भगवत्कथामें द्रवित होनेवाला सरस हृदय न हो तो वह राज्याश्रय ले । भोगपरायण सूतकी शास्त्र विहित आजीविका तो यही है । मैं राजस-वृत्तिके कारण इसे अपनाने पर विवश था ।

राज्याश्रित सूत या तो राजाके कुल-पुरुषोंका स्तवन करेगा अथवा सारथी बनेगा । मुझे व्यक्तियोंका स्तवन कभी रुचा नहीं । स्तवनीय तो केवल परमपुरुष हैं । लेकिन उनका गुणगायक होने योग्य सरस हृदय, इन्द्रिय संयम कहाँ है मुझमें । सारथ्य तथा राजनीति यही अपनाना था मुझे ।

महाराज धृतराष्ट्रकी सेवा मुझे इसलिए भी अनुकूल पड़ी ; क्योंकि दृष्टिहीन होनेसे उनको सहायककी बहुत अधिक अपेक्षा थी । सूत जब अश्व-चालन सीखता है, तब राजनीति उसे सीखनी ही पड़ती है । अपने स्वामीके सबसे समीप आखेटमें, युद्धमें, यात्राओंमें उसे ही रहना है । अतः वह सहज ही मन्त्री है । उसे मन्त्राणा देनेके सबसे अधिक सुयोग प्राप्त हैं ।

सूतका भाग्य बँधा होता है अपने स्वामीके भाग्यके साथ । अतः सूतको तो विश्वसनीय रहना ही है । उसका अपना उत्थान-पतन स्वामीके उत्थान-पतनमें है । वह सहज ही स्वामीका हितचिन्तक है ।

मुझे तो बहुत अधिक सुविधा प्राप्त है। मेरे प्रज्ञाचक्षु स्वामीको न आखेट करना है, न युद्ध। मेरे लिए कोई संकटकी स्थिति नहीं आनी है। मैं सारथ्य तो कदाचित ही कर पाता हूँ; किन्तु इससे मेरा मन्त्रणा दानका दायित्व बढ़ गया है।

वास्तविक नरेश हैं हस्तिनापुरके युवराज सुयोधन और उनके भाई, मित्र एवं उनके मातुल गान्धार युवराज शकुनि उनको गर्वोद्धत ही करते रहते हैं। मेरा सम्मान राजकुमार अथवा उनके मित्र नहीं करते, यह खेद मुझे नहीं है; किन्तु वे अपने पिताका भी तो सम्यक् सम्मान नहीं करते।

मैं सेवक हूँ और दृष्टिहीन महाराज मुझ पर बहुत कुछ निर्भर है। वे मेरी सम्मतिका यथासम्भव सम्मान करते हैं; किन्तु कठिनाई यही है कि उनमें पुत्रका मोह अत्यन्त प्रबल है। अपने ज्येष्ठ पुत्रका कोई आग्रह वे टाल नहीं पाते और दुर्योधन सीमातीत दुराग्रही हैं।

राज्य धर्मानुसार महाराज पाण्डुका था। राजकुमारोंमें ज्येष्ठ युधिष्ठर हैं, अतः उन्हें राज्याधिकार न्यायतः प्राप्त है। वे संयमी हैं, धर्मात्मा हैं, शीलवान हैं। उनके अनुज पराक्रमी हैं, शूर हैं। अब श्रीकृष्ण उनके पक्षधर हो गये हैं। ये वासुदेव धर्मके ही तो पक्षधर होंगे।

कुमार दुर्योधन किसी प्रकार पाण्डवोंको सहन नहीं कर पाते। उनको नष्ट करनेके अनेक कुटिल प्रयत्न किये उन्होंने। मैं उनके द्वारा अनेक बार तिरस्कृत हुआ, महाराजको उचित सम्मति देकर। अब भी दुर्योधनको संतोष नहीं है। पाण्डुपुत्र हस्तिनापुरसे दूर भेज दिये गये; किन्तु श्रीकृष्ण जिन पर सानुकूल हैं, वैभव उनके चरण चूमेगा ही।

मैंने अनेक बार महाराजको समझाया कि पाण्डुपुत्रोंको सन्तुष्ट रखनेमें उनका हित है, किन्तु वे पुत्रके मोहमें पड़े हैं। दुर्योधनकी दुर्नीति मुझे विनाशकारी लगती है।

'श्रीकृष्णचन्द्रको सानुकूल कैसे किया जा सकता है, यह देखो।' मुझे आदेश मिला है। मैं पालन करूँगा; किन्तु परिणाम जानता हूँ। श्रीकृष्ण स्वभावसे गर्वहारी हैं। सम्भव नहीं है कि वे दुर्योधन जैसे अहंकारीके पक्षधर बनें। पाण्डवोंको उन्होंने अपना लिया है और एक बार अपनाकर त्याग करना उन्हें आता नहीं।

मेरा यही सौभाग्य कि कुरुक्षेत्रमें इस महापर्व पर उन योगेश्वरके दर्शन कर सकूँगा। वे शील सिन्धु—विनय उनसे संसार सीखें। वे इस सूतका धृतराष्ट्रके सेवकका भी सम्मान करते हैं। ऐसा आदर करते हैं जैसे मैं कोई महत्तम राजपुरुष हूँ। वे तो मुझे भुजा भरकर मिलेंगे। मिलेंगे मुझे वे भगवान वासुदेव।

पितामह भीष्म-

अनन्त-अनन्त जनोंकी तपस्या, योग अथवा अन्य कोई भी साधना भगवान वासुदेवकी प्राप्तिके लिए पर्याप्त नहीं है। किसी भी प्राणीका प्रयत्न कितना भी प्रबल हो, वह देश और कालसे सीमित ही होगा। वह देशकालातीत उन परमतत्त्वका तो स्पर्श ही नहीं करता। परिच्छिन्नका, व्यष्टिका प्रयत्न समष्टि भी जिसमें अज्ञान कल्पित है, उसे कैसे प्रभावित कर सकता है।

यह सब सत्य होने पर भी परमसत्य यह है कि वासुदेव करुणा-वरुणालय हैं। जब कोई प्राणी सचमुच उन्हें प्राप्त करना चाहता है, उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता है, वे अपनी अहैतुकी कृपासे उसके अपने हो जाया करते हैं।

मुझमें योग्यता क्या है ? लोग कहते हैं कि देवव्रतमें प्रबल पितृ-भक्ति है, दृढ़ता है, अस्त्र ज्ञान है, ब्रह्मचर्य है, किन्तु इस सबकी सर्वेश्वरके लिए कोई महत्ता है ?

पितृ-भक्तिका पुरस्कार मुझे उसी समय मिल गया था। मैं इच्छामृत्यु हो गया। कम बड़ा पुरस्कार है यह ?

पर्वतोमें दृढ़ता नहीं है ? वे जीव नहीं हैं ? मैं उनकी दृढ़ताकी समता कर सकूँगा ? ब्रह्मचर्य तो है देवर्षि नारदमें, सनकादि कुमारों में, दूसरे असंख्य ऋषि-मुनियोंमें और अस्त्र ज्ञान भी कोई योग्यता है ? वह तो असुरोंमें भी बहुत अधिक हुआ करती है।

मैंने कुछ तो नहीं किया पुरुषोत्तमकी प्राप्तिके लिए। पराश्रित, परान्नभोजी देवव्रत भले भ्रातृपुत्रका ही आश्रित है, इसमें मोह न होता, वनमें जाकर एकाग्रचित्तसे आराधना करनेमें बाधा क्या थी ?

लेकिन नहीं, जो सर्वरूप, सर्वात्मा है, उसकी आराधनाका कोई एकरूप ही क्यों होगा ? उसने जिसे जो योग्यता दी है, उसीके द्वारा तो वह उसकी आराधना करेगा।* तपस्वी तपसे उसकी पूजा करते हैं तो नरपति प्रजापालनके द्वारा उसीकी पूजा तो करता है। गौ अपने दूधसे उसका अभिषेक कर सकती है तो सर्प अपने विषसे उसका सत्कार क्यों नहीं कर सकता ?

कृष्णकी अर्चना कालिय नागने अपने विषसे ही तो की। यह अर्चा स्वीकार करने वे स्वयं उसके हृदमें पहुँचे थे। उसके फणोंको अपना पादस्पर्श दिया उन्होंने।

देवव्रत ब्राह्मण तो नहीं है कि वनमें जाकर तप करेगा। इसका अस्त्रज्ञान क्यों

---

* महाभारतके युद्धारम्भमें स्वय श्रीकृष्णने इस सत्यका स्वीकृति दे दी—
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। —गीता १८. ४६

उनकी अर्चाका माध्यम नहीं बन सकता ? श्रीकृष्णका अतिशय सुकुमार श्रीअङ्ग केवल सुमन सज्जाके लिए है, उनके श्रीचरणों पर पुष्पाञ्जलि ही अर्पित की जा सकती है, यह लोकका भ्रम भीष्म भङ्ग कर देगा । वासुदेव पुष्प, दूर्वादल, तुलसीसे प्रसन्न नहीं होते, वे प्रसन्न होते हैं प्रीतिसे और प्रीति केवल पुष्पोपहार निवेदन करनेमें नहीं है, तीक्ष्ण शराघात करनेमें भी है. यह केवल श्रीकृष्ण समझ सकते हैं। केवल उन भक्तवत्सलमें यह उग्रसेवा स्वीकार करके परम प्रसन्न होनेकी क्षमता है। जीव कैसे इसे सेवा समझ सकता है । विनाशशील, मृत्युका ग्रास अल्पप्राण प्राणी—अत्यन्त भयावह है उसके लिए यह कल्पना ; किन्तु निर्विकार, अविनाशीके लिए वाण-वर्षा और पुष्प-वर्षामें अन्तर है ?

देवव्रतको पुष्प कहाँ प्राप्य हैं ? यह नित्यकी अर्चामें जो पुष्प प्रयुक्त करता है, वे इसके कहाँ होते हैं। इसके समीप तो अपनी एक अंगुल भूमि भी नहीं। यह पराश्रित, किन्तु इसे उन सर्वेशने वाण दिये हैं। अस्त्र-विद्याको यह अपनी कह सकता है। उग्र क्षत्रिय स्वभाव मिला है इसे। जो इसके समीप है, उससे यह उन पुरुषोत्तमकी पूजा करेगा। अवश्य वे इसे इस अर्चाका अवसर देंगे और इसकी इस अटपटी अर्चासे प्रसन्न होंगे।

इस सूर्यग्रहणके अवसर पर वे लीलामय कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उन्हें तीर्थयात्राका, ग्रहण-स्नानका पुण्य चाहिए ? इस बहाने वे आ रहे हैं देवव्रत जैसे अकिञ्चन, असमर्थ अपने आश्रितोंको अपने भुवनमंगल श्रीविग्रहका दर्शन देकर ध्यानको परिपुष्ट करने।

मैं भरनेत्र उन इन्दीवर सुन्दरका दर्शन करूँगा । उन चतुर्भुज, वनमालीका श्रीअङ्ग कैसा दीखेगा जब युद्धमें मेरे तीक्ष्णशरोंसे उनका कवच कट जायगा ? उनका शरोंके व्रणसे विद्ध, शोणित स्रावसे अरुणारुण श्रीअङ्ग और रोषारुण नेत्र, फड़कते अधर वे चक्र उठाये मेरी ओर दौड़ेंगे—मुझे मार देने दौड़ेंगे । तब धनुष फेंककर देवव्रत अञ्जलि बाँधकर उनके सम्मुख मस्तक झुका देगा। धन्य हो जायगा इसका जीवन, कृतार्थ हो जायँगे इसके नेत्र। शराघातको श्रेष्ठतम पूजा वही स्वीकार कर सकते हैं।

अकिञ्चन देवव्रतके वही सर्वस्व हैं । वही स्वामी हैं इसके प्राणोंके। यह उनका तुच्छचरणाश्रित। उनके अतिरिक्त तो कोई भीष्मका अपना नहीं है। लेकिन इसे उन्होंने जो विद्या, जो साधन दिये हैं; उसीसे तो वह इनकी अर्चा करेगा।

वे सर्वज्ञ कहाँ देखते हैं कि देवव्रत दुर्योधनका समर्थक बन गया है। वे तो इसे—केवल इसीको कृतार्थ करने कुरुक्षेत्र आ रहे हैं । यह भरनेत्र उनके श्रीविग्रहको देखले और अपने अभीष्ट रूपमें उनके ध्यानका अवलम्ब पा जाय, इसलिए पधार रहे हैं। वे इसीसे मिलने तो आ ही रहे हैं वहाँ इस समय।

—०—

विदुरजी---

अनादि, अनन्त सृष्टि-प्रवाह ; क्योंकि वासनासे कर्म और कर्मसे वासनाका चक्र कभी समाप्त नहीं हुआ करता। इस भव-प्रवाह-पतित प्राणीका कभी अकस्मात ही उद्धार हो जाता है। जैसे सरिताके प्रवाहमें पड़ा तृण कभी धाराकी प्रेरणासे किसी कूल पर भी आ लगता है।

प्राणीका पुरुषार्थ क्या ? उसका पुरुषार्थ उसके भटकावको गति ही देगा। वह बहुत प्रयत्न करे तो ब्रह्मलोक तक चला जायगा ; किन्तु वहाँसे उसे अन्ततः इस धरा पर ही आना है। किसीके कर्मका परिणाम तो अपवर्ग है नहीं और वासुदेव तो कर्मप्राप्य कभी होते नहीं हैं।

वे अनन्त करुणा वरुणालय जीवों पर अकारण कृपा करके धरा पर पधारते हैं। बार-बार पधारते हैं। उनके भी अवतारका कहीं कोई कारण हुआ करता है ? कोई स्थिति उन्हें विवश करनेमें समर्थ है ? कोई ऐसा भी कार्य है जो सर्वेश्वरेश्वर अपने संकल्पसे ही सम्पन्न करनेमें समर्थ न हों ?

उनका ही नित्य अंश जीव उनके अङ्कमें ही स्थित भटक गया है। माया मुग्ध हो गया है। अपनी वासनासे इस स्वप्न-संसारकी सृष्टि करके इसे देखनेमें लगा है। इसका यह दुःखद स्वप्न समाप्त होनेका नाम ही नहीं लेता। अनन्त हैं इसकी वासनाएँ, अतः असीम है। उनका कर्म-विस्तार। इससे इसका छुटकारा हो, यह अपनी अज्ञान-निद्रासे जागे तब और जागे जब अपनी वासनाओं को न देखकर अपने अन्तर्यामी वासुदेवकी ओर देखे।

जीवकी वासनाओं में ही वासुदेवके दर्शनकी वासना, उनसे मिलनकी अभीप्सा आकर सम्मिलित हो जाय, तब जीवका उद्धार हो। अतः वे अहैतुक उदार इसके कर्मक्षेत्रमें स्वयं बार-बार अवतीर्ण होते हैं। अपने अचिन्त्य प्रभाव नामका, चिन्मय रूपका, परम पावन लीलाओंका विस्तार करते हैं। जीवको अवलम्ब देते हैं कि वह इनको अपनी वासनाका विषय बनाकर, इनका आश्रय लेकर कर्म-प्रवाहसे पार हो जाय।

इतना सब होने पर भी जीव कहाँ सचेत होता है। वे स्वयं ही किसीको अपना लें, किसी पर अतिशय अनुकम्पा करें, तब उनमें, उनके नाममें, रूपमें उनकी लीलाओंके चिन्तनमें चित्त लगता है। अन्यथा तो यह अनन्त कालसे विषय-विषका अभ्यासी चित्त, विटकी-को सुधा कैसे सुहाये।

वे दयानिधान अपनेसे अभिन्न अपने निज-जनोंको भेजते हैं प्राणियोंके मध्य और फिर उनकी भुवन पावनी भक्तिसे विवश स्वयं आ जाते हैं। उनके निजजन न आवें धरा पर, माया-मोहित जीवको भक्तिका प्रसाद प्राप्त होना सम्भव होगा? उनके निजजन— उनके सर्वस्व ही न भेजें उन्हें, माया-मोहित करनेमें समर्थ है उनको ? कितनी भी गहनान्धकार पूर्ण रात्रि हो, सूर्यमण्डल तक पहुँच सकेगी ? भगवती योगमाया भी तो असमर्थ रहती हैं ऋषिकेशके भक्तोंको कोई विभ्रम उत्पन्न करनेमें। वे भी तो केवल लीलाके लिए रंगमञ्च ही प्रस्तुत कर सकती हैं। तब कर सकती हैं, जब उनके लीलामय स्वामी लीला करना चाहें और उनके स्वजन उस लीलामें सम्मिलित होनेकी स्वीकृति दें।

वासुदेव इस द्वापरान्तमें धरा पर पधारे हैं। उनकी अचिन्त्य लीलाका रहस्य जाननेमें तो कोई समर्थ नहीं है। उनकी लीला, बार-बार जरासन्धको पराजित करके भी छोड़ते गये और अन्तमें उससे मानो भयभीत हों, इस प्रकार मथुरा त्याग कर द्वारिकामें जा बसे।

अब यह भी तो उनकी लीला ही है कि वे ग्रहण-स्नान करने कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। अपने समस्त सुहृदोंके साथ आ रहे हैं। जिनके श्रीविग्रहका काल्पनिक चिन्तन भी जीवको अनन्त जन्मोंके कलुषसे विमुक्त करके उनका दिव्य धाम दे देता है, उनको स्वयं अथवा उनके स्वजनोंको तीर्थ-स्नान शुद्ध करेगा ?

वे धरा पर प्राणियोंके परित्राणार्थ ही तो पधारते हैं ? तब वे कुरुक्षेत्र न आते, यही आश्चर्यकी बात होती। इस अवसर पर भारतके श्रद्धालुओं, धर्मिष्ठोंका भारी समुदाय एकत्र होगा कुरुक्षेत्र में। धर्मके वे परमप्रभु इन सब धर्मनिष्ठोंके मध्य आकर अपनी सन्निधिसे उन्हें धन्य करेंगे।

श्रीकृष्णचन्द्र पधारेंगे कुरुक्षेत्र तो उनके द्वारिकाके स्वजन ही तो उनके साथ नहीं आवेंगे। धरामें और दिव्यलोकोंमें भी जो उनके अपने हैं, जो उनके श्रीचरणोंके चिन्तक, उनके दर्शनेच्छु हैं, वे सभी तो आवेंगे इस अवसर पर।

दयामय वासुदेवका दर्शन तो कदाचित कभी सुलभ भी हो जाय, जैसे हस्तिनापुर वे आ गये थे; किन्तु जिनसे मिलनेको वे भी उत्सुक होकर गोलोकसे दौड़नेको विवश होते हैं, उनके उन् भक्तोंका दर्शन होगा इस अवसर पर।

वासुदेव अकारण कृपालु हैं। मुझ जैसे दासी-पुत्रको वे पितृव्य कहकर सम्मानित करते हैं तो अद्‌भुत क्या है ? वे स्वभावसे ही पतित-पावन हैं। अपने चरणाश्रितको सम्मान देना उनकी निज प्रकृति है। विदुरके वही तो सर्वस्व हैं।

पाण्डुपुत्र संयमी हैं, धार्मिक हैं और केवल वासुदेव ही तो उनके आश्रय हैं। अर्जुन उनका नित्य सखा, उस नरको ये नारायण कभी त्याग कैसे संकेत हैं। विदुरको तो पाण्डवोंके कारण सुलभ हो गये हैं श्रीकृष्णचन्द्र। वैसे भी श्रीकृष्ण तो कभी दुर्लभ नहीं होते। उनके श्रीचरणोंको पानेकी पिपास प्राणीमें जागे तो वे वनमाली दुर्लभ रह सकेंगे ?

यह पिपासा जागती है भक्तोंकी पादरेणुके प्रसादसे। भक्तिके धनी तो नहीं हैं वासुदेव। वे भी भक्ति-विवश, प्रेमके प्यासे ही रहते हैं सदा। भक्तिके धनी तो उनके परम भावुक भक्त हैं। उनकी पदरजमें पुनीत हुए बिना श्रीकृष्ण प्रेमकी प्राप्तिकी आशा—मरुस्थलकी रेतमें कोई स्नेहान्वेषण करे, कोई परिणाम होगा ?

इस पर्व पर कुरुक्षेत्रमें वासुदेव तो मिलेंगे ही, वे हस्तिनापुरमें भी मिल सकते हैं, किन्तु मिलेंगे वहाँ वासुदेवके सहस्र-सहस्र परम प्रेमी, भावुक, रसप्राण भक्तजन ! उनकी पदरज प्राप्त होगी वहाँ।

—:०:—

विदुर-पत्नी—

अतसी-सुमन-सुन्दर, पीतवसन, कमल-लोचन वनमाली श्रीकृष्णको स्वामी कहते हैं कि वे भगवान वासुदेव हैं। साक्षात् श्रीहरि हैं। वे चतुर्भुज तो हैं। वसुदेवजीके पुत्र हैं, अतः वासुदेव भी हैं। स्वामी असत्य कभी बोलते ही नहीं, इससे मान लेती हूँ कि वे श्रीहरि हैं। अवतार धारण किया है उन्होंने ; किन्तु मान ही लेती हूँ। इसे मेरा मन तो स्वीकार ही नहीं करता।

श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आये थे। पाण्डुपुत्रोंका लाक्षागृहमें दाहका समाचार पाकर आये थे। ऐसे समीप आकर बैठ गये थे, जैसे युग-युगके परिचित हों। कितने लीलामय हैं। उनके कमल-लोचन भरे-भरे लगे, उनका श्रीमुख खिन्न दीखा तो मुझे लगा कि मेरा हृदय फट जायगा। मैं तो कहने ही लगी थी—'पाण्डव भस्म नहीं हुए। वे अवश्य अग्निसे बच निकले हैं और शीघ्र अत्यधिक अभ्युदय प्राप्त करके लौटेंगे। मेरा मन बार-बार यह कहता है। यदि अपने स्वामीके अतिरिक्त मैंने संसारके दूसरे सब पुरुषोंको पिता, पुत्र या भाई ही जाना हो तो मेरा विश्वास मिथ्या नहीं हो सकता।'

'बोलो मत ! बोलो मत चाची !' उन कमल-लोचनने मेरे मुख पर हाथ धर दिया था—'अनेक बार प्रचलित असत्यको सत्यके समान स्वीकार कर लेनेमें अपना और अपनोंका हित होता है।'

'मैं तुम्हारे इन नेत्रोंमें अश्रु नहीं देख सकती ।' अपने अञ्चलसे ही उनका मुख पोंछकर मैं बोली तो हँस उठे ।

'चाची, प्रचलित सम्वादको सत्य स्वीकार करके उसके अनुकूल अभिनय न किया जाय तो उस पर जिनकी आस्था हम चाहते हैं कि बनी रहे, वे सन्दिग्ध हो जायँगे ।' भुवन-मोहन सस्मित बोले और मुझे हँसी आ गयी ।

'तुम सचमुच नटखट हो । यहाँ मेरे सामने भी अभिनय करने लगे थे ?'

'तुम भी इस अभिनयमें दृढ़ रहो, इसलिए ।' उन्होंने फिर मुख बना लिया— 'तुमने तो उलाहना ही देना प्रारम्भ कर दिया । पूछा भी नहीं कि मैं कुछ खाऊँगा भी या नहीं । हस्तिनापुर आया तबसे मुखमें कुछ गया नहीं और तुम भी········ ।'

मैं व्याकुल हो उठी थी । सचमुच कितनी बड़ी भूल हुई थी । वे कितने सुकुमार हैं । सबसे मिलनेमें, सबके सामने शोकाभिनय करनेमें कितना समय लगा और उनका श्रीमुख सूख रहा था, यह मैं देख ही नहीं सकी ।

उस दिनका शूल मेरे हृदयसे कभी क्षण भरको भी नहीं निकल सका । श्रीकृष्ण-चन्द्र मेरे गृहसे, हस्तिनापुरसे भूखे ही चले गये । मैं उन्हे कुछ आहार दे सकूँ, यह समय ही नहीं मिला मुझे । सत्यभामा रुदन-क्रन्दन करती आ पहुँची थी । खुले केश, द्वारिकासे एकाकिनी रथमें आयी थीं वे । उनके पिताको शतधन्वाने मार दिया था । पिताका शव सुरक्षित छोड़कर आ गयी थीं । ऐसी विपत्तिमें वे कहाँ जातीं ? उनके कोई भाई नहीं, पिता रहे नहीं । विपत्तिमें स्वामीके समीप न दौड़तीं तो करतीं क्या ?

श्रीकृष्ण मेरे सदन शोकाभिनय करते आये थे और सचमुच शोक उपस्थित हो गया । वह क्या ऐसा अवसर था कि उनसे आहार लेनेको कहा जा सके ? तत्काल पत्नीके साथ रथमें बैठे और द्वारिका चल पड़े थे ।

भूखे चले गये मेरे सदनसे श्रीकृष्ण । मैं हतभागिनी उनके मुखमें कुछ नहीं दे सकी । यह शूल मेरे हृदयमें धँसा है । यह दूर होगा कभी ? कभी वे फिर आवेंगे मेरे सदन ? मैं उनके मुखमें कुछ देनेका सुयोग जीवनमें फिर पा सकूँगी ?

श्रीकृष्णका वह नटखट स्मितसे शोभित कमलमुख । उन्होंने अपना पद्मपाणि धर दिया था मेरे मुखपर । ऐसे लगता है कि वह स्पर्श शाश्वत हो गया । अभी भी वह कर मुख पर धरा ही लगता है । अब भी मेरे कर दिनमें अनेक बार अञ्चल उठाते हैं । जैसे वे मयूर मुकुटी सामने ही हों और उनका मुख पोंछ देना हो ।

श्रीकृष्ण तो जैसे मेरे रोम रोममें बस गये । वे सुकुमार, वे भुवनसुन्दर, वे सहज सरल । उनका स्मरण करके मुझ सन्तति-हीनाके स्तनोंकी धारा कञ्चुकी भिगाती

रहती है। मेरा वात्सल्य—श्रीकृष्ण मिले और लगा कि मैंने अपना जन्म-जन्मका बिछुड़ा बालक पा लिया। बालक ही तो—बालके समान सरल सहज कृष्णचन्द्र। शिशुके समान उनका श्रीमुख।

स्वामी कहते हैं कि वे परात्पर पुरुष हैं। वे चतुर्भुज हैं, यह देखकर भी मेरे नेत्रोंने कहाँ देखा था। मुझे तो वे बालक लगे थे। अपने बालक और क्षुधा शुष्क मुख मेरे गृहसे वे चले गये।

वे वासुदेव कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे। उनसे कहूँगी—'एक बार पुनः मेरे गृह नहीं पधारोगे? इस कङ्गालिनीको अवसर नहीं दोगे कि यह अपने सम्मुख तुम्हें बैठाकर अपने करोंसे तुम्हारे मुखमें कुछ दे सके? तुम इसके गृह आये और वैसे ही भूखे लौट गये। इसकी इस व्यथाको शान्त नहीं करोगे?'

श्रीकृष्ण मिलेंगे कुरुक्षेत्रमें; किन्तु मैं उनसे यह सब कह सकूँगी? स्वामी कहते हैं कि वासुदेव अपनी समस्त पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। वे सब मेरी पुत्र बधुएँ और उसके पुत्र मेरे पौत्र ही तो हैं। वे कुरुक्षेत्रमें मुझे कुछ कहनेका अवसर देंगी?

मेरा सौभाग्य—श्रीकृष्णकी महिषियाँ मेरी पद-वन्दना करेंगी। देवी देवकी और रोहिणीको मैं अङ्कमाल दे सकूँगी। उनके पौत्रोंकी वन्दना, मेरी गोदमें बैठेंगे वे सब।

वहाँ मुझे वासुदेवसे कुछ कहनेका समय मिलेगा? मैं मुखसे ही कुछ कहूँ, यह आवश्यक है? वे मेरे हृदयकी, मेरे रोम-रोमकी पुकार नहीं सुनेंगे? मेरे नेत्र उन्हें पुनः देख सकेंगे। वे मुझसे सुप्रसन्न मिलेंगे।

—:०:—

देवी कुन्ती–

अपना-अपना भाग्य, कोई किसीको क्यों उलाहना दे। भाई वसुदेवकी बहिन, महाराज कुन्तिभोजकी दत्तक पुत्री, दिगन्तजयी सम्राट पाण्डुकी पत्नीको कम सौभाग्य प्राप्त था ; किन्तु लोकाराध्य धर्म, वायु तथा सुरेन्द्रके अंशसे सन्तान प्राप्त करके भी पृथा भाग्यहीना हो गयी। महाराज पाण्डु प्रशप्त होकर वनमें गये और अबोध बालकोंको छोड़कर परमधाम पधारे। जो दूसरोंको आश्रय दिया करती थी, वह अपने शिशुओंके साथ पराश्रिता हो गयी।

अपने ही राज्यमें, अपनोंमें ही कुन्ती पराश्रिता है। जो इसीके स्वामीका सिंहासन लेकर सम्राट बने हैं, उनकी कृपा पर आज मुझे निर्भर रहना है। मुझे दैवने किस दुर्विषह स्थितिमें डाल दिया। मुझे आश्रय देने वाले ही मेरे पुत्रोंको मार देनेकी घातमें रहते हैं और मुझे रात-दिन सशंक रहना पड़ता है। मैं इन बच्चोंको लेकर कहीं जा भी तो नहीं सकती। मेरे पुत्रोंका दोष यही है कि वे संयमी हैं, उदार हैं, शूर हैं, प्रतिभावान हैं और प्रजाको अपने सद्‌गुणोंके कारण प्रिय हैं।

मेरे भीमसेनको विष देकर सरितामें फेंक दिया सबोंने। मुझे पुत्रोंके साथ लाक्षा-गृहमें भस्म ही कर देनेका कुचक्र रचा गया। वन-वन भटक कर किसी प्रकार अपने शौर्यसे मेरे बच्चे पाञ्चालपतिकी कन्याको स्वयम्वरमें प्राप्त कर सके, तब केवल श्रीकृष्णचन्द्रने सुधि ली मेरी। अकेले वही ढूँढ़ते आये थे।

वे कमल-लोचन, अनाथनाथ। उनके अतिरिक्त कौन अशरण, अनाथोंकी सुधि ले। उन्होंने मेरे भाई अक्रूरको मथुरासे ही भेजा था मेरे बालकोंका समाचार लेने। सुना है मैंने कि वे लाक्षागृहमें हम सबके जलनेका समाचार पाकर द्वारिकासे दौड़े आये थे।

धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको लगा होगा कि पाण्डव अब महाराज द्रुपदके सम्बन्धी हो गये और उनका कुकृत्य लोक प्रसिद्ध हो चुका तो अपना अयश दूर करनेको हम सबको ले आये हस्तिनापुर ; किन्तु फिर निर्वासित कर दिया। महारण्य खाण्डववनके समीप इन्द्रप्रस्थमें हमें भेजनेका तात्पर्य कोई भी समझ सकता है। जिस वनमें मायावियोंके परमाचार्य दानवेन्द्रमय और महानाग तक्षक अपने स्वजनोंके साथ रहते हों, उसके समीप बसने वाला सकुशल रहेगा ?

श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं। उन सर्वेश्वेरवरके लिए अपना-पराया क्या? लेकिन उनका स्वभाव ही कल्पवृक्षके समान है। जो उनका आश्रय ले, वही उनका। उसीके वे अपने हो जाते हैं। पृथाका और पितृहीन इसके पुत्रोंका तो उन वनमाली वासुदेवके अतिरिक्त कोई आश्रय नहीं है। वे अपने आश्रितोंकी उपेक्षा करना कहाँ जानते हैं। वे सानुकूल हैं तो सृष्टिकी सभी विषमताएँ सानुकूल बननेको बाध्य हैं।

मैं विवशा थी। नवविवाहिता पुत्रवधू और पुत्रोंके साथ इन्द्रप्रस्थ न आती तो करती क्या? महारण्यके पार्श्वमें अरण्यानी ग्राममें महाराज पाण्डुकी पत्नीको आना पड़ा पुत्रोंको लेकर विपत्तिके दिन काटने। अहर्निशि आशङ्का, भयसे घिरा जीवन; किन्तु हम वहाँ पहुँचे और शरणागत वत्सल वासुदेव आ गये।

अब अन्धे सम्राटके पुत्र सिर पीटते हैं। उन्होंने कल्पना भी नहीं की होगी कि सुरेन्द्रके द्वारा संरक्षित महाकान्तार खाण्डव अग्निकी भेंट हो जायगा और दानवेन्द्र मय विनीत सेवक बनकर पाण्डवोंके लिए सुर भी स्पृहा करें, ऐसी दिव्य राजसभा बनानेमें अपना सम्पूर्ण कौशल व्यय करेंगे।

श्रीकृष्ण आये और उनका भ्रू-विलास तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-प्रलय करता रहता है। हस्तिनापुर हेय होगया इन्द्रप्रस्थ के सम्मुख। विश्वकर्माने सौभाग्य माना अपना श्रीकृष्णके संकेतका पालन करनेमें। उन्होंने उस अरण्यमानी ग्रामको धराका सर्वश्रेष्ठ महानगर बना दिया।

अब वे वासुदेव कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। सूर्य ग्रहणके महापर्व पर वे मिलेंगेवहाँ। मुझे उन्हें उलाहना देना है। पृथा उनकी पितृष्वसा है। इसे उपालम्भ देनेका स्वत्व प्राप्त है। इसे और इसके पुत्रोंको वैभव नहीं चाहिये। इसे चाहिये उनके श्रीचरणोंकी प्रीप्ति। यह प्रीति नहीं देते और वैभव देकर इसे विमुग्ध करते हैं?

पृथाको वैभव नहीं चाहिये। इसे चाहिये विपत्ति—पद-पद पर, बार-बार विपत्तिका वरदान चाहिये; क्योंकि वैभव अपने साथ उन वासुदेवकी विस्मृति ला सकता है; किन्तु विपत्तिमें तो वे विपत्ति-विमोचन वनमाली क्षण-क्षण स्मरण आते हैं। मैं एक दिन अवश्य उनसे विपत्तिका वरदान माँगूँगी।

मेरी कठिनाई यह है कि वे सामने आते हैं तब कुछ स्मरण नहीं रहता। मैं अपनी सब सुधि भूल जाती हूँ। भूल जाऊँ मैं, वे तो नहीं भूलते जो अब वहाँ मिलेंगे मुझे।

—:०:—

धर्मराज युधिष्ठिर--

वासुदेवका न कोई स्वजन है, न पराया। वे सर्वमय, सर्वरूप हैं। वस्तुतः तो वही हैं, एकरस, अव्यय, अखण्ड, अद्वितीय। उन परम ब्रह्ममें यह वैविध्यतो मायासे होनेवाली प्रतीति ही है। उन सर्वाधिष्ठानसे जब पृथक सत्ता नहीं है, तब उनका स्व-पर क्या।

यह परम सत्य होने पर भी यह प्रपञ्च तो प्रतीत हो ही रहा है। इसके रूपमें भी वही है। इसके नियन्ता, सञ्चालक भी वही हैं। अतः सृष्टिसे भी उनका अपना-पराया कोई नहीं है। वे सर्वेश्वरेश्वर समदर्शी हैं।

यह सब होने पर भी यह सत्य है कि वे भक्तवत्सल हैं। भक्त-पक्षपाती हैं। उन अनन्त कृपासिन्धुकी कृपावर्षा अजस्र सब पर हो रही है; किन्तु उस कृपाका विशेष ग्रहण तो वे ही कर पाते हैं जो उनके चरणाश्रित हैं। जिन्होंने अपनेको उनके श्रीचरणोंमें उत्सर्ग कर दिया है।

अपने परमप्रिय भक्तों पर अनुग्रह करके वे इस मर्त्यधरा पर अवतीर्ण हुए हैं। धन्य है यह धरित्री, धन्य है यह द्वापरान्तका परम पावन काल और धन्य हैं हम सब इस समय इस भारतवर्षमें जन्म प्राप्त करने वाले मानव, जो वासुदेवको अपने मध्य अपने समान प्राप्त करते हैं। हमें उन पुरुषोत्तमका सान्निध्य प्राप्त करनेका सुयोग मिला है।

उनकी सेवा, उनकी अर्चा अल्पशक्ति जीव क्या करेगा? लोकपालोंका वैभव भी तो उनका प्रसाद ही है। सेवा, पालन तो सबका वे ही करते हैं।

अब वे इस ग्रहण महापर्व पर कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। हमको उनका दर्शन होगा, उनके समीप रहनेका सुअवसर मिलेगा। जन्म-जन्मके तपसे, ध्यानसे जिनकी क्षणार्ध झांकी भी सुलभ नहीं, वे हमारे मध्य रहेंगे।

वे अच्युत ही धर्मके रक्षक, पालक हैं। युधिष्ठिर अपनी अल्पशक्तिके अनुसार यत्किञ्चित् धर्माचरणका प्रयत्न करता है, इसलिए वे इसका आदर करते हैं।

सृष्टिकर्ता एवं भगवान भवानीनाथ भी जिन्हें अपना आराध्य मानते हैं, वे सर्वेश आदर करते हैं इस अल्पप्राण, अल्पशक्ति युधिष्ठिरका। अग्रजसे भी अधिक सम्मान देते हैं इसे।

हमारे समीप है ही क्या उनका सत्कार करनेको। हम पाण्डुपुत्रोंके वही रक्षक, पालक हैं। हम तो वनमें उत्पन्न हुए और हस्तिनापुर आये भी तो फिर लाक्षागृहसे वनमें भागकर भटकनेको बाध्य हुए। हमतो भिक्षा-जीवी थे। द्रुपदनगरसे बुलाये गये तो पुनः महाकान्तार खाण्डवके समीप एक ग्राममें भेज दिये गये। क्या धरा था पाण्डवोंके पास।

वासुदेवने खाण्डव वनको भस्म कराके प्रशस्त प्रदेश बना दिया। सुर भी जिनसे सशङ्क रहते हैं वे दानवेन्द्रमय सेवकके समान करबद्ध उपस्थित हुए और उन्होंने राजसभा निर्मित की तो विश्वकर्माने नगर-निर्माणमें अपना सम्पूर्ण कौशल व्यय किया। आज कहा जाता है कि अमरावती, अलका आदि पुरियोंसे भी इन्द्रप्रस्थ अधिक सुशोभन है। पाण्डवोंकी राजसभाकी त्रिभुवनमें समता नहीं है। यह सब उन हृषीकेशका ही तो प्रसाद है।

महेन्द्र खाण्डव वनके रक्षक थे और दानवेन्द्र मय उसमें निवास करते थे। श्रीकृष्ण सहायक न होते तो अर्जुन दे पाते अग्निदेवको वह वन ? विश्वकर्माको अपना नगर-निर्माणमें लगानेका कोई उपाय था हमारे पास ?

वासुदेव हमारे हैं, यही हमारी सबसे बड़ी शक्ति, सबसे बड़ा पुण्य, सबसे बड़ा सौभाग्य। अवश्य इस सौभाग्यको, शक्तिकी सृष्टिमें कहीं समता नहीं है। पाण्डव यदि शक्तिशाली हैं तो वह शक्ति वासुदेव हैं। वे हमारे सर्वस्व, हमारे प्राणोंके प्राण। वे हमारे इसीलिए हैं क्योंकि हम उनके हैं—उन्हींके हैं। उनको छोड़कर तो पाण्डवोंका कहीं कोई आश्रय नहीं है।

वसुदेवजीकी और भी बहिने हैं। वासुदेवके सम्बन्धियोंकी संख्या नहीं है ; किन्तु उन केशवको कोई लौकिक सम्बन्ध बाँधता है ? उनके साथ जीवका एकही सम्बन्ध—प्रीतिका, अपनत्वका सम्बन्ध और पाण्डव उन्हें छोड़ दें तो रहेंगे किसके होकर ? हमारा तो उनके अतिरिक्त कहीं कोई आश्रय नहीं है।

वासुदेव मिलेंगे कुरुक्षेत्रमें। अपने वासुदेव, जन्म-जन्मके अपने, सदाके अपने, जीवके जो सचमुच अपने हैं, वे वासुदेव मिलेंगे। इस बार अपने पूरे परिवार, परिकरोंके साथ मिलेंगे।

उनका सत्कार करने योग्य हमारे पास क्या है ? कोई भी उनका सत्कार क्या कर सकता है ? हमारा सर्वस्व उन्हींका है। उनका सबसे बड़ा सत्कार है उनके श्रीचरणोंमें अपनेको उत्सर्ग कर देना। मुझे तो वही अभिवादन करते हैं। वे लीलामय हैं, उन्हें प्रिय लगे वह करें ; किन्तु मेरा परम भाग्य, वे मिलेंगे। भुजा फैलाकर मुझसे वे मिलेंगे।

—o—

महाप्राण भीमसेन--

अब कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्ण मिलेंगे। मुझे ऐसा लगता है, जैसे युगों के पश्चात् मिलने वाले हों वे ; किन्तु अद्भुत हैं वासुदेव। वे मिलेंगे तो ऐसे मिलेंगे, ऐसा लगेगा जैसे कभी पृथक हुए ही न हों। एक क्षणको पृथक हों तो लगता है जैसे उनसे पृथक हुए असंख्य जीवन बीत गये और सामने आते ही प्रतीत होता है कि ये अपने से कभी पृथक ही नहीं हुआ करते।

लोग कहते हैं कि भीमसेनमें रसबोध है ही नहीं। यह बात एक सीमा तक सत्य है। मैं मोदक और अपक्व अन्न समान स्वादसे खा लेता हूँ। आहार का स्वाद नहीं चाहिये मुझे, उसका प्रचुर होना आवश्यक है। मेरे उदरमें जो वृकाग्नि है, वह अल्प आहुतिसे तृप्त नहीं होती।

स्वरका भला क्या रस? पता नहीं लोगोंको वीणाका क्षीणस्वर क्यों प्रिय है। स्वर होता है शंखमें, दुन्दिभिमें और कभी-कभी घनगर्जनका नाद भी उत्तम होता है। मुझे जैसे विपुल आहार प्रिय है, प्रखर उच्चघोष अच्छा लगता है।

अवश्य ही भीमको सुगन्धि-दुर्गन्धिमें कोई विशेष रुचि नहीं है। जिसके करोंमें पड़कर पाषाण भी मिश्रीके समान पिस उठता है, उसे स्पर्शको क्या चिन्ता। वनमें भीमसेन शिलातल पर और भूमि पर समान रूपसे गम्भीर निन्द्रा लेता था। सुखद स्पर्श कभी-कभी मिला मुझे और वह तब मिला जब हिडिम्ब जैसे किसी राक्षसने पूरी शक्तिसे वृक्ष अथवा मुष्िकाका प्रहार किया।

मैं मानता हूँ कि मुझे दन्तवक्रमें भी कोई कुरूपता नहीं दीखती। हिडिम्बा बहुत सुन्दरी बनी ठनी न रहती तो मुझे अन्तर नहीं पड़ता था। उसके भाई हिडिम्बका रूप भी मुझे ता असुन्दर नहीं लगा था।

यह भीमका सहज स्वभाव पता नहीं क्या होजाता है जब श्रीकृष्ण सम्मुख आते हैं। उनके समीप आते ही मेरी सब इन्द्रियोंमें एकसाथ असीम शक्ति जाग पड़ती है। पृथ्वी पर अकेला भीम है जो कह सकता है कि कृष्ण इससे छिप नहीं सकते। इसकी नासिका वायु प्रतिकूल न हो तो एक योजन दूरसे उनकी अङ्ग-सुरभि ग्रहणकर लेती है। कुरुक्षेत्रमें भले लक्ष-लक्ष लोग आवें, भीमके नेत्र बन्द करदो तो भी वह सीधे वासुदेवके समीप जा खड़ा होगा। उनके शरीर-सौरभकी कहीं तुलना है।

स्वाद का वासुदेवके कर-स्पर्शमें है। वे अपने करोंसे कटु निम्बपत्र भी स्पर्श करदें तो त्रिभुवनमें कोई नहीं जिसे वह अप्रिय लगेगा। उनके स्पर्शमें अमृत है और सृष्टिमें अकेले वे सुन्दर हैं। उनके अतिरिक्त सृष्टिमें कहीं सौन्दर्य भीमके नेत्र नहीं देख पाते तो असत्य देखते हैं ?

श्रीकृष्ण जब हँसते हैं, बोलते हैं, सङ्गीत क्या होता है, यह मैं भी समझ लेता हूँ। उनके वंशीवादन की प्रशंसा सुनी है ; किन्तु मैंने तो उन्हें कभी गायन करते भी सुना नहीं। तब भी जानता हूँ कि संगीत उनके स्वरमें ही निवास करता है। अपने गायनके लिए प्रसिद्ध गन्धर्वश्रेष्ठ तुम्बरूकी वीणा मैंने सुनी, पर जब श्रीकृष्ण सामान्य बातभीं कहते हैं, लगता है कि बहुत कर्कश स्वर है तुम्बरूकी वीणाका।

सौकुमार्यकी मूर्ति वासुदेव, उनकी मृदिमाके लिए कोई उपमा सृष्टिमें नहीं है। यहीं मुझे बहुत अधिक संकोच होता है। भीमके कठोर कर क्या उनको स्पर्श करने योग्य हैं ? भीमका शरीर इस योग्य है कि वासुदेव इसका स्पर्श करें ? लेकिन वे मानते नहीं हैं। मैं उनसे दूर-दूर रहनेका चाहे जितना प्रयत्न करूँ, वे दौड़े आवेंगे और लिपट जायँगे। उनका स्पर्श पाये बिना कोई कैसे समझेगा कि स्पर्शमें कितना अमृत हुआ करता है।

रसराज, रससिन्धु एकमात्र वासुदेव हैं। उनके अतिरिक्त संसारमें भीमको कहीं रस नहीं दीखता तो यह अरसिक है ? इसे तो संसारमें केवल काम चलानेकी विवशता लगती है। यह वासुदेवकी अनुकम्पा है कि भीमको संसारमें काम चला लेनेमें कठिनाई नहीं होती। संसारमें सुगन्धि-दुर्गन्धि, कोमल-कठोर, सुरूप-कुरूप, सुस्वादु-कुस्वादु इसे कष्ट नहीं देते। संसारमें इसे केवल भोजन चाहिये—प्रचुर भोजन।

भीम भोजनके बिना रह नहीं सकता, यह भी लोगोंका भ्रम ही है। भीमको भोजनका स्मरण भी नहीं होगा, महीनों-वर्षों स्मरण नहीं होगा यदि श्रीकृष्ण इसके समीप रहें। अद्भुत हैं वासुदेव। वे समीप होते हैं तो भीमके उदरकी वृकाग्नि भी आहुति माँगना भूल जाया करती है। उनके सम्मुख भोजनका कभी स्मरण मुझे नहीं हुआ।

तृप्तिके साक्षात् स्वरूप हैं श्रीकृष्ण। समस्त इन्द्रियोंकी परम तृप्ति उनकी सन्निधि में होती है। वे अब कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे मुझे।

—:✱:—

अर्जुन—

विवशता है परिस्थितिकी जिससे मैं यहाँ हूँ। माता और श्रद्धेय अग्रजको छोड़कर मैं जा नहीं सकता; किन्तु मेरा हृदय यहाँ रहता नहीं है। मेरा वश हो तो मैं द्वारिकासे एक क्षणको अन्यत्र न जाऊँ अथवा श्रीकृष्णचन्द्रको ही यहीं रोके रहूँ।

'कृष्ण !' माताने ही बतलाया था मुझे शैशवमें कि यह भी मेरा एक नाम है। कृष्ण ! इस नामसे मुझे कोई पुकारता था तो मैं चौंककर इधर-उधर देखता था कि जिसे पुकारा गया है, वह है कहाँ।

कृष्ण, शरीरके श्याम होनेसे लोग कभी कभी इस नामसे मुझे पुकारते थे; किन्तु माताके बतलाने पर भी मेरे मनने यह नाम अपना कभी स्वीकार नहीं किया। मैं पहिले चौंकता था और फिर समझ पाता था कि मुझे पुकारा गया है।

'कृष्ण'—यह नाम मैंने शैशवमें सुना। मुझे ही इस नामसे सम्बोधित किया गया था; किन्तु सुनते ही यह नाम मेरे हृदयमें सीधे बैठ गया। मेरा हृदय, मेरा मन, मेरे प्राण, मेरा रोम-रोम उसी दिनसे बराबर जप करने लगे—कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण।

लेकिन यह बात भी पूरी सत्य नहीं है। मुझे लगता है कि जन्मसे, सम्भवतः जन्मसे भी पूर्वसे, सम्भवतः जन्म जन्मसे, अनादिकालसे मेरे प्राण इसी नामका जप करते आये हैं। इस नाममें ही मेरा जीवन है, मेरी शक्ति है। इसके बिना मैं जीवनकी कल्पना भी नहीं कर पाता।

कृष्ण, मैं शिशु था तब भी स्नान, भोजनको प्रारम्भ करते बोलता था। माता कहती हैं कि मेरे मुखसे पहिला शब्दोच्चारण ही यही हुआ था। गुरुगृहमें मुझे शिक्षारम्भमें जब प्रणवपूर्वक गणपति मन्त्रका उच्चारण करनेको कहा गया, तब भी मैंने प्रणव से भी पूर्व कृष्ण कहा था।

कृष्ण मिले मुझे। कितने विषम समयमें मैंने उन्हें देखा था। महाराज द्रुपदके यहाँ पाञ्चालीके स्वयम्वरमें वे भी आये थे। हम सब भाई ब्राह्मण वेशमें थे। ब्राह्मणोंके मध्य बैठे थे। मैंने उन मयूर-मुकुटीको देखा और हृदय आतुर हो उठा दौड़कर उनके चरणोंसे लिपट जाने को। लेकिन वहाँ मैं यह कर नहीं सकता था। वे कमल-लोचन भी मेरी ही ओर देख रहे थे। देख रहे थे मन्द मन्द मुस्कराते। यह

तो पीछे बतलाया उन्होंने कि हम सबको वे पहिचान गये थे। क्यों नहीं पहिचानते अपनोंको वे? हम तो सदासे उनके हैं, उनके ही आश्रित हैं।

'अर्जुन!' वे हमको ढूँढ़ते हमारे निवास पर कुम्भकारके गृहमें आगये थे। माता और अग्रजकी वन्दना करके जब उनको अवकाश हुआ, मैं चरण पकड़ने बढ़ा तो भुजाओंमें भर लिया। मुझे लगा कि इन्हें ही तो मेरे प्राण अब तक ढूँढ़ रहे थे। वे वासुदेव मिले, मिलते ही समस्त औपचारिकता मिट गयी। वे तो जैसे कभी पराये थे ही नहीं।

'मैं तुम्हारा और भाई भीमसेनका पराक्रम देख रहा था स्वयम्वर सभामें।' उन्होंने हँसकर कहा—'तुम लक्ष्य वेधको उठे तभी समझ गया कि पाञ्चाली तुम्हारा स्वत्व है।'

'तुम मुझे सफल देखना चाहते थे तब मैं विफल हो कैसे सकता था।' मैंने कहा था—'लेकिन उन क्रुद्ध राजाओंमें हम केवल दो थे। हम आहत हो गये होते तो?

'मुझे विश्वास था कि ऐसा नहीं होगा'। कृष्णने कहा—'सम्पूर्ण विप्रवर्ग तुम्हारी मङ्गल कामना कर रहा था। तुम्हें आशीर्वाद दे रहा था।'

'मानलो मैं एक क्षणमें उन आघातोंको न झेल पाता।' मैं मिलते ही अत्यन्त घनिष्ठ बन गया था।

'तब एक भी विरोधी नरेश उस राजसभासे जीवित नहीं निकलता।' श्रीकृष्णके स्वरमें परम सत्य स्पष्ट था—'तुम जानलो कि चक्र मेरे चलाये बिना भी सङ्कल्पके साथ सक्रिय हो जाता है।'

'तुम जिसको विजयी देखना चाहते थे, उसकी विजय सुनिश्चित हो चुकी।' मैं साश्रुनेत्र उनके श्रीमुखको देखता रह गया।

वनमाली वासुदेव विदा हुए थे, परन्तु मुझे तबसे नहीं लगा कि वे मेरे समीपसे विदा भी होते हैं। जागते समय भले वे दृष्टि न पड़ते हों, निद्रामें मुझे सदा लगता है कि वे मेरे समीप ही शयन कर रहे हैं। उनका अभयकर मेरे ऊपर स्नेहधारा। सिञ्चित कर रहा है।

वे इन्द्रप्रस्थ आये। अग्निको खाण्डव दे देना और सुरेन्द्रके प्रयासको विफल बना देना बहुत साधारण घटना थी। श्रीकृष्ण समीप हों तो मेरा धनुष समस्त सुर-असुरोंकी सम्मिलित शक्तिको भी सरलतासे पराजित कर देगा। वासुदेव ही शक्तिके मूल हैं। वे पार्श्वमें हैं तब प्रतिपक्षका पराभव पूर्व निश्चित है।

कृष्ण जीवन, कृष्ण घाण, कृष्ण सर्वस्व मेरे और वे द्वारिका में हैं। जैसे कल्पों व्यतीत हो गये उनसे विमुक्त हुए। अब इस पर्व पर वे कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे। मिलेंगे मेरे प्राणधन कृष्ण मुझे।

—०—

नकुल-सहदेव—

'वासुदेव साक्षात् परम पुरुष हैं। हमारा सौभाग्य है कि वे हमें अनुजके समान स्नेह करते हैं।' नकुलने छोटे भाईसे कहा—'लोग कहते हैं कि मैं अश्वविद्याके ज्ञाताओंमें अन्यतम हूँ। मुझे भी अपनी विद्या पर गर्व है। मैं सोचता था कि श्रीकृष्ण शैशवमें गोपाल रहे हैं। मथुरा आकर भी उन्हें गुरु-गृहमें अधीत विद्याके अभ्यासका अवसर नहीं मिला, मैं उन्हें अपनी सेवार्पणके द्वारा सन्तुष्ट करूँगा, किन्तु द्रुपद नगरमें मिलनके अल्पक्षणोंमें ही उन्होंने सहज सामान्य ढंगसे मुझे अश्वविद्याके जो सूत्र सुनाये, मैं स्तब्ध रह गया। समझ गया कि विद्याओंके वही उद्भव स्थान हैं।'

'आपने उनके सारथि दारुकको देखा है?' सहदेवने साभिप्राय पूछा।

'देखा है तात! मिलकर पूछा भी है।' नकुलने अञ्जलि बाँधी—'दारुक अश्व-विद्याके परमाचार्य हैं, किन्तु उन्होंने गद्-गद् कण्ठसे कहा कि उनके स्वामी भगवान वासुदेवकी कृपाने ही उन्हें इतना सक्षम बनाया है। अवसर विशेष पर, कठिन यात्राओंमें उहें भी श्रीकृष्णचन्द्र अश्वचालन अथवा अश्वपरिचर्याके अत्यन्त गुह्य संकेत हँसते हुए सुना देते हैं।

'सहदेव! तुम तो ज्योतिर्विद् हो। अंग-लक्षणके ज्ञाता हो। तुमने....।'

'वासुदेव किसी गणनासे परे हैं।' सहदेवने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा—'मैंने एक दिन मातासे उनके प्रादुर्भावकालको पूछ लिया। वनमें हम सबके समीप कोई विशेष कार्य तो था नहीं। पावसके मेघाच्छन्न दिनोंमें मैं अनेक दिनों तक उनके जन्म-चक्र पर विचार करता रहा हूँ। कोई विद्या, कला अथवा जीवनकी दिशा नहीं जो उनमें परिपूर्ण न हो। किसी अन्य देवता, लोकपालकी भी उनसे समता नहीं। ऐसा सम्भव नहीं कि कोई एक ग्रह, नक्षत्र भी अनिष्ट स्थान पर न हो और यही असम्भव योजना उनके जन्म चक्रमें है। उसमें कोई मृत्युयोग बनता ही नहीं।'

'आपको स्मरण होगा कि द्रुपदपुरके उस कुम्भकार गृहमें वे वनमाली हमारे समीप आये थे, तब मैंने उनके दोनों चरण अपने अङ्कमें ले लिये थे।' सहदेवने कहा।

'तुम्हारे सौभाग्य पर मुझे ईर्षा हुई थी।' नकुलने कहा।

'मैं उनके पादतलके वज्र, अंकुश, पद्मादि देखकर उनके श्रीमुखको देखने लगा

तो उन्होंने हँसकर अपने पद्मपाणि भी मेरे करोंमें दे दिया । 'सहदेवने कहा'—मुझे लगा कि आचार्य वृहस्पतिने उनके कर-चरण देखकर ही भगवान नारायणके चरण एवं करोंके चिह्नोंका वर्णन किया होगा । स्वयं श्रीहरि सम्मुख आसीन हैं, इसमें मुझे सन्देह नहीं रहा ।'

'तुम बालक ही बने रहोगे ?' मैंने उनके चरणों पर मस्तक रखा, मेरे नेत्रविन्दु उन पादपद्मोंको प्रक्षालित करने लगे तो उन कमल-लोचनने स्नेहपूर्वक मुझे तनिक झिड़का । मेरे मस्तक पर अपना कर पंकज रखकर कहा—'मेरे अनुज हो तुम । यह विह्वलता तुम्हें शोभा देती है ? कृष्ण तुम्हारे लिए पराया तो नहीं है कि उसकी इस प्रकार प्रणति दो । कहीं स्तवन प्रारम्भ मत कर देना ।'

'मैं उनकी क्या स्तुति करता ?' सहदेवका स्वर विह्वल होगया—'सुर-देवी सरस्वती भी उनकी यथोचित स्तुति करनेमें असमर्थ हैं । उनकी महिमा किसीकी वाणीकी सीमामें आती है ?'

'हमको वे अपना मानते हैं ।' नकुल भी भावक्षुब्ध हो रहे थे—'उनको पुण्यबलसे यज्ञ-तप जय-योगके द्वारा पाना अशक्य प्राय है । वे अपनी अनुकम्पासे ही प्राप्त होते हैं । हममें तो कोई योग्यता, कोई अधिकार नहीं है उनका स्नेह पाने योग्य ।'

'अपने धर्ममूर्ति अग्रजका अनुगमन ही हमने धर्म माना, इसीसे बासुदेव प्रसन्न हुए ।' सहदेवने कहा—'हमको तो अग्रजके प्रसाद स्वरूप ही उनके श्रीचरण प्राप्त हुए हैं । वे धर्मके नित्य रक्षक अग्रजका सम्मान करते हैं । मध्यम अग्रज भीमसेनसे भी स्नेह करते हैं और गाण्डीव-धन्वा कनिष्ठाग्रज तो उनके नित्य सखा हैं । ऋषिगण नरका अवतार ही कहते हैं उन्हें । अतः उनसे वे नारायण पृथक तो रह नहीं सकते ।'

'हमारा परम सौभाग्य कि हमें ऐसे लोकोत्तर पुरुषोंका अनुज होनेका अवसर मिला ।' नकुलने कहा—'अब कुरुक्षेत्रमें हम दोनोंको उन हृषीकेशकी सेवाका सुअवसर मिलेगा । उनकी सेवा हमारा स्वत्व है ।'

'उनका स्नेह हमारा स्वत्व है और वह हमें प्राप्त होगा ।' सहदेवने कहा—'सेवा तो वे ही समस्त सृष्टिकी करते हैं । हमें सेवा मिलेगी, मुझे यह सम्भावना नहीं दीखती । उनकी सेवाको समुत्सुक असँख्यजन, परम भागवतोंकी भीड़, उसमें हमें अवसर मिलेगा ?'

'न मिले अवसर ।' नकुल निश्चिन्त थे—'वे तो मिलेंगे । हमको उनका स्नेह मिलेगा ।'

दोनों भाव-विभोर थे—'वे वासुदेव इस अवसर पर मिलेंगे ।'



पाण्डव महारानी द्रौपदी--

अकल्पित सम्बोधन, स्वप्नमें भी मैं सोच नहीं सकती थी कि श्रीकृष्ण इस प्रकार मुझे सम्बोधित करेंगे। वह सम्बोधन तो जैसे सीधे हृदयमें प्रविष्ट हुआ और प्राणोंमें बस गया। वही सर्वस्व बन गया मेरा।

महीनोंसे चर्चा थी। मेरी पूजनीया सास तथा मेरे पाँचों पतियोंमें से प्रत्येकको एककी ही चर्चा प्रिय है। दूसरे किसीकी चर्चा जैसे हमारे यहाँ किसीको आती ही न हो। एकान्तमें और सभामें भी, स्वजनोंकी गोष्ठीमें और प्रतिपक्षके मध्य भी हमारे तो सब लोग केवल श्रीकृष्णकी चर्चा करना चाहते हैं। सबको वासुदेवकी कृपाका, उन वनमालीके गुणोंका वर्णन प्रिय है। दूसरी कोई चर्चा आवश्यक हो तभी और उसे भी घुमाकर सब श्रीकृष्णकी चर्चामें परिणत करेंगे।

मेरी सास देवी पृथा वीरजननी हैं। उनके पुत्रोंका पराक्रम, शील, विद्या, सद्‌गुण संसारमें विख्यात है; किन्तु उनके पराक्रमका, विद्याका, व्रतका, दानका, सत्यका भी वर्णन चले तो शीघ्र वे वासुदेवके वर्णन पर उसे ले आवेंगे।

सुना है कि वे मेरे पिताके नगरमें स्वयम्वर सभामें आये थे। मेरे गाण्डीवधन्वा पति कहते हैं कि मेरे स्वयम्वरसे कहीं अधिक कठिन मत्स-वेध उन्होंने मद्राधिपतिकी कन्या लक्ष्मणाके स्वयम्वरमें किया था। उस स्वयम्वरमें गाण्डीवधन्वा भी असफल हो गये थे; किन्तु मेरे स्वयम्वरमें वे अपने सखाको सुयोग देना चाहते थे। गुप्त रूपसे वनवासमें छिपे मेरे पतियोंकी विपन्नावस्था दूर करना था उन्हें। अतः वे लक्ष्यवेध करने उठे ही नहीं। वे तो उस सभामें ऐसे छिपे बैठे रहे कि मेरी दृष्टिमें ही नहीं आये।

वे तो आये इन्द्रप्रस्थ। हम एक अरण्यानी ग्राममें ही तो रहते थे। वहाँ क्या था हमारे पास ? महारण्य खाण्डव आतङ्कोंसे भरा था। लेकिन श्री, शक्ति, वैभव तो वासुदेवकी पदरजके पीछे चलते हैं। वे और खाण्डव अग्निकी भेंट हो गया। हमें उन्होंने विश्वकर्मा निर्मित पुरी दी, दानवेन्द्रमय द्वारा हमारी राजसभा बनवायी। हमारे सर्वस्व वे। हमारा सर्वस्व उन्हींकी अनुकम्पाका प्रसाद है।

'वासुदेव आ रहे हैं।' हमारे यहाँ महीने भरसे चर्चा थी। मैं इन्द्रप्रस्थ पहुँची तभीसे यह चर्चा थी। सासुजी, सब पति उमगमें भरे एक ही वर्णनमें तन्मय। वासुदेव—परात्पर पुरुष भगवान वासुदेव। हमारे अपने सुहृद, सम्बन्धी, सर्वस्व वासुदेव आने वाले दे। मैं नवविवाहिता थी। मुझे पता नहीं क्या होरहा था। हृदय—

आह्लाद, आशंका, अनेक भावनाओंसे उन्मथित होता रहता था—'वे मुझसे कैसे मिलेंगे ? क्या सम्बोधित करेंगे मुझे ?'

मेरी सासुजीको, मेरे गाण्डीवधन्वा स्वामीको भी मेरे शरीरके रङ्गके कारण पड़ा नाम बहुत प्रिय है। वे मुझे 'कृष्णे !' ही कहते हैं। जानती हूँ कि यह नाम उन्हें क्यों प्रिय है। यह नाम उन्हें अपने परम प्रिय श्रीकृष्णका स्मरण दिलाता है।

मुझे भी इन्द्रप्रस्थ आकर अपना यह नाम प्रिय हो गया। मैं स्वयं मनमें अपना नाम अनेक-अनेक बार दुहराती थी और हृदय कहता था—'कृष्णा कृष्णकी सखी।'

हँसी आती थी अपने पर। नाम साम्य और केवल शरीरके वर्णकी समताके कारण कितनी अनर्गल आशंकाप्राय कल्पना। क्या हुआ जो मैं अयोनिजा यज्ञाग्नि समुद्भवा थी। श्रीकृष्ण परात्पर पुरुष हैं। उनके सम्मुख पाञ्चालीकी क्या गणना ?

'सखी याज्ञसेनी !' उन वासुदेवने मिलते ही सम्बोधन किया था। मैं नव-विवाहिता थी। वे इन्द्रप्रस्थ आये तो अवगुण्ठनवती बनकर, लज्जासे सिकुड़ी सिमटी सासुजीके पीछे छिपती उनके श्रीचरणोंमें प्रणाम करने पहुँची थी। घुटनोंके बल बैठकर मस्तक भी झुकानेका अवसर नहीं मिला। उनका अमृत मधुर-स्वर श्रवणोंमें पड़ा—'सखि याज्ञसेनी ! तुम कृष्णसे भी संकोच करोगी ?'

वह स्वर तो सीधे प्राणोंमें प्रविष्ट हो गया। 'सखि याज्ञसेनी !' जैसे जन्म-जन्मका परिचित सम्बोधन। सासुजी थीं, सब पति थे ; किन्तु मेरा संकोच, मेरा अवगुण्ठन तो उसी क्षण विदा होगया। लगा कि वे तो मेरे प्राणोंके सखा हैं, सदा-सदाके अपने हैं। उनसे संकोच करती मैं ? उनके साथ उसी क्षण ऐसी उन्मुक्त होगयी जितनी यज्ञवेदीसे अपने साथ उत्पन्न सगे भाई धृष्टद्युम्नके साथ भी कभी नहीं हुई थी।

'तुम मुझे कृष्णा ही कहो।' मैंने हँसकर कह दिया था। उनके मुखसे याज्ञसेनी बहुत अटपटा लगता था। मैं यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई अतः पिताने यह नाम मेरा रखा। शैशवसे इसी नामकी अभ्यस्ता मैं ; किन्तु वासुदेवके सम्मुख अपनी उत्पत्तिके गर्वकी गन्ध भी असह्य लगती थी।

'कृष्णे !' उन्होंने भी हँसकर ही कहा—'कृष्णे ! मेरी सखी।'

मेरी सासुजी, मेरे गाण्डीवधारी पति तो ऐसे प्रसन्न हुए, इतने आनन्दित हुए जैसे उन्हें कोई अलभ्य पुरस्कार मिला हो। अब तक वे बार-बार मुझे देखकर पुलकित होते हैं, कहते हैं—'कृष्णे ! कृष्ण सखी।'

अब कुरुक्षेत्रमें वे मिलेंगे। मिलेंगी उनकी महारानियाँ और वे कहेंगे—'सखि कृष्णे !'

——

चतुर्थ खण्ड

देवर्षि नारद–

अनेक बार सृष्टिमें शाप भी वरदान बन जाता है। प्रजापति दक्षने मुझे शाप दिया कि मैं कहीं दो घड़ीसे अधिक नहीं टिक सकूँगा। यह शाप मेरे लिए वरदान बन गया। इसने मुझे असंख्य पुरस्कार दिये। अपरिग्रह, अनासक्ति, सन्तोष इसके पुरस्कार हैं। कहीं रहना नहीं तो मोह किससे और लोभ किसका ? शापने मुझें सच्चा परिव्राजक बना दिया। पर्यटन मुझे पहिलेसे प्रिय है।

मुझे तो इस अविराम पर्यटनमें कभी कोई कठिनाई नहीं प्रतीत हुई। मैं जब अपने आराध्यका चिन्तन करते स्थिर बैठा, शाप स्वत: बाधित हो गया। उसने मुझे कभी बाधा नहीं दी। आज भी जब मैं द्वारिकामें होता हूँ, इस दिव्य पुरीमें श्रीकृष्ण-चन्द्रकी इच्छाके बिना तो किसीके शापका प्रभाव पहुँचता नहीं। यह दूसरी बात है कि नारदके स्वभावमें ही कहीं बैठे रहना नहीं रह गया है।

मैं एक स्थान पर स्थिर रहूँ, क्या लाभ ? वनमाली वासुदेवके भुवन-पावन सुयशको श्रवण कराना उससे कहीं सुखद है। श्रीकृष्णचन्द्रके मञ्जुल चरितोंको सुननेको मेरे पिता सृष्टिकर्ता, मेरे अग्रज महर्षिगण, सत्यलोक, जनलोक, महर्लोक, तपःलोकके सब परम-पावन निवासी समुत्सुक रहते हैं। सब अपेक्षा करते हैं कि नारद श्रीद्वारिकाधीशके नित्य-नूतन चरित उन्हें सुना जाया करे। सब तो सदा द्वारिका नहीं पहुँच सकते।

'देवर्षि ! अब आप इतने विलम्बसे क्यों पधारते हैं ? आप तो इतने स्वसुख-परायण कभी नहीं थे। हमसे कोई अपराध हुआ ?' उलाहना तो श्वेतद्वीपमें पहुँचने पर भगवान नारायण तक देते हैं। भगवान शेषसे भी पातालमें यही सुननेको मिलता है। अनेक बार कैलास पहुँचने पर भगवती गिरिराज-नन्दिनी यह कह बैठती हैं— 'आप द्वारिका जाकर भूल ही जाते हैं कि द्वारिकानाथके नवीन चारु-चरित सुननेको दूसरे भी समुत्सुक हैं। दूसरे आपके पधारनेकी प्रतीक्षा करते रहते हैं।'

नारदको भी तो गुणगानका व्यसन है। मुझे स्वयं श्रीकृष्णके गुणगणोंका, लीलाओंका वर्णन बार-बार करनेमें जो असीम आनन्द मिलता है, यह सौभाग्य मुझे ही तो मिला है। मैं उन पुरुषोत्तमका गुणगान करते ही तो घूमता रहता हूँ। उनका गुणगायक बन्दी यह नारद।

सूर्यग्रहणके समय जनार्दन द्वारिकासे सपरिकर कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। इस अवसर पर सभी देवता, ऋषिगण आवेंगे। मुझे कोई शीघ्रता नहीं रहेगी किसी लोकमें जाकर श्रीकृष्णलीला श्रवण करानेकी।

सृष्टिके-त्रय ताप-तप्त प्राणी—इसमें कहीं कभी कोई भगवत्पादपद्मोंकी प्राप्तिका अल्प अधिकारी भी हो तो उसे मार्गदर्शन देनेसे अधिक प्रिय कार्य तो दूसरा नहीं है। भगवद्भक्तकी सेवा, भगवद्भक्तिमें किसीको लगानेका सुयोग यदि नारद त्याग दे तो इसका पर्यटन ही व्यर्थ हो जायगा ; किन्तु इस समय तो सब अधिकारी स्वयं कुरुक्षेत्र आवेंगे। सबको श्रीकृष्ण-दर्शन सुलभ होगा। अतः नारदके पर्यटनका प्रयोजन नहीं है। कुरुक्षेत्रमें मैं श्रीकृष्णचन्द्रके समीप पर्याप्त समय रह सकता हूँ।

पुरुषोत्तम वासुदेव लीलामय हैं। इस अवसर पर उनसे सुर, ऋषि, मुनि, नृपतिगण तथा दूसरे असंख्य लोग मिलेंगे। असंख्य भावुक भक्त आवेंगे। वासुदेव सबकी भावनाके अनुसार उसके साथ व्यवहार करेंगे। बहुत कुछ देखने, जानने और नारदको भी सीखनेका अवसर मिलेगा।

देवी सत्यभामाको मैंने ही कल्पवृक्षके साथ पतिदानको समुत्सुक किया है। इस महादानका उपयुक्त अवसर है यह। दानमें नारदको वासुदेव मिलने वाले हैं कुरुक्षेत्रमें।*

कुरुक्षेत्रमें इस अवसर पर श्रीव्रजराज नन्दराय सपरिकर पधारेंगे। पधारेंगी अपनी सखियोंके साथ श्रीवृषभानु-नन्दिनी। सृष्टिमें जिनके प्रेमकी छाया भी सम्यक् कहीं लक्षित नहीं होती, व्रजके उन प्रेमैकप्राण-जनोंसे प्रेमघन वासुदेवका मिलन होगा। दीर्घ कालीन वियोगके पश्चात् यह मिलाप—इसके दर्शनका सौभाग्य मिलेगा मुझे। मैं अदृश्य रहकर उस मिलनका आनन्द भली प्रकार उठा सकता हूँ और प्रत्यक्ष भी वहाँ व्रजवासियोंसे मिल सकता हूँ। उनका वियोग शीर्ण कलेवर, उनकी अवर्णनीय वेदना देखी है मैंने। उनके हर्षोत्फुल्ल श्रीमुख देखनेका सौभाग्य मिलेगा।

कैसा होगा वह मिलन जब श्रीकृष्णचन्द्रकी महारानियाँ श्रीकीर्तिकुमारी और उनकी सखियोंसे मिलेंगी? मैं सोच सकनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ। मेरी सर्वज्ञता—लेकिन सभी योगीन्द्र मुनीन्द्रोंके मानससे परे है उन महाभाव मूर्तियोंकी मनस्थिति। मुझे उसे प्रत्यक्ष देखनेका अवसर मिलेगा।



* यह कथा विस्तारपूर्वक 'श्रीद्वारिकाधीश' में दी गयी है।

सनकादि कुमार—

अद्वय, अनादि, अनन्त, निर्गुण, निर्विशेष परमतत्त्वमें परिनिष्ठित होजाना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यक है कि चित्तमें व्यक्तित्वका बोध उत्थित न हो और यह अत्यन्त कठिन है। अनादि, अनिर्वचनीय मायाकी आवरण तथा विक्षेप शक्ति अत्यन्त बलवान है। मायाका प्राबल्य कल्पनासे परे है। हम चारों भाइयोंने भयसे ही सदा पाँच वर्षकी अवस्थामें ही बने रहनेका निर्णय किया; किन्तु इससे भी हम मायाके प्रभावसे पूर्णतः बच सके, ऐसा तो नहीं कह सकते।

मायाकी सबसे प्रबलवृत्ति है काम। यह पुरुषको परतन्त्र ही बना डालती है। हमारी शाश्वत शैशवावस्थाने हमें इससे सुरक्षा दे दी है। मायाके सम्मुख शूर न बननेमें ही हमने कुशल मानी है; किन्तु क्रोध मायाकी वृत्ति नहीं है? इस कामानुजने अनेक बार हमें अपने वशमें किया। यह दूसरी बात है कि हमारी स्वेच्छासे स्वीकृत शैशवावस्था हमें यहाँ भी सुरक्षा देती है। शिशुका क्रोध क्षणस्थायी ही रहता है।

परम सत्य यह है कि कोई भी अन्तःकरण कितना भी तप, त्याग, योग, ध्यान, ज्ञानसे परिष्कृत हो, स्वयंमें अन्तःकरण ही मायाकी वृत्ति है, अतः मायाके प्रभावसे सदा अप्रभावित रह नहीं सकता। व्यक्तित्वके रहते मायासे निर्लिप्त नहीं रहा जा सकता और अन्तःकरण है, तब तक व्यक्तित्व भी बना ही रहेगा। ज्ञान व्यक्तित्वका विनाश तो कर नहीं सकता, वह व्यक्तित्वका बाध ही करेगा। बाधित असत्‌की प्रतीति होती है। प्रतीति भी किञ्चित् असावधान होते ही विक्षुब्ध बना देती है। अतः कितना भी प्रबल व्यक्तित्व, कितने भी प्रबल प्रयत्न अथवा बोधसे मायासे सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो सकता।

इतनी प्रबल माया और वह अस्तित्त्वहीन है। वह परमतत्त्वमें सत्ता ही नहीं रखती। वही परमतत्त्व जब सगुण होता है, माया उसका विलास, उसके इंगितकी अनुवर्तिनी, उसकी क्रीडा। अतः उस चिद्‌घनकी अनुकम्पा ही किसीको भी मायासे सर्वथा निश्चिन्त बना सकती है।

धन्य हैं हमारे अनुज देवर्षि नारद। वे उन निखिल दिव्य गुणगुणैक धामके नाम, गुण, माहात्म्यका गायन करते त्रिलोकीको पावन करते रहते हैं। उन्हें न एकान्तकी आवश्यकता होती, न ध्यान या समाधि की। असुरोंके अन्तःपुर भी उन्हें कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं करते। उनका स्पर्श नहीं कर पाता क्रोध। किसीको शाप भी दिया तो बिना आवेश, सावधान चित्त, केवल अनुकम्पा पूर्वक।

नारद कहते हैं—'श्रीहरि मेरे सर्वस्व हैं। उनकी अनुग्रह दृष्टि सदा सर्वत्र अपने शरणागतों पर रहती है। अतः उनकी इच्छाके विपरीत उनके जनोंकी छायाका स्पर्श भी करनेमें माया असमर्थ है और वे ही कोई क्रीड़ा करना चाहें, जनको क्या आपत्ति। उस क्रीड़ासे शरणागतका मंगल ही निकलने वाला है।'

इस द्वापरान्तमें वे लीलामय परात्परपरम पुरुष अपने साकार चिदानन्दघन विग्रहसे धरापर पधारे हैं। द्वारिकामें विराजमान हैं वे पुरुषोत्तम। देवर्षिको ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे द्वारिकामें उनके समीप चाहे जब पहुँच जाते हैं। हमें तो उन कमल-लोचनके भुवन-पावन चरित देवर्षिके द्वारा सुननेको मिलते हैं।

श्रीकृष्णका सान्निध्य तो अकल्पनीय है, उन लीलामयकी लीलाओंके श्रवणका सुख भी इतना असीम है कि उसके सम्मुख समाधि हेय हो जाती है। समाधिका ब्रह्मसुख; किन्तु शान्त निस्तरङ्ग महोदधिकी अपेक्षा उत्ताल तरङ्गोंसे उद्वेलित सागरके अतुलनीय वैभवका विस्तार तो महत्तम रहेगा ही। वासुदेवकी क्रीड़ा तो अनन्त आन्दाब्धिका अपार पूर हैं। उनका रसास्वादन—वह क्या सहज सुलभ होता है ?

सबसे बड़ा संकोच है द्वारिका जानेमें कि उन ब्रह्मण्यदेवको संकोच होता है। वे हमारी अर्चा करनेमें लग जायँगे। उनकी सहज क्रीड़ा विरमित हो जायगी। अन्यथा हमारी गति तो कहीं भी रुद्ध नहीं होती। इच्छा करते ही हम द्वारिका पहुँच सकते हैं, लेकिन क्या लाभ ? हमारी उपस्थितिमें तो वे विनम्र बने बैठे रहेंगे। उनसे अपनी अर्चा कराना—कराना तो पड़ेगा ही।

द्वारिका इसके उपयुक्त स्थान नहीं है। अब वे ग्रहण पर्व पर सपरिकर कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। तीर्थमें आ ही रहे हैं स्नान, दान, देवार्चन तथा संत-सत्कार करने। यह अवसर है उनके सम्मुख उपस्थित होनेका। इस समयकी उपस्थिति उनकी इच्छाकी पूरक होगी। उनकी इस समयकी लीलामें सहयोग होगा यह।

घनीभूत परमब्रह्म—अन्तरमें उस चिज्ज्योतिका साक्षात्कार एक बात है; किन्तु वही हृषीकेश जब इन्द्रियोंके सम्मुख प्रत्यक्ष होता है, उस सौन्दर्य-माधुर्यैक-धाम गोविन्दका वर्णन तो सम्भव नहीं है।

उसके दर्शनका सौभाग्य हमें भी तो उसीके अनुग्रहसे युगोंके पश्चात कभी ही हो पाता है। यह अवसर आया है उसके दर्शनका। हम सब चलेंगे। वे वासुदेव हमें मिलेंगे। मिलेंगे वे हमारे सर्वस्व।

—+—

महर्षि भृगु—

अपनी ओर से ही च्युति होती है । जीव अपने ही अज्ञानसे अनन्तकालसे आवागमनके चक्रमें पड़ा है । परमपुरुष तो अत्यन्त उदार, अनन्त करुणा-सिन्धु एवं क्षमाके स्वरूप ही हैं, इस तथ्यका मैं प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ ।

मैंने दक्षयज्ञमें भगवान शिवको और उनके समस्त भक्तोंको शाप दिया ; किन्तु उस समय उन्होंने मेरी भर्त्सना तक नहीं की । वीरभद्र भी आये तो उन्होंने केवल मेरी श्मश्रु नोचली और वह भी मुझे सदाशिवने पुनः लौटा दी । उन क्षमासिन्धुने मेरे अपराध पर ध्यान ही नहीं दिया ।

मैं सत्वपरीक्षणार्थ गया था । मैंने भगवान नारायणके वक्षमें पाद-प्रहार किया । मेरी धृष्टता, मेरे अपराधकी ओर देखना तो दूर, उन सर्वेशने उलटे क्षमा माँगी । मेरे पाद-चिह्नको अपने वक्ष पर नित्य बनाकर धारण करते हैं वे श्रीगरुड़ध्वज । नारायणके वक्ष पर वह भृगुलता उनके औदार्य का, ब्रह्मण्यदेव होनेका, अनन्त क्षमा-सिन्धु होनेका प्रतीक है तो भृगुकी असहनशीलता, धृष्टता, उद्दण्डताका उड़ता ध्वज नहीं है ?

मैंने आराधना करके सिन्धुसुताको पुत्री रूपमें प्राप्त किया और उनका पाणि शेषशायीके करोंमे देकर किञ्चित् अपराध-परिमार्जनका सन्तोष प्राप्त किया ; किन्तु यह अपराध-परिमार्जन हुआ ? भगवान अनन्तशायीको जामाता बनाकर भृगु गौरव भाजन नहीं हुआ ?

संसारमें सामान्यजन भी जामाताके चरण प्रक्षालन करता है । निखिल लोकेश्वरको जामाता बनानेका सौभाग्य भले मिला मुझे ; किन्तु उनके वक्ष पर अपना चरण-चिह्न देखकर मुझे जो ग्लानि होती है, दूसरा कोई कैसे उसे अनुभव करेगा ।

मैं ब्रह्मपुत्र सही, निष्परिग्रह ब्राह्मण ही तो हूँ । मेरा आथर्वण ज्ञान क्या कामका ? इस ज्ञानके बल पर मैंने दक्ष यज्ञमें भले भगवान पुरादिके गणोंको भी भागने पर विवश कर दिया हो, इससे अपने उन सर्वस्व मेघसुन्दर, श्रीवत्सवक्षाकी कोई सेवा तो नहीं कर सकता । जिनके नाम स्मरणसे ही सम्पूर्ण विघ्न दूर भागते हैं, उनकी सेवाका साधन अथर्ववेदीय अभिचार तो होनेसे रहे । उन श्रीपतिको कोई उपहार भी क्या देगा ?

जानता हूँ कि श्रीकृष्ण परात्पर पुरुष हैं ; किन्तु शेषशायी जब उनसे तादात्म्यापन्न हैं, जब रमाको रुक्मिणी रूपमें उन्होंने अपनी पट्टमहिषी बनाया है, भृगुको उन्हें अपना जामाता माननेमें बाधा कहाँ है । वे मेरे स्नेहभाजन हूँ ।

श्रीकृष्णचन्द्रने तो अपने इस अवतारमें मुझे भगवान भास्करका समकक्ष होनेका गौरव दे दिया है । मैं ब्राह्मण उन्हें आशीर्वाद ही तो दे सकता हूं ।

द्वारिका मझे नहीं जाना चाहिये, इसलिए कभी गया नहीं । वासुदेव ब्रह्मण्यदेव हैं । मैं यदि द्वारिका जाऊँ तो सम्भव है, मेरी ही कन्या मेरे पाद-प्रक्षालनको आखड़ी हो । मैं भूमिकी मर्यादाका उल्लंघन करके उसे मना कैसे करूँगा ? मैं कैसे मना करूँगा कि द्वारिकामें द्वारिकेशके द्वारा निवेदित नैवेद्य ग्रहण नहीं कर सकता ?

रुक्मिणी मेरी प्रत्यक्ष पुत्री नहीं है, इस तथ्यसे होता क्या है ? वह रमा है, यह तो सब ऋषि-मुनि जानते हूँ और रमा मेरी पुत्री । योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध भावित करके कृतार्थ होते हैं, भृगुके साथ तो उनका सम्बन्ध है । श्रुति, शास्त्र, सत्पुरुषोंसे समर्थित सम्बन्ध है । मैं इस सम्बन्धको अस्वीकार करूँ, इतना अज्ञ तो नहीं हूं । यह सम्बन्ध मुझे धन्य करता है ; किन्तु इसी सम्बन्धके कारण तो मेरा द्वारिका जाना किसी प्रकार उचित नहीं है ।

परात्पर पुरुषने अवतार धारण किया । अवतार धारण किया मेरी पुत्री पद्माने और उसका पाणिग्रहण करके वासुदेव मेरे स्नेहभाजन हो गये । मेरे हृदयमें अपने जामाताको, अपनी पुत्रीको, अपनी पुत्रीकी सन्तानोंको देखनेकी इच्छा कितनी बलवती है, कोई मातामह इसे जान सकता है ।

कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीके साथ इस अवसर पर आवेंगे । आवेंगे रुक्मिणीके कुमार । रुक्मिणी मेरी कन्या–इसने तो मुझे अतर्कित भेंट देदी है । जिस मकरध्वजसे सब ऋषि-मुनि भयभीत रहते हैं, वह भृगुसे धृष्टता कर नहीं सकता । वह अब भृगुका दौहित्र है । वह आवेगा, मेरा परम वात्सल्य भाजन प्रद्युम्न आवेगा ।

कुरुक्षेत्रमें मैं सहज कह दे सकता हूँ श्रीकृष्णसे—'मैं वैसे भी प्रतिग्रह स्वीकार नहीं करता और यह तो तीर्थ है ।'

मैं ग्रहणके सूतक कालका लाभ पा सकता हूँ । मुझे वासुदेवके पूजन-अर्चन-उपहारसे त्राण मिल जायेगा अपने आप और ब्राह्मण आशीर्वाद तो सब समय दे सकता है । मैं अपनी कन्याको, अपने त्रिभुवन सुन्दर जामाताको, इनकी सन्तानोंको देख सकूँगा । इन्हें आशीर्वाद दे आऊँगा । कुरुक्षेत्रमें ये सब एक साथ मुझे मिलेंगे ।

———

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ—

अभी आज जैसी ही बात लगती है, यद्यपि त्रेताको व्यतीत हुए सहस्रशः वर्ष हो चुके। श्रीराम और उनके चरित नित्य हैं, नित्य नूतन हैं। वे कभी भूतकालिक होते ही नहीं, इसका साक्षी मैं स्वयं हूँ।

आज भी और त्रेतामें भी जब मर्यादा पुरुषोत्तम पृथ्वी पर पधारे थे, मुझे सदा सतर्क रहना पड़ता था। उनकी अनुकम्पा ही थी कि उस समय उनकी लीलाओंका आविर्भाव-तिरोभाव क्रमानुसार होता रहता था। उनके आविर्भाव क्रममें व्यतिक्रम नहीं होता था, अत: लोकमानसमें कोई विभ्रम नहीं हुआ करता था ; किन्तु वशिष्ठके सम्मुख तो अनेक बार अनेक लीलाओंका एक साथ प्राकट्य हुआ। इसे सावधान रहकर ही अवतारकी वर्तमान-कालिक लीलामें योगदान करना पड़ता था। अन्यथा मर्यादा पुरुषोत्तम-वनमें थे तब भी रात्रि शयनके समय यही प्रत्यक्ष होता था कि श्रीचक्रवर्ती महाराजके चारों कुमार ब्रह्मचारी हैं और मेरा पाद संवाहन करने आ बैठे हैं।

श्रीरामभद्रके स्वधाम पधारनेके पश्चात् तो वे वशिष्ठके लिए अत्यधिक प्रत्यक्ष होगये। मध्याह्न संध्या समाप्त करते ही लगता है कि मैं उन दूर्वादल श्यामका जातकर्म संस्कार कराने बैठा हूँ। कभी वे अन्तेवासी बने शिक्षा ग्रहण करते हैं और कभी वशिष्ठ जनकपुरमें विवाह-मण्डपमें अपनेको उनका विवाह कराता पाता है। कम ही क्षण होते हैं जब राजसभामें मैं श्रीसीतारामको सिंहासनासीन देख पाता हूँ और कैकेयी रानीके राजसदनमें श्रीरामको वल्कल धारण करते भी मैंने पुनः नहीं देखा। मुझे तो वे पुष्पकसे उतरकर प्रणिपात करते ही प्रत्यक्ष होते हैं।

कर्णवेध, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह, शिक्षण, राजतिलक, गुर्वर्चन—एक साथ अनेक-अनेक लीलाएँ प्रादुर्भूत होती हैं और यह न मेरा मानसिक भ्रम है, न मेरी कल्पनाका विलास। मैं जानता हूँ कि श्रीरामजीकी ये लीलाएँ सचमुच प्रकट होती हैं। ये नित्य लीलाएँ, वशिष्ठको रामभद्रने गुरु स्वीकार किया, अतः माया इसके नेत्रोंके सामने आवरण उपस्थित करनेमें असमर्थ हो गयी।

कितने दिनों चलता रहा यह क्रम, गणना कैसे हो ? श्रीराम और उनकी लीलाएँ कालकी क्रोड़ीमें तो आती नहीं। कालमें कालातीतकी गणना कैसी ? इस वशिष्ठके लिए ही काल नगण्य हो गया है। यह एक क्षण द्वापरमें रहता है तो दूसरे क्षण त्रेता या सतयुगमें।

धरा पर द्वापर आया तो वशिष्ठ भी द्वापरमें आगया, यह अनिवार्य तो था नहीं। मेरे सप्तर्षि लोकमें भी कालका यह युग-क्रम प्रवेश नहीं पाता ; किन्तु जब मेरा मर्यादा पुरुषोत्तम यजमान लीलापुरुषोत्तम बनकर धरा पर आया, वशिष्ठको इस धराको देखनेका लोभ लगता है। देवी अरुन्धतीका अतिशय वात्सल्य है उन इन्दीवर सुन्दर पर और वे तो अब मयूर मुकुटी बन चुके हैं।

अब परात्पर पुरुषने यदुकुलमें अवतार धारण किया है। अब वे गर्गाचार्यके यजमान हैं। मेरी यह बात देवी अरुन्धती सुनना ही नहीं चाहती हैं। उनका तर्क अकाट्य है। वे कहती हैं कि वे पुरुषोत्तम भले सर्व-स्वरूप हों, सबके हों, पर एक बार अपने होकर फिर सदाको अपने हो जाते हैं। उनका सम्बन्ध भी नित्य होता है। वे वशिष्ठके यजमान हैं तो नित्य यजमान हैं।

'वे इतना अधिक सम्मान द्वारिकामें भी कृष्ण द्वैपायनका क्यों करते हैं ?' देवी अरुन्धतीकी इस बातका कोई उत्तर नहीं। श्रीवासुदेव वेदोंका व्यास करनेके कारण ही तो किसीको महत्ता नहीं देंगे। जिनकी सहज स्वास श्रुति है, उनके सम्मुख विद्या, तप, योग कोई अर्थ रखते हैं ?

'वशिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पराशर और पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन, इस परम्पराका सम्मान करते हैं श्रीकृष्णचन्द्र।' मैं देवी अरुन्धतीकी यह बात स्वीकार न भी करूँ, तो स्वीकार करना ही है कि कृष्णद्वैपायनको देखकर वासुदेवको वशिष्ठका स्मरण अवश्य आता होगा। स्मरण आवेगा तो अपने सम्बन्धका स्मरण नहीं आवेगा। अल्पज्ञ जीव भले उनसे अपने सम्बन्धको विस्मृत करदे, सर्वज्ञ उस सम्बन्धको भूलना चाहे तो भी भल सकेगा ?

सम्बन्ध सच्चा कौनसा—जीवका अपना कल्पित या सर्वेश्वरकी स्मृतिमें जो स्थित है ? उनका रूप चाहे जो हो, उनकी प्रज्ञामें तो वशिष्ठका एक सम्बन्ध सुनिश्चित है। वह सम्बन्ध नित्य है, सत्य है।

सूर्य-ग्रहण महापर्व पर पुरुषोत्तम वासुदेव सपरिवार कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। मथुरामें, द्वारिकामें भी इस बार उन्होंने आचार्य गर्गको पौरोहित्यका गौरव दिया है। कुरुक्षेत्रमें तीर्थकृत्य तो तीर्थपुरोहित सम्पन्न करावेंगे ; किन्तु गर्गाचार्य अनुपस्थित तो नहीं रह सकते ऐसे अवसर पर। वे आरहे हैं यहाँ। अवसर विशेष पर यजमानको आशीर्वाद देने, स्वस्तिपाठका स्वत्व कोई पुरोहित छोड़ कैसे देगा ?

वशिष्ठ ही यह स्वत्व क्यों छोड़ दे ? आशीर्वाद देने, स्वस्तिपाठ करनेका स्वत्व तो ब्राह्मणमात्रको है। मेरी उपस्थिति गर्गाचार्यके पौरोहित्यमें बाधक नहीं बनती और मेरे नित्य यजमान आरहे हैं, वे सपरिवार मिलेंगे, अतः मैं सपत्नीक वहाँ उपस्थित रहनेका सुयोग कैसे त्याग सकता हूँ। ——

महर्षि अंगिरा---

अङ्गिरस अग्निका जिनकी आराधनाके लिए आविर्भाव हुआ, वे यज्ञपुरुष स्वयं श्रीकृष्ण हैं, यह तो तब व्रजमें स्पष्ट होगया जब उन्होंने दावानलपान किया। सर्वाधिष्ठान उन विराट् यज्ञ पुरुषके अतिरिक्त दूसरा कोई देवता या दैत्य अग्निपान तो कर नहीं सकता। तप: तेज प्रवृद्ध कोई तेजस्वी मुखसे अग्नि प्रकट भले करदे; किन्तु अग्निका विलय अपने अधिष्ठानके अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं है। अन्यत्र तो अग्नि दाहक है। अग्निका प्राकट्य हुआ विराट् पुरुषके मुखसे और अपने उसी अधिष्ठानमें अग्नि व्रजमें लय हुआ, यह मैंने देखा है।

अग्निदेवकी भी विवशता बहुत बड़ी है, यह अब मैं भली प्रकार समझ सकता हूँ। सविधि आहुति देने पर अग्नि उसे अस्वीकार नहीं कर सकते, इसी विवशताने महाराज मरुत्के यज्ञमें अखण्ड दीर्घकालीन आज्याहुतिके द्वारा अग्निको अजीर्णका रोगी बनाया। यह बात तो तब मेरे सम्मुख बहुत स्पष्ट होगयी जब अग्निदेवके रोगी हो जाने पर अपने सृष्टिकर्ता पिताके आदेशसे अग्निका दायित्व मुझे वहन करना पड़ा। तब मैं भलीप्रकार समझ गया कि अग्निके अजीर्णका कारण उनकी जिह्वा-लोलुपता नहीं थी।

बिना दायित्व प्राप्त हुए भी मैं कैसे समझता कि रोगमें असंयम कारण होता है और असंयम सदा स्वेच्छापूर्वक नहीं होता। अवश्य प्रमाद था अग्निदेवका। वे अपनेको भोक्ता मान बैठे थे। सम्पूर्ण यज्ञ और तपके भोक्ता तो वासुदेव ही हैं। वे ही प्राणियोंके भीतर जठराग्नि बने उनके आहारका पाचन करते हैं और विश्वमें वाड़वाग्नि, वैद्युताग्नि, सूर्याग्नि प्रभृति अनेक रूपोंमें सक्रिय हैं। उनकी विस्मृति ही प्रमाद है। उनकी विस्मृति ही तो आत्म-विस्मृति है, जिसने जीवको अनादि कालसे आवागमनके चक्रमें उलझा रखा है। अग्निको अजीर्ण हुआ ही इसी विस्मृतिजन्य प्रमादके कारण।

सुरवैद्योंने औषधि, निर्देश किया था अग्निके लिए कि वे खाण्डव वनका दहन—भक्षण करके स्वस्थ हो सकते हैं। श्रीकृष्ण सहायता न करते, अग्नि कभी खाण्डव-दहन में समर्थ होते? शक्रका परमप्रिय, उनके मित्र तक्षकका आवास खाण्डव वन, अग्निने प्रयत्न करके दो बार देख तो लिया था। इन्द्रकी वर्षाके सम्मुख अग्निदेव टिक

पाते ? यह तो श्रीकृष्णका अनुग्रह था कि खाण्डव जलाया जा सका और अग्निको स्वास्थ्य लाभ हुआ । *

अग्निदेवसे मेरा तादात्म्य है । मैं केवल कुछ कालके लिए अग्निका स्थानापन्न ही नहीं हुआ था, अब भी प्रधान अग्नि हूँ । इस प्रकार श्रीकृष्णने अग्निको स्वस्थ करके मुझ पर अनुग्रह किया है । वे वैसे भी मेरे प्रवरमें उत्पन्न आंगिरस हैं । यह सम्बन्ध गौरब देकर उन्होंने मुझे सम्मानित किया है । मेरे पुत्र बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य वृहद्वल (उद्धव) को अपना मन्त्री, अन्तरंग सखा बनाकर तो वे मेरे स्नेहभाजन हो गये हैं ।

कोई कठिनाई द्वारिका जाकर श्रीकृष्ण-दर्शन करनेमें मुझे नहीं है । द्वारिकामें अबाध प्रवेश है सर्वदा, सब समय किसी भी ब्राह्मणका । वासुदेव ब्रह्मण्यदेव हैं । वे प्रत्येक आगत ब्राह्मणका आराध्यके समान अर्चन करते हैं । लेकिन उनका यही अर्चन संकोचका कारण है । उन सर्वेश्वरेश्वर से, अपने परमाराध्यसे, अपने पिताके भी परम पितासे अर्चा स्वीकार करना सहज नहीं है । द्वारिका जाने पर तो वे अर्चा करेंगे ही ।

अर्चा तो वे करेंगे कुरुक्षेत्रमें भी ; किन्तु कुरुक्षेत्रमें वे आ रहे हैं तीर्थयात्रा के निमित्त । यहाँ उनकी अर्चा, उनका दान स्वीकार करना भी उनकी सेवा है ; क्योंकि इससे उनकी तीर्थयात्राकी साङ्गता पूर्ण होती है । इससे उनका लोकादर्श अधिक परिपुष्ट प्रोज्वल होता है ।

कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है । नियमतः उस क्षेत्रके अधिदेवता धर्मराज हैं, इसीलिए बार-बार युद्ध भूमि बनना उसकी नियति है ; किन्तु धर्मराजका कोई कार्य अग्निकी अनुपस्थितिमें, अग्निकी सहायताके बिना सम्पन्न तो होता नहीं । अतः अंगिराकी उपस्थिति कुरुक्षेत्रके अधिदेवताको सबल, अधिक सक्षम करेगी ।

यह भी सम्भव है कि श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्वयं यज्ञ करें अथवा उनके अग्रज या पिता यज्ञ करें । वासुदेवके अथवा उनके स्वजनोंके यज्ञमें अंगिरा केवल मुख्याग्नि रूपमें ही उपस्थित रहकर कैसे सन्तोष करले । अङ्गिरा अध्वर्युका पद स्वयं लेगा उस यज्ञमें । यज्ञ-विघ्न श्रीकृष्णके यज्ञकी ओर देखनेका साहस भी नहीं करेंगे, यह सत्य होनेपर भी विघ्न-वारणको प्रस्तुत रहनेकी सेवा तो मैं कर सकता ही हूँ । मुझे वे यज्ञ-पुरुष वहाँ प्रत्यक्ष मिलेंगे । उनकी सेवा प्राप्त होगी वहाँ ।

---

* खाण्डव-दाहकी पूरी कथा 'पार्थ-सारथि' में आयी है ।

महर्षि अत्रि--

अब द्वापरयुग भी व्यतीत हो रहा है ; किन्तु अमर जीवनमें काल महत्त्वहीन हो जाता है। मुझे ऐसा लगता है जैसे त्रेता अभी-अभी बीता है। देवी अनुसूयाको श्रीजनकनन्दिनीका शील, सौजन्य विस्मृत हो नहीं सकता। सीता पर असीम वात्सल्य है उनका और मुझे तो लक्ष्मणके साथ वत्स रामभद्र लगता है कि प्रणाम करके अभी ही मेरे उटजसे बाहर गये हैं।

मेरे पुत्रोंमें दुर्वासा ही हैं जो बार-बार माता-पिताको स्मरण कर लेते हैं। चन्द्र आकाशीय महारत्न हो गया और दत्त योगेश्वर। दुर्वासा कुछ क्रोधी हैं ; किन्तु तपस्वी हैं। मातृपदोंकी वन्दना करने प्राय: हमारे दिव्यलोक भी आ जाते हैं। उन्होंने ही पहिले सम्वाद दिया कि हमारे परम वात्सल्य-भाजन श्रीराम पुन: पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये हैं। इस बार वे वासुदेव श्रीकृष्ण हैं, इससे क्या अन्तर पड़ता है ? उन घनश्यामसुन्दर, कमललोचन, कौस्तुभकण्ठको भी क्या पहिचानना पड़ता है ? दुर्वासासे भ्रम होनेकी कोई सम्भावना नहीं।

मैं द्वारिकामें मिल आता ; किन्तु देवी अनुसूयाको यह रुचता नहीं। वे अयोध्या भी तब नहीं रहीं जब श्रीजानकी वाल्मीकि-आश्रममें निर्वासित जीवन व्यतीत करनेको बाध्य हुईं।

'मेरी इस कन्याको कोई नियति स्पर्श नहीं करती। निखिल ब्रह्माण्डोंकी विधायिका यह स्वयं है ; किन्तु कितनी विडम्बना है कि त्रेतामें इसने मर्यादा पुरुषोत्तमका लोकनायक स्वरूप प्रशस्त करनेका दायित्व वहन किया और अब द्वापरमें ....। देवी अनुसूया स्मरण करते ही भाव विह्वल होती हैं—'इसे प्रेमका परमादर्श प्रदर्शित करनेकी पड़ी है। यह महाभावरूपिणी अपने रसराजसे पृथक व्रजमें वियोगका वरण करके बैठी है। इस आह्लादिनीसे पृथक श्रीकृष्णको देखनेमें कोई सुख है ?'

देवी अनुसूयाकी भावना उचित है। कुछ क्षण द्वारिकामें जाकर श्रीकृष्णकी सन्निधि प्राप्त करनेका लोभ मैंने छोड़ ही दिया ; किन्तु अब कुरुक्षेत्रमें ग्रहण पर्व पर वासुदेव सपरिवार पधार रहे हैं। व्रजराज श्रीनन्दराम भी आरहे हैं और उनके साथ अपनी अंशभूता सहचरियोंके साथ श्रीकीर्तिकुमारी हैं। कुरुक्षेत्रका यह महामिलन देखनेको देवी अनुसूया उत्सुक हो उठी हैं।

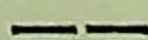
हम तो तपस्वी हैं। पृथ्वी पर रहें या सप्तर्षि लोकमें, हमें क्या अन्तर पड़ता है। त्रेतामें हमें वत्स रामभद्रके अयोध्याके सिंहासन पर आसीन होने पर केवल आशीर्वाद देने जाना था वहाँ। कोई वैभव—निखिल लोकेश्वरेश्वरका वैभव भी किसी तापसके मनको लुब्ध नहीं करता और वह वनमाली घनश्याम हमारी वात्सल्य मूर्ति है। व्रजमें उसने रसक्रीड़ा भी की—वह रसराज है, आनन्दघन है; किन्तु हमारे मानसमें तो उसकी अतिशय विनम्र मूर्ति निवास करती है। कुरुक्षेत्रमें यादवोंके मध्य उसे देखनेकी उत्सुकता नहीं है। उसे देखना है व्रजराजके शिविरमें। राम-श्यामको देखना वहाँ सहज सुगम्र होगा और वहाँ दोनों अपने ऐसे रूपमें मिलेंगे जो रूप उनका माता-पिताके सम्मुख रहना चाहिये। मैं वासुदेवको वसुदेवके सम्मुख देखूँ तो वहाँ ऐश्वर्य समन्वित ही तो वे दर्शन देंगे। उनका ऐश्वर्य सर्वथा अदृश्य होता है व्रजराज तथा व्रजेश्वरी यशुमतिके सम्मुख।

देवी अनुसूयाको अपनी वात्सल्य भाजना कन्या प्राप्त होगी; वह आह्लादिनी पूरे आह्लादमें प्राप्त होगी। अपने सर्वस्व रसशेखरसे मिलकर सुप्रसन्न मिलेगी। उस सौकुमार्य, सौन्दर्य, शीलकी अधिदेवताको वियोग वाडवमें दग्ध होती देखना अत्यन्त निष्ठुर एवं असह्य है। उसे इस अवसर पर सुप्रसन्न देखनेका सुयोग प्राप्त होगा।

श्रीकृष्णचन्द्रकी महारानियाँ, उनके पुत्र-पोत्र; किन्तु श्रीकृष्ण सम्मुख हों तो अत्यन्त सांसारिक व्यक्तिको भी शरीर एवं संसारका बोध नहीं रह जाता। व्रजमें तो सभी भावमूर्तियाँ हैं। वे मिलेंगे द्वारिकाके सभी लोगोंसे, बड़े उल्लाससे मिलेंगे; किन्तु 'ये अपने परमप्रेमास्पदके स्वजन' यह भावना भी तो उनके अन्तरमें उदधिकी उत्ताल तरंगके समान अल्पकालिक ही रहनी है। वहाँ तो नवघन सुन्दरकी चर्चा, उन्हींकी श्रीमूर्ति प्रत्येक अन्तरमें सुनने-देखनेको मिलनी है।

व्रजराज नन्दरायका शिविर—किसी दिव्यलोकमें दुर्लभ हैं वे भावके साकार श्रीविग्रह। भक्तिके दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य सभी भावोंने वहाँ शतशत मूर्तियाँ ग्रहण कर रखी हैं और कुरुक्षेत्रमें वे विश्वके महावन्दनीय प्रसून प्रफुल्ल देखनेको मिलेंगे। सृष्टिमें ऐसा सौभाग्य दुर्लभ है, कल्पनासे परे है।

देवी अनुसूया उत्सुक हैं। त्रेतामें वे केवल सीताको अल्प उपहार दे सकी थीं। इस अवसर पर कीर्तिनन्दिनी एवं उनकी समस्त सखियोंके लिए अपने तपोबलसे उन्होंने अतर्क्य प्रभावशाली वस्त्राभरण प्रकट कर लिये हैं। हमें वहाँ व्रजकी बालिकाएँ, बालक और बलराम-घनश्याम मिलेंगे।



महर्षि पुलस्त्य—

विश्वस्रष्टा भगवान पद्मसम्भव भी बाध्य है अचिन्त्य शक्ति पुरुषोत्तमके विधानका पालन करने के लिए और उन चतुर्मुख मेरे सम्मान्य पिताको भी माया अपने प्रभावमें ले लेती है तो इतर जीवोंमें मायाजन्य विकृतियाँ नहीं आवेंगी, यह कैसे कोई मान सकता है ?

किसे पता था कि मैं प्रजापति हुआ हूँ तो असुर कुलका पालक बनूँगा। मेरे अग्रज महर्षि मरीचिके पुत्र हुए कश्यप और उनसे सात्विक, राजस, तामस सब प्रकारकी सृष्टि हुई। देव, दानव, दैत्य सब कश्यपकी सन्तान। हम सब निश्चिन्त होगये कि हमारी वंश-परम्परा पवित्र रहेगी। सम्भवतः मेरा यह गर्व ही मेरे वंशके व्यत्ययका कारण हुआ। गर्वहारी जनार्दनको मैं भूल ही गया था।

मेरा पुत्र विश्रवा मुनि होगया। मुझे सन्तोष हुआ। मैंने लोकस्रष्टाकी आज्ञाका पालन कर दिया था। सन्तान उत्पादन करके मैंने सृष्टि-कर्मसे उपरति ग्रहणकी। मेरे पुत्रने भी कुबेर जैसा लोकपूजित पुत्र पाया। कहाँ चल सकी यह शुद्ध परम्परा। विश्रवाके ही पुत्र होगये रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण। मेरी सन्तान परम्परामें राक्षस। मैं राक्षसोंका कुल पुरुष होगया।

मैं निर्दोष होता तो मेरे वंशमें राक्षस उत्पन्न होते ? मैं उनके मोहमें आगे न पड़ता तो कह सकता था कि मुझमें कलुष-बीज नहीं था। मैं तो दशग्रीवको स्थान-स्थान पर बन्धनसे छुड़ाता-फिरा।* अपने मोहवश ही तो मैं उसे बन्धनमुक्त करने दौड़ता था। कैसे कहूँ कि दशग्रीव एवं उसके अनुचरोंके अधर्म, उत्पीडनमें मेरा कोई प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष योगदान नहीं है ?

वत्स विभीषणने मेरे कुलको धन्य किया मर्यादापुरुषोत्तमका चरणाश्रय ग्रहण करके। विभीषणको श्रीराघवेन्द्रने अपनाया। वे किसी भी शरणागतका त्याग करते नहीं हैं। उनका स्वभाव ही भक्तवत्सल है। मैं गर्व कर सकता हूँ कि मेरे कुलमें श्रीरघुनाथका कृपाभाजन उत्पन्न हुआ।

यह सब हुआ ; किन्तु मेरी मानसिक ग्लानि मिटती नहीं। मैं सृष्टिकर्ताका साक्षात् पुत्र हूँ। उनका मानसिक पुत्र, देवर्षि-महर्षि एवं प्रजापति और मेरे मनमें

---

*अपनी दिग्विजयमें रावण कई स्थानों पर बन्दी हुआ। उसे महर्षि पुलस्त्यने छुड़ाया। ये कथाएँ 'राक्षसराज' में आ चुकी हैं।

मोह ? मैं दशग्रीव जैसे दुरात्मा, सुर-शत्रु, उच्छास्त्रवर्ती कदाचारीको बन्धनोंसे छुड़ाने दौड़ता रहा। वह कहीं बन्धनमें पड़ा रहता—अनन्तकाल तक भी पड़ा रहता तो उसके उपद्रव विरमित ही तो होते।

दशग्रीवको तो मरना ही था। धर्मका, सत्पुरुषोंका उत्पीड़न करके कोई कब तक कुशली रह सकता है। मर्यादापुरुषोत्तमने उसे मारकर भी सद्गति प्रदान की। लेकिन मैं अपनी लज्जा, अपनी ग्लानिके कारण उन भक्तवत्सलके सम्मुख नहीं जा सका। मैं चला गया होता, वे कहाँ किसीके दोष देख पाते हैं। मुझे उपालम्भ तो नहीं दिया था दैत्येन्द्र बलिने या वानरेन्द्र बालिने, पुण्य श्लोक श्रीराम तो स्मरण भी नहीं कर पाते कि मुझसे कोई अपराध बना है अथवा कर्मच्युति बनी है। वे तो मेरी अर्चा ही करते।

मैंने अपनी ही क्षुद्रताके कारण त्रेता में वह अवसर खो दिया। मैं अयोध्या गया होता, मैं दशग्रीव और कुम्भकर्णका ही तो पितामह नहीं था। श्रीराघवेन्द्रको दशग्रीव-कुम्भकर्ण स्मरण भी नहीं आते। उन्हें निश्चय स्मरण आता कि जिसे उन्होंने सखा स्वीकार किया है, उस विभीषणसे मेरा सम्बन्ध है। वह मेरा पौत्र है।

त्रेता व्यतीत हो गया। वही परात्पर पुरुष अब द्वारिकामें अवतीर्ण हुए हैं। भगवान वासुदेव भक्तवत्सल हैं, ब्रह्मण्य देव हैं। लेकिन मैं अपनी कुण्ठाका क्या करूँ ? मेरी अपनी ही ग्लानि मुझे द्वारिकाकी ओर बढ़ने नहीं देती।

अब अवसर आया है। ग्रहणपर्व पर तीर्थमें कुपुरुष भी शत्रुताका, किसीके अपराधका स्मरण नहीं करते। अधम जन भी अपने अपकृत्योंका अपमार्जन कर लेते हैं तीर्थमें। इस अवसर पर वासुदेवका दर्शन करनेका साहस कर सकता हूँ। बात मेरे ही साहस करनेकी है, मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ कि वे परमपुरुष मनमें भी मेरा अपराध कभी ला सके होंगे। मैं तो ब्रह्मपुत्र हूँ, उनका नाम उत्तमश्लोक ही इसलिये है कि वे किसी भी जीवके अपकर्म देखते ही नहीं।

कुरुक्षेत्र में वासुदेवका दर्शन करके मैं अपनी कुण्ठासे, अपनी ग्लानिसे परित्राण पालूँगा। श्रीकृष्णका साक्षात्कार मुझे पवित्र कर देगा। उन सच्चिदानंद घनकी सन्निधि मेरे अन्तःकलुषको दूर कर देगी। मेरे नेत्र धन्य होंगे उन वनमालीका दर्शन करके। मुझे उनके द्वारा अभ्यर्थना, अर्चा प्राप्त होगी। वे वासुदेव मुझसे आदरपूर्वक वहाँ मिलेंगे।

—:०:—

महर्षि मरीचि--

अतिशय आग्रह है नारदजीका कि मुझे कुरुक्षेत्र चलना चाहिये और वहाँ वासुदेवका साक्षात्कार करना चाहिए। धन्य हैं नारद, अनुज होकर भी श्रेष्ठ हैं। हृदय अपने आप उनके प्रति आदरसे अवनत हो उठता है। उन्हें दूसरी कोई चिन्ता व्यथित नहीं करती। दूसरा कोई व्यसन नहीं। भगवद्भक्तिका प्रचार, जीवोंको भगवनोन्मुख करनेकी चिन्ता ही उनकी चिन्ता और हरिगुणगान ही उनका एकमात्र व्यसन। वे कहते हैं, आग्रह करते हैं तो कुरुक्षेत्र चलना है इस अवसर पर। नारदका अनुरोध टाला नहीं जा सकता।

कुरुक्षेत्र जाकर वासुदेवके दर्शन होंगे, यह अपना भी परमाभीष्ट है। सृष्टिमें नेत्र प्राप्तिका सौभाग्य ही है श्रीकृष्णके चिद्घनवपुका साक्षात्कार। लेकिन मैंने तो अपना अभीष्ट, अपनी कामनाको कभी महत्व नहीं दिया। व्यक्ति कोई भी हो, कितना भी श्रेष्ठ हो, किसी भी लोकमें हो, वह जगदात्माका यन्त्र ही तो है। उसकी इच्छामें, उसके करोंमें अपनेको उत्सर्ग कर देना, यही तो व्यक्तित्वकी चरम सफलता है।

यन्त्रकी श्रेष्ठता-कनिष्ठता क्या? वह कहाँ रखा जाता है अथवा उससे क्या काम लिया जाता है, इसकी कोई महत्ता है? उसका सञ्चालक उससे काम लेता है अथवा उसे निष्क्रिय धरे रखता है, इसमें यन्त्रकी चिन्ताका अर्थ?

अचिन्त्य करुणार्णव है सृष्टिका वह नियन्ता। उस चिन्मयने अपने यन्त्रोंमें भी चेतना दे दी। उस सच्चिदानन्दसे ही व्यक्त उसके यन्त्र चिदांश ही हो सकते थे। इनकी चेतनाने इनमें अपने व्यक्तित्वका बोध उत्पन्न किया। इस व्यक्तित्व बोधसे अहंकार उत्पन्न हुआ। कामनाएँ उत्पन्न हुईं और कामनाओंके जालमें उलझकर व्यक्तिने उस अपने सञ्चालककी क्रियाको अपना मानना आरम्भ कर दिया। अनादि कालसे यही कर्तृत्वाभिमान जीवको जन्म-मरणके चक्रमें भटका रहा है।

वह सर्वेश्वरेश्वर दयामय है, विनोदी है। अपने ही यन्त्रोंसे क्रीड़ा करता है। इनकी कामनाओंका भी सम्मान कर लेता है और अब तो वह हृषीकेश अपने नित्य नवाम्बुद वपुसे धरा पर प्रकट होकर जीवोंको उनके अपने निर्मित कर्मजालसे मुक्त करने उनके मध्य पहुँच गया है।

अज्ञानी, अबोध जीव मायाके चक्रसे कैसे परित्राण पावे, यदि मायाधीश ही उसकी सहायता न करे? इसलिए वह दयामय बार-बार अवतार धारण करता है। बार-बार कर्मभूमि पर आता है कि जीवोंको उसके महामंगलायतन नाम, चिन्मय रूप एवं लीलाओंका अवलम्ब प्राप्त हो सके।

उसीकी अनुकम्पा होती है तो जीवकी अभिरुचि उसकी ओर उन्मुख होती है। अन्यथा मायाके असीम चाकचिक्यसे दृष्टि हटाये रखना मुनीन्द्रोंके लिए भी सुगम कहाँ है।

जीवका उद्धार तो तब होगा जब वह वासुदेव स्वयं उसे अपनावे ; किन्तु वह दयामय स्वयं उत्सुक है अपनानेको यदि जीव अपनी निष्ठामें स्थिर रहे। जब कोई स्वयं अपनेको कामना-चञ्चल किये रहे, तब उसे उठाने वाला भी कैसे उठा सकता है ? उसे उठाने के अनुकूल अवसर तो जीवको देना चाहिये। यह अवसर निष्ठा देती है। निष्ठा ही यह स्थिरता देती है।

निष्ठा होती है अपनी रुचिके अनुकूल और मुझमें तो जैसी अपनी रुचि है—रुचि नामकी कोई वृत्ति है, यही मैंने कभी अनुभव नहीं किया। यन्त्रकी अपनी रुचि क्या ?

सृष्टिकर्ता पिताने अपने मनके सङ्कल्पसे उत्पन्न करके आदेश दिया—'सृष्टि करो !' मैं भाग्यशाली निकला इस विषयमें भी ; क्योंकि मुझे शीघ्र इस कार्यसे अवकाश मिल गया। पिता स्वयं सन्तुष्ट हो गये मेरे पुत्र कश्यपके उत्पन्न होने पर। कश्यप लोकोंका प्राणि-स्रष्टा होगया। मैं इस उलझनसे बच गया।

अपनी ओरसे मैंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। जगन्नियन्ताकी जो इच्छा हो। मेरे अनुज नारद भगवान नारायणके मनके ही आविर्भाव हैं, अतः उनकी इच्छा श्रीहरिकी ही इच्छा है। मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा।

अनन्त-अनन्त जन्मोंके उपरान्त जीवके पुण्य प्रारब्ध जागते हैं तब उसे वासुदेवमें अभिरुचि होती है। वे करुणावरुणालय कभी स्वयं कृपा करते हैं, तब उनके भुवन-पावन चरितोंमें प्रीति होती है और उनके श्रीचरणोंका सान्निध्य, उनका साक्षात्कार तो अत्यन्त दुर्लभ है। भगवान शशाङ्क शेखर भी समुत्सुक रहते हैं उनके दर्शनके लिए।

लगता है कि उन दयामयको अब अपने इस यन्त्रका स्मरण आगया है। वे ही चाहते हैं कि मरीचि उनके श्रीविग्रहके दर्शनका अवसर पावे। कोई प्रतिबन्ध न होने पर भी अपनी ओरसे जानेकी प्रवृत्ति तो मुझमें उठती नहीं ; किन्तु उनकी ही इच्छा तो नारदमें प्रतिफलित होती है। उन्होंने नारदको निमित्त बनाकर स्मरण किया। मुझे वे सर्वेश्वरेश्वर कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे।



प्रजापति कश्यप—

अज्ञानी जीव मोहके वशवर्ती होता है। सन्तानका मोह, शरीरका मोह, सुयशका मोह—लेकिन सृष्टिकर्ताने मुझे जो परिस्थिति दी, उस परिस्थितिने ही मुझे इस मोहसे मुक्त रखा। मरुस्थलके अन्तरालमें भी जैसे कहीं-कहीं सरसी होती हैं। दुस्तर महामायाके अङ्कमें भी परमपुरुषने जीवके महामोहसे निस्तीर्ण होनेके स्थान सुरक्षित कर दिये हैं। देशमें, कालमें, क्रियामें, भावनामें, पदार्थमें—सबमें उस चिदात्माका विशुद्ध स्वरूप प्रकाशित है, नीलगगनमें असंख्य तारकोंके समान ज्योतिर्मय है, जिसके सम्पर्कमें आकर जीव महामायाके मेघाडम्बरसे निकल जानेका सुरक्षित छिद्र प्राप्त कर लेता है।

मुझे तो इस ज्योतिर्बिन्दु मोक्षदायी आश्रयोंकी भी अपेक्षा नहीं है। परमपावन मुक्तिदा-काल, अचिन्त्य दिव्यशक्ति तीर्थ, मायासे पार करने वाले पदार्थ, क्रिया, भावकी कश्यपको आवश्यकता नहीं हुई। जगदात्माने दया करके जन्मसे इसे पश्यक-विवेक-सम्पन्न बना दिया। इसे दृष्टि दे दी—वास्तविकताको देखने वाली दृष्टि और माया तो दृष्टिहीनोंको ही भटकाती है। विवेक दृष्टिके सम्मुख अविद्याका अन्धकार टिकता कहाँ है।

मैं मोह किससे करूँ? सृष्टिके सब प्राणी मेरी प्रजा—मेरी सन्तति हैं। देव-दैत्य, पशु-पक्षी, पर्वत-पादप सब मेरी सन्तान। इनमें सभी प्रकारकी प्रकृतिके हैं। अबोध बच्चे हैं। परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते ही हैं।

शरीर कश्यपको कल्पान्त स्थायी मिला है। शरीरका मोह क्या? शरीर सबके क्षण-क्षण छीज रहे हैं, यह देखता हूं। नामका मोह भी करूँ तो लाभ? नाम तो कश्यपका उसकी सन्तान स्वतः प्रलय पर्यन्त स्मरण रखेगी। अतः मेरे मोहका विषय ही कोई नहीं है। जगतके सर्वशक्तिमान सञ्चालकका सहज स्नेह, अकारण पक्षपात प्राप्त हुआ है मुझे।

इतने पर भी एक है, जिसका मोह, जिसकी ममता मनसे मिटती नहीं। विस्मृत नहीं होती। उसे विस्मृत करनेकी कल्पना भी कश्यप नहीं कर सकता। उसका मोह ही मेरा जीवन है।

कौन है वह? कोई ठीक उत्तर मेरे पास भी नहीं है। वह मेरा पुत्र बना; किन्तु सर्वाधिष्ठान, सर्वकारण कारण कहीं पुत्र हुआ करता है? वह अनिर्देश्य—मैं-समझ नहीं सका कभी कि वह द्विभुज है, चतुर्भुज है अथवा अनन्त भुज है। वह वामन

है या विराट ? वह एक रूप है या असंख्य रूप ? कहने को मैं उस उपेन्द्रका पिता हूँ ; किन्तु उसको वाणीका विषय कोई कभी बना पाता है ?

वह अमरावतीमें इन्द्रका संरक्षक है, अनुज है। सुरोंका पालक है ; किन्तु सुतलमें वही गदापाणि दैत्येन्द्र बलिका द्वारपाल भी है। वह असुरोंका सर्वस्व, उनकी सुरक्षाका स्थिर आश्वासन बना वहाँसे क्षणार्धको भी हटता नहीं है। वह स्वर्गमें है या सुतलमें ? इस उलझनमें पड़नेसे लाभ ? वह कहाँ नहीं है ?

अब वह एक रूपसे, अपने नेत्र-मनोहारी, निखिल भुवन सुन्दर, परात्पर परमरूपसे धरा पर प्रकट हो रहा है। द्वारिका धन्य होगयी है उसका पादस्पर्श प्राप्त करके।

मैं जानता हूं कि मेरा उपेन्द्र उस वासुदेवका अंश मात्र है, जैसे मैं स्वयं और दूसरे सब जीव परमपुरुष परमात्माके अंश हैं। वासुदेव श्रीकृष्ण निखिल लोकेश्वर हैं और मेरा उपेन्द्र इस एक ब्रह्माण्डका उपेन्द्र है ; किन्तु उपेन्द्र उनका अंश है और उपेन्द्र मेरा—मेरा पुत्र। भले कृपा करके ही अनन्तशायीने कश्यपका पुत्रत्व स्वीकार किया, पुत्रत्वका गौरव दिया मुझे। अब इसे मेरी धृष्टता, मेरा दुस्साहस, मेरा लोभ, कहे कोई—वासुदेव मुझे अपने उपेन्द्र ही दिखायी देते हैं। उपेन्द्र उनका अंश सही उनसे अभिन्न है। वासुदेव मेरे, मेरे अपने। मेरे स्नेहभाजन। वासुदेवका स्मरण मुझमें वात्सल्य जागृत करता है।

अद्‌भुत बात है, जबसे श्रीकृष्ण धरा पर प्रकट हुए, मैं उनसे पृथक उपेन्द्रको स्मरण नहीं कर पाता हूँ। मैं तो अपनेको भी स्मरण नहीं कर पाता हूँ अब यहाँ ऋषि रूपमें। मुझे सप्रयत्न अपने इस रूपका स्मरण करना पड़ता है। बार-बार भ्रम होता है, बार-बार चौंकता हूँ—'मैं यहाँ क्यों आया ? क्या प्रयोजन मेरा यहाँ ?' जैसे मैं सदासे द्वारिका रहत हूँ। मैं कश्यप नहीं हूँ, वसुदेव हूँ।

कश्यपका नाम और यह ऋषि रूप एक भ्रम—यह मुझे मेरा ही स्वप्न-पुरुष लगता है। स्वप्न-पुरुष सही, पर यह एक रूप तो है। तब इसे भी धन्य होना चाहिये श्रीकृष्णका साक्षात्कार करके। वे इसे देखकर सस्मित उठेंगे, इसका सम्मान करेंगे। इसकी अर्चा करेंगे। यह कृत-कृत्य हो, वे वासुदेव इसे कुरुक्षेत्रमें इस अवसर पर मिलेंगे।

———

देवमाता अदिति-

वासुदेव मेरे कुण्डल लौटाने अमरावती आये थे। मैंने तो दितिसे कोई स्पर्धा कभी नहीं की। भौम मेरे कुण्डल छीन ले गया—बलात् मेरी कर्ण पल्लीसे झटक ले गया, तब भी मुझे रोष तो नहीं आया। शिशु ही तो था वह, कुण्डल उसे अच्छे लगे, झटक ले गया। शिशु कुछ उद्धत था; किन्तु इससे हो क्या गया। मेरे अपने पुत्र देवता क्या कम उद्धत हैं? ये भी तो अनेक बार औधत्य करते हैं। मुझे अच्छा लगा, हँसी आयी सुनकर कि भौमने मेरे कुण्डल लेजाकर अपनी माता भूदेवीको पहिना दिये हैं। भूदेवी, मेरी क्षमामूर्ति पुत्रवधू, भौमने उसे अलंकृत करके मेरा प्रिय ही किया था; किन्तु श्रीकृष्णको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने भौमको मार ही दिया इस तनिकसे अपराधके कारण।

इन्द्र स्वयं तो भौमका कुछ बिगाड़नेमें असमर्थ था, द्वारिका दौड़ा गया। मेरा ज्येष्ठ पुत्र यह शक्र अतिशय स्वार्थी है। इसे स्वयं भौमसे भय था; किन्तु श्रीकृष्णको इसने मेरे अपमानित होनेकी बात सुनाकर उत्तेजित कर दिया।

'वासुदेवके नेत्र आपके अपमानकी बात सुनते ही अंगार हो उठे। उनके अरुणाधर फड़के। उनका मेघ गम्भीर स्वर गूँजा, देवमाताका अपमान सहा नहीं जा सकता। वे उसी क्षण यादवसभाके सिंहासनसे उठ खड़े हुए।' इन्द्रने ही मुझे यह सब उत्साह पूर्वक सुनाया था।

श्रीकृष्णके भ्रूभङ्गके अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-प्रलय होती है। उनके करमें उठे चक्रकी ज्वालामें बेचारा भौम भस्म हो गया। उसे एक प्रहर भी युद्धका अवसर नहीं मिला। कितनी वेदना हुई होगी भूदेवीको पुत्रके मारे जाने पर? वह स्वयं मेरे कुण्डल वासुदेवको अर्पित कर गयी? सुना कि तब भी उसे झिड़की ही मिली—'गुरूजनोंको अवमानित करके अलंकृत होनेकी तुम्हारी स्पृहा निन्दनीय है।'

उस सरला-क्षमाने कब स्पृहा की थी। मेरे कुण्डल लिये गरुड़वाहन वासुदेव अमरावती आगये वधू सत्यभामाके साथ और मेरे समीप आये थे मेरे पादस्पर्श करके सीधे अङ्कमें बैठ गये। निखिल लोकेश्वरेश्वर श्रीकृष्णमें इतनी सरलता, इतना शैशव—सुरोंमें मेरे उपेन्द्रमें भी इतना शैशव कभी मैंने नहीं देखा। मुझे तो लगा कि मैं उसी क्षण पुत्रवती हुई हूँ।

श्रीकृष्णने मुझे कुछ बोलने, पूछनेका समय नहीं दिया था। मैं अपने कुण्डलोंको देख भी नहीं सकी। मेरे करमें ये आये होते, वधू सत्यभामाकी कर्णपल्लियोंमें अपने करोंसे इन्हें पहिनाकर मुझे कितना सुख मिलता; किन्तु कहाँ हो सका यह। वासुदेव अङ्कमें आ बैठे और नन्हें शिशुके समान मचलकर उन्होंने अपने करोंसे कुण्डल मेरे कर्णोंमें पहिनाये। पहिनाकर ताली बजाकर बालकके समान हँसते रहे—'ये यहाँ कितने अच्छे लगते हैं।'

मुझेतो कुण्डल स्पर्श भी नहीं करने दिया उन्होंने। मैंने कर उठाये तो दोनों मेरे कर पकड़कर बोले—'नहीं अम्ब! इनको यहीं रहने दो। यहाँ ये अतिशय सुशोभित होते हैं।'

मेरी कर्णपल्लियों पर उनके करोंका स्पर्श जैसे अमर हो गया है। उन्होंने अम्ब कहा था मुझे और लगता है कि वही मेरे पुत्र हैं। उनके अतिरिक्त भी अदितिके और कोई पुत्र हैं, यह मैं तबसे विस्मृत हो गयी हूँ। उपेन्द्र भी मुझे उस दिनसे अपरिचितसा लगने लगा है।

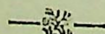
वासुदेव मेरे अङ्कमें बैठ गये थे–जैसे अब भी बैठे हों। मेरे वक्षसे दुग्धक्षरण तबसे रुकता नहीं है। अमरावतीमें उस दिन मैं उनका, वधू सत्यभामाका कोई स्नेह सत्कार नहीं कर सकी। वासुदेव तो जैसे दौड़ते, हँसते आये थे, वैसे ही हँसते, दौड़ते चले गये थे। इन्द्र इतना अकृतज्ञ क्षुद्र निकला कि उनसे युद्ध करने दौड़ पड़ा था पारिजातके कारण।

वधू सत्यभामा मुझे जबसे दीखी है, शचीके प्रति चाह कर भी मेरा स्नेह जागता नहीं है। सुना है कि वह द्वारिका जाकर श्रीकृष्णकी सब रानियोंका पाद-पूजन कर आयी है;* किन्तु मैं अपने हृदयका क्या करूँ? शची, इन्द्र भी मुझे अपरिचित लगने लगा है।

वधू सत्यभामा अकेली ही तो नहीं है। मेरे वासुदेवके तो सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं। मैंने अपनी इन पुत्रवधूओंको देखा ही नहीं। इनको देखनेकी उत्कण्ठा अब और नहीं रोकी जा सकती। इनको देखने, स्नेह देनेका उपयुक्त अवसर है ग्रहण-महापर्व। उपयुक्त स्थान है कुरुक्षेत्र। यहाँ कहाँ राजसदनका संकोच है। यहाँ तीर्थमें पर्व पर देवमाता पृथ्वी पर पहुँचे, इसमें कोई मर्यादा बाधक नहीं है।

वासुदेवकी सब पत्नियाँ मिलेंगी मुझसे। देवी देवकी मिलेंगी, रोहिणी मिलेंगी और मिलेंगे मुझे मेरे संकर्षण, मेरे वासुदेव।

* 'श्रीद्वारिकाधीश' में विस्तारसे पारिजात-हरण, पाद-पूजनकी कथा आयी है।



दत्तात्रेय–

अवधूत वायुके समान असङ्ग होता है। जहाँ है, जिस स्थितिमें है, उसे सहज भावसे ग्रहण कर लेता है और स्थान, स्थितिके परिवर्तन होते ही उसके सब संस्कार त्याग देता है। वर्तमान स्थान, वर्तमान स्थितिमें ही विद्यमान रहना अवधूतका सहज स्वभाव है। वर्तमानमें ही जीवित रहना—काम, मन, बुद्धिसे सम्यकरूपसे वर्तमानमें विद्यमान रहना अवधूतका स्वरूप है। अवधूत क्या जिसे स्मृति बनकर भूत चिपटता है अथवा भविष्यका स्वप्न सम्मोहित करता है।

यह दत्त आत्रेय है। इसके जनकको त्रिगुणातिमका माया स्पर्श नहीं करती। यह स्वयं संसारमें आया ही इसलिए कि अधिकारियोंको अवधूत-जीवनका आदर्श दे सके। वर्तमानमें जीवित रहनेकी कला सिखला सके।

जीव जब वर्तमानमें सन्तुष्ट नहीं है, उसे भूत लगेगा या भविष्य भ्रान्त करेगा। भूतका आवेश शोक, ग्लानि, पश्चाताप अथवा गर्व देगा। भविष्यकी भ्रान्ति भय, चिन्ता, उन्माद या प्रमाद उत्पन्न करेगी। मानव अस्वस्थ ही इसलिए है कि वह वर्तमानके धरातल पर अवस्थित होकर भी सन्तुष्ट नहीं है। वह भूतके भयावह अन्धकारमें भटकता रहता है अथवा भविष्यके स्वप्नों या कल्पित भीतियोंसे ग्रस्त रहता है।

अवधूतका जीवन—वर्तमान धरातल पर सुस्थिर, सुदृढ़ जीवन। ऐसा जीवन जिसमें न भूत कुछ छोड़ जा सकता, न भविष्य कोई चाकचिक्य उपस्थित कर सकता। गत कल या आगामी कल अवधूतके लिए कुछ है नहीं। न दो घड़ी न दो क्षण—केवल वर्तमान क्षण अवधूत है। अवधूत वर्तमान है। वर्तमान ब्रह्म है। अवधूत ब्रह्म है। ब्रह्म कभी भूत या भविष्य बनता है? अवधूत भूत-भविष्यके कालुष्यसे असंस्पृष्ट वर्तमान है। वर्तमान तो निर्विकार है, निष्कलुष है। परिपूर्ण है। एकरस परिपूर्ण है। यही अवधूत है।

एकरस, निर्विकार, निर्विशेष वर्तमान—ब्रह्म कह लो, जब घनीभूत होता है, भूतका निखिल भव्य और भविष्यका सम्पूर्ण स्वर्णिम सौष्ठव झूठा पड़ जाता है। सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व जब सविशेष होगा, सृष्टिका सबका सब सौन्दर्य, माधुर्य, सुषमा-मृदिमा-मुदिता तो उसी अनन्त अचिन्त्य महोदधिके सीकरोंका विलास है। उसमें वर्तमान भूत और भविष्यको अपने उदरमें ही कल्पित करता है।

अवाङ्मनसगोचर तत्त्व जब अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे गोविन्द बनता है— इन्द्रियोंके सम्मुख साकार होता है, उस कृष्णके आकर्षणकी कल्पना भी असम्भव है।

यह सम्भव है कि कामना-कलुषित प्राणी अपने कल्याणके आवरणमें बन्द रहें और कृष्णका आकर्षण उन तक न पहुँचे ; किन्तु निष्कलमष, शरीर-मन-बुद्धि सर्वत्र ही अनावरित अवधूत उस आकर्षणसे कैसे बचेगा ? कृष्ण ही तो आकर्षणकी सत्ता हैं। कृष्ण ही आनन्दके घनीभाव हैं। आत्माराम, आप्तकाम, अवधूतकी अन्तरात्मा—अवधूतका वर्तमान ज्योतिर्घन होकर घन सुन्दर बन गया है तो उसका आकर्षण कोई कैसे छोड़ सकता है ?

कृष्ण, वासुदेव कृष्ण, व्यक्त सच्चिदानन्द घन कृष्ण, वर्तमानको भी विभूषित करने वाले, अद्वय ब्रह्मके व्यक्त साक्षात् विग्रह कृष्ण, निखिल ब्रह्माण्डके जीवोंकी अपनी सत्ता, अपनी आत्मा कृष्ण। उनकी स्मृति, उनकी दर्शनोत्कण्ठा, उनकी सन्निधि अवधूतका भी अहोभाग्य।

कृष्ण कभी भूत होते हैं ? कृष्ण कभी भविष्य रहते हैं ? काल स्वयं कृष्णमें कल्पित होता है। अवधूत कृष्णको देखे बिना कैसे समझेगा कि कृष्णका दर्शन कालकी कलना नहीं बना करता। वे वासुदेव दृग्विषय बननेके पश्चात् सदा शाश्वत हो जाते हैं। दृष्टिमें, मनमें, अन्तरमें वे आकर फिर स्मृतिके विषय नहीं बनते। स्मृति होती है भूतकी ; किन्तु कृष्ण तो नित्य वर्तमान, शाश्वत, चिन्मय हैं।

अकाल पुरुष कालमें अवतीर्ण हो गया है। अदेश-पुरुषने अपनी अनुकम्पासे देशको कृतार्थ कर दिया है। अवाङ्मनसगोचर अतर्क्य योगमायाका आश्रय लेकर इन्दीवर सुन्दर मयूरमुकुटी होरहा है। समाधिमें सम्यक् वृत्ति निरोध सम्पन्न हो जाने पर जिस सर्वद्रष्टा स्वस्वरूपमें अवस्थान होता है, वह ज्योतिर्धन दृष्टिका विषय हो रहा है।

अवधूत दत्त कुरुक्षेत्र जायगा इस महापर्व पर। मानवको अवधूतका स्वरूप स्पष्ट करने वाला ही तो यह भी स्पष्ट करेगा कि जब निर्गुण, निर्विशेष अद्वय, अचिन्त्य सगुण, सविशेष रूपमें सुलभ हो, अज्ञता है नेत्र बन्द करके, गिरि गह्वरके अन्धकारमें बैठना। तब आत्रेय दत्तके समान उसकी सन्निधि प्राप्त करो। वे कृष्ण मिलते हैं—मिलेंगे।



महर्षि दुर्वासा—

अनिष्ट है, अनर्थकारी है क्रोध, किसने कहा ? काम और क्रोध नरकके द्वार हैं, किसके लिए ? अल्पप्राण देहासक्त व्यक्तिके लिए ही यह बात सत्य है। अन्यथा यह बात सम्भव कैसे है कि कोई भी भाव प्राणीका कल्याण न कर सके, जबकि निखिल भावरूप विश्वात्मा ही है और वह मङ्गलमय है। भावमात्रका उद्भव उसके श्रीचरणोंसे ही होता है और होता है उसीकी प्राप्तिके लिए। भावमें विकृति आती है, वह अकल्याणकारी होता है जब उसे सीधे सर्वात्माकी ओर प्रवाहित न होने देकर कोई देहाभिमानी अपनी ओर उसकी धारा मोड़ना चाहता है।

देवर्षि नारदने घोषणाकी—'काम-क्रोध आदि भी उसी वासुदेवके प्रति करना चाहिये।' उस हरिसे द्वेष, क्रोध करके किसीका कभी कहीं अकल्याण हुआ है ?

दुर्वासा क्रोधी है। तनिकसा कोई निमित्त मिला और मेरा क्रोध भड़का। क्रोध आवेगा तो मैं शाप दूँगा। क्रोधसे मेरा कभी कोई अनिष्ट हुआ है ? क्रोधसे तपका नाश होता है, जानता हूँ; किन्तु इसकी चिन्ता अल्पप्राण प्राणी करें। इसकी वे सावधानी रखें जो कामनाके दास हैं। तप जिनके लिए दुष्कर है, पूँजी है, कामना पूर्तिका साधन है। जो वणिग्वृत्ति तपका मूल्य देकर कुछ पाना चाहते हैं, वे तपको सुरक्षित रखनेकी सावधानी रखें। तप मेरा स्वभाव है। तप मुझे प्रिय है। तपसे मुझे कुछ पाना तो नहीं है। अतः क्रोध तपको नष्ट करता है तो करे। तपःफल तो मेरे लिए निष्प्रयोजन है।

दुर्वासाके क्रोधसे कभी किसीका अनिष्ट हुआ है ? सदा मैं अकारण ही क्रोध तो नहीं करता। अनेक बार अपराध होने पर मैंने क्रोध किया और शाप दिया है, यह बात क्या सत्य नहीं है ? लेकिन क्या यह भी सत्य नहीं है कि दुर्वासाका शाप सदा प्रशप्तके लिए मङ्गलकारी हुआ है ? वह शाप पुरस्कार बनकर रहा है।

अपने कर्मके द्वारा, अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा ही विश्वात्माकी उत्तम आराधना सम्भव है। मेरा स्वभाव है तप और क्रोध। मैं तप करता हूँ तो कुछ पानेके लिए करता हूँ ? तप मेरा स्वभाव है। मैं अपरिग्रही, अकिञ्चन अपने तपके द्वारा सर्वात्माकी आराधना करता हूँ।

मेरा तप उसकी आराधना है तो मेरा क्रोध उसकी आराधना क्यों नहीं है ? मुझे कोई कष्ट नहीं होता तप करनेमें । इसी प्रकार मुझे कोई ग्लानि नहीं होती किसीको शाप देकर । मुझे कोई पश्चाताप नहीं होता कि क्रोध मेरा सुयश नष्ट करता है और मुझे अयश देता है । दुर्वासा भोगाकांक्षी नहीं है तो यशःकांक्षी भी नहीं है ।

उस सर्व समर्थको अपने आश्रितोंकी च्युति सुधारना आता है । दूसरोंके साथ क्या होता है, मैं क्यों चिन्ता करूँ ? मेरी च्युतिको, मेरे क्रोधको तो वरदान बना देनेका उसने व्रत बना रखा है । दुर्वासाका शाप प्रशप्तके लिए वह सदा वरदान बना दिया करता है ।

मेरा तप उस हृषीकेशको नित्य सर्मपित है, इसमें तो कोई विकल्प नहीं है ? तब मेरा क्रोध ? तप पूजा है तो क्रोध पूजा क्यों नहीं होगा ? लेकिन इसे अल्पशक्ति, अल्प-प्राण, नश्वर शरीरमें आसक्त, भोगाकांक्षी प्राणी किसी प्रकार नहीं समझ सकता । इसे समझ सकता है, स्वीकार कर सकता है वह शाश्वत, अच्युत, निर्विकार जिसे स्मरण करके प्राणियोंका भय भी भाग जाता है ।

वह सर्वेश्वरेश्वर ही द्वारिकामें अवतीर्ण हुआ है । वही वनमाली जिसे दुर्वासाका तप सदा समर्पित है ; किन्तु तब दुर्वासाका क्रोध उसे स्पर्श करके क्यों सार्थक न हो ? मैं बार-बार द्वारिका जाता हूँ, जाता ही हूँ कि कोई अवसर मिले, कोई निमित्त प्राप्त हो तो वासुदेवको शाप दूँ । तपके द्वारा बहुत सेवाकी उनकी, क्रोधके द्वारा भी उनकी अर्चा करनी है । दुर्वासाके पास तप और क्रोध–दो ही तो हैं ; किन्तु अद्‌भुत हैं श्रीकृष्ण, मैं कभी पहुँचूँ, कितनी भी अटपटी माँग करूँ, वे मुझे क्रोध करनेका अवसर ही नहीं देते । असीम है उनका धैर्य, अकल्पनीय है उनकी श्रद्धा ।

वे सपरिवार कुरुक्षेत्र आरहे हैं । इस महापर्व पर बहुत व्यस्त होंगे । बहुत अधिक अतिथि, अभ्यागत आवेंगे उनके समीप । ऐसे समय मैं पहुँच जाऊँ, मेरी अटपटी माँगोंको पूरा करते रहनेका समय मिलता रहेगा उन्हें ? मुझे क्रोध करनेका कोई अवसर नहीं मिलेगा ?

नहीं मिलेगा, यह निश्चित है । जो सोलह सहस्रसे भी अधिक पत्नियोंको सदा अपना सामीप्य दिये रहता है, उस अनन्तरूपको सदा दुर्वासाकी सेवामें भी उपस्थित रहनेमें कोई कठिनाई है ? यह शाप देनेका, इस सेवाका अवसर नहीं है ; किन्तु मैं जाऊँगा । वह मयूर मुकुटी मिलेगा तो सही ।

—:o:—

भगवान परशुराम-

अहंकार शून्य विशुद्ध ज्ञान केवल वासुदेव हैं। इसीलिए वे सब प्रकारका अभिनय सम्यक् रूपमें करनेमें समर्थ हैं। जिस दर्पणमें अपना भी कोई रंग है, वह सभी रंगोंको सम्यक् प्रतिफलित कर नहीं सकता। जीव कितना भी साधन-सम्पन्न हो जाय, अन्तःकरण कितना भी विशुद्ध हो, संस्कार-शून्य नहीं हुआ करता। अतः संसारको वह अपने संस्कारसे संस्कृत अन्तःकरणसे ही देखेगा।

एकान्तवासी तपस्वीकी सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह जगतके व्यवहारसे अनभिज्ञ होता है। वह जब कभी व्यवहारमें आता है, उसे वे सामान्य बातें भी क्षुब्ध करती हैं, जिनसे दूसरे लोग सर्वथा प्रभावित नहीं होते। अतः अरण्यवासी तापस सामान्यजनोंके लिए अपनेको अद्भुत अथवा आतङ्क बना बैठता है। उसकी बुद्धिमानी इसीमें है कि वह समाजसे दूर ही रहे।

मैं जब-जब लोकालय में आया, मेरे रोषने आतङ्क-विनाश उत्पन्न किया। परम पुरुषको वह महाविनाश अभीष्ट होगा, इसलिए उन्होंने अपना असाधारण तेज मुझे प्रदान किया था। व्यक्तिका अहंकार व्यर्थ है। उसका प्रेरक तो वह सर्वेश्वर ही है। यह बात समझनेमें मुझे बहुत देर लगी।

त्रेतान्तका वह दिन मेरे जीवनका धन्य दिन था। मुझ भार्गवके अन्तःकरणमें वह स्थिर है आज भी। मेरे आराध्य भगवान पुरारिका पिनाक भग्न कर दिया गया, यह सुनते ही मैं अपना परशु लेकर क्रोधमें भरा भागा चला गया था। भूल ही गया था कि मेरी शक्ति किसीका प्रसाद है।

दूर्वादलाभिराम श्रीरामके वे पद्मपलाश लोचन, उनका वह शील, उनकी वह विनम्रता और उनकी ओजस्विता—जिस वैष्णव धनुष पर मैं कभी ज्या नहीं चढ़ा सका, उसे उन्होंने मेरे करोंसे झपटकर पलक झपकते चढ़ा लिया था। उनका औदार्य मेरे औधत्यको उन्होंने क्षमा कर दिया ; किन्तु मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि मुझमें जो वैष्णव तेज था, वह उन पूर्ण पुरुषने धनुषके साथ ही मुझसे ले लिया था।

मैं ऋषिपुत्र था। उस परम पुरुषके तेजको पाकर दुर्धर्ष हो गया था। अवतार हो रहा था—अंशावतार और विनाशका वाहक बन गया था। वह भूभार-हरणका मेरा कार्य पूर्ण हो गया। परात्पर पुरुष स्वयं अवतीर्ण हो गये धरा पर तो अंशावतार का प्रयोजन ? मुझसे अपना तेज लेकर उन्होंने अनुकम्पा ही की। मैं एकान्त तपका

अवकाश पा गया और उनका वह भुवन मनोहर दर्शन मुझे पुरस्कारमें मिला। वे धनुर्धर दाशरथि श्रीराम—वे भी क्या अन्तरमें आकर कभी जाया करते हैं ?

वे पुनः धरा पर पधारे हैं इस द्वापरान्तमें। उस दिन महेन्द्राचल पर ध्यान करता बैठा था, सहसा हृदयकी वह इन्दीवर सुन्दर श्रीमूर्ति मयूरमुकुटी बन गयी और लगा-वह अपने नित्य सहचर संकर्षणके साथ मेरी ही ओर आरही है। सचमुच वे परमपुरुष अब धराको धन्य करने पधारे थे और अपने अग्रज संकर्षणके साथ इस भार्गवको कृत-कृत्य करने मथुरासे दक्षिण भारत आगये थे।

वासुदेव-संकर्षण मुझ पर कृपा करने ही तो दक्षिण पधारे थे। अन्यथा उन्हें जरासन्धका भय था ? उन्हें भागनेकी, आश्रयकी आवश्यकता थी ? त्रिभुवनको आश्रय देनेवाले वे भ्रातृद्वय—अन्ततः उसी यात्रामें गोमन्तक पर्वतके युद्धमें तो उन्होंने जरासन्ध को पराभव दिया।* कोई सहायक आया था उनके समीप ? उन्हें परशुरामको दर्शन देना था ; क्योंकि परशुराम त्रेतासे उनके ही ध्यानमें तल्लीन बैठा था। मगधराजके भयका बहाना बना लिया था उन्होंने। इस बार लीलामय होकर पधारे हैं तो ललित बहाने उन्हें शोभा देते हैं।

ललित बहाना—वे दोनों भाई मुझे समझा रहे थे कि वे वहाँ सहायकके अन्वेषणमें आये हैं। हँसी आयी मुझे – इन्हें सहायक चाहिये ? मुझसे सम्मति पूछने लगे थे। परशुराम ही मिला था उन्हें सम्मति पूछनेको। परशुरामने कभी सहायक ढूँढ़ा था ? कभी रणनीतिकी बात सोची थी ? कभी सेना लेकर व्यूह बनाया था ? जिनकी शक्तिका अंश पाकर परशु लेकर मैं पृथ्वी पर महासंहार कर सका था, वे स्वयं मुझ अनुभवहीनसे सम्मति पूछने लगे थे। मैं खुलकर हँसता नहीं तो क्या करता ?

'मेरी होमधेनुका थोड़ा दूध पी लीजिये और मैं आप दोनोंको गोमन्तक पर्वत तक पहुँचा देता हूँ।' इससे अधिक सेवा मैं कर भी क्या सकता था ? मैं युद्धमें सहायता देना भी चाहता तो स्वीकार करने बाले नहीं हैं वे। उन्हें आवश्यकता नहीं है, यह जानता था मैं।

'कभी आतिथ्यका अवसर देंगे !' वासुदेवका वह अनुरोध। उनका अनुरोध भी आदेश ही है और उनका आतिथ्य किसे पावन नहीं करेगा। वे कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे। परशुरामको तीर्थमें उनका आतिथ्य-ग्रहणका अवसर मिलेगा।

—:o:—

* गोमन्तक पर्वतके 'चक्र-मौसलयुद्ध' का विस्तृत वर्णन तथा परशुरामजीके श्रीकृष्णसे मिलनेकी कथा 'भगवान वासुदेव' में आयी है।

देवगुरु वृहस्पति-

वृहद्वल (उद्धव) ने मुझे गौरवान्वित किया। शिष्य श्रीकृष्णका प्रिय अन्तरङ्ग सखा हो गया, इससे गौरव मिला मुझे। मैंने उद्धवको नीतिशास्त्रकी शिक्षा दी है। मेरी शिक्षाके कारण वह यादवोंका महामन्त्री हो गया, यह तो उचित है; किन्तु वह श्रीकृष्णका प्रिय हो गया, यह तो उसकी विशिष्टता, उसकी भगवत्प्रीति है। मैं इसमें उसकी क्या सहायता कर सकता था। उसकी इस प्रीतिके कारण तो मैं कृतार्थ हुआ।

शक्र भी तो मेरा शिष्य ही है। मेरा प्रधान शिष्य; किन्तु अन्य सुरोंके समान ही वह भी भोगपरायण है। सुरेन्द्र होकर भी अहंकारी है। समझ ही नहीं पाता कि श्रीहरिका अपना-पराया कोई हुआ नहीं करता। वे भक्तप्रिय हैं।

अनेक बार इन्द्रके अपराधके कारण मुझे ग्लानि होती है। त्रेतामें सरस्वतीको भेजकर सुरोंने मन्थराकी बुद्धि भ्रमितकी और मर्यादा पुरुषोत्तमके राज्याभिषेकमें बाधक बने। यह तो उन परमोदार परात्पर प्रभुका शील कि उन्होंने सुरोंके इस कृत्यको सेवा मान लिया। अपने अवतार-प्रयोजनका साधक समझा।

मघवाकी चलती तो वह मूर्ख भरतके श्रीराम-दर्शनमें ही बाधक बनने जा रहा था। मेरी भर्त्सनासे लज्जित हुआ वह, अन्यथा भक्तापराध करनेका कुकृत्य करनेमें भी उसे लज्जाका कोई अनुभव नहीं हो रहा था।

इस द्वापरान्तमें अपने अहंकारमें मत्त सहस्राक्षको व्रजमें श्रीकृष्णकी शक्तिका पता लग गया था; किन्तु फिर पारिजात-हरणके समय वह उनसे युद्ध करने चला गया। यह भी उसे नहीं सूझा कि जिस नरकासुरसे वह सन्त्रस्त था, उसे श्रीकृष्ण सहज रणशैया देकर अमरपुर पधारे थे।

शक्रका, सुरोंका गुरु होनेसे तो मुझ पर केवल भारही बढ़ता है। इन भोग लोलुप देवताओंके संरक्षणके प्रति ही सचिन्त रहना पड़ता है। मुझे गौरव दिया शिष्य होकर केवल वृहद्वलने।

श्रीकृष्ण परात्पर पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं वे। किसी भी सम्बन्धसे जीव इन हृषीकेशसे सम्बन्ध बनाले, जीवकी सार्थकता ही इसीमें है और जीव तो वस्तुतः वृहस्पति ही है। सब शरीरोंमें अन्तःकरणमें प्रतिभात जीवनका—चेतनके आभासका, जिसे जीव कहते हैं, मैं ही तो अधिदेवता हूँ। ज्योतिष-शास्त्र मुझे जीव कहता है—

जीवनका आधारभूत ग्रह ; किन्तु जीवकी अपनी क्या सत्ता ? प्रतिबिम्बकी कोई सत्ता हुआ करती है ?

मैं आभास चेतन भी कहाँ हूं। मैं तो बुद्धिका अभिमानी हूँ ; किन्तु आभासके बुद्धिके आधार वासुदेव ही तो हैं। उन्हीं चिद्घनके तो समस्त आभास हैं। वृहस्पति उनका आभास है, उनकी छाया है, कुछ भी सही—है उनका। उनसे सम्बन्धित।

इस सुरगुरु रूपमें भी वृहद्वलने मुझे यह सौभाग्य दिया है कि मैं चाहे जब द्वारिका जा सकता हूँ। अपने शिष्यसे मिलने, उसे आशीर्वाद देने तो जा ही सकता हूँ और मेरा शिष्य वहाँका महामन्त्री है। वह श्रीकृष्णका अनुचर है। उनके समीप ही सदा रहता है।

द्वारिकामें ब्राह्मणका प्रत्येक समय अबाध प्रवेश है। परम ब्रह्मण्यदेव वासुदेवके अन्तःपुरमें भी ब्राह्मणके प्रवेश पर किसी समय प्रतिबन्ध नहीं रहता। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचनेको तो कोई बहाना भी आवश्यक नहीं। मेरा प्रिय शिष्य जो वहाँ वासुदेवके पार्श्वमें रहता है।

श्रीकृष्ण आंगिरस हैं। इस नाते भी मुझ अङ्गिरापुत्रके वे स्नेह भाजन हैं। मेरा ही प्रमाद है कि मैं द्वारिका नहीं गया। मेरा ही लोभ मुझे अमरावतीका त्याग नहीं करने देता। मैं स्वर्ग अपने पौरोहित्यके प्रपञ्च लोभमें ही पड़ा हूँ। अमरावती त्याग कर सदाके लिए द्वारिकामें ही बस जाना चाहता, वासुदेवके समीप एक ब्राह्मणके लिए एकान्त कुटिया बना लेनेको स्थान देनेका अभाव होता ? किन्तु उन पुरुषोत्तमके सामीप्यका सौभाग्य सहज सुलभ होता है ?

सुरोंके साहचर्यने वृहस्पतिको सम्मान एवं भोगका लोलुप नहीं बना दिया है, यह कैसे कहूँ ? कहाँ है मुझमें वह श्रद्धा, वह प्रीति जिससे पुरुषोत्तमका परिकर बन पाता ?

अनाधिकारी है देवगुरु द्वारिकामें निवास पानेका ; किन्तु श्रीकृष्ण ग्रहणपर्व पर कुरुक्षेत्र आ रहे हैं। उनके साथ आ रहा है मेरा शिष्य उद्धव। पर्व पर, तीर्थस्नानको शिष्य आरहा है तो इस अवसर पर उसके आचार्यको उपस्थित होकर उसे आशीर्वाद देना चाहिये। यह आचार्यका कर्तव्य हो जाता है।

उद्धवको आशीर्वाद दूँगा मैं कुरुक्षेत्र पहुँचकर। उद्धव भाई है वासुदेवका, उनका सखा है, सहचर है। अतः उद्धवके नाते मुझे वासुदेवको भी आशीर्वाद देना है। वे साथ ही वहाँ मिलेंगे।

—•—

आचार्य शुक्र—

अनन्तसे एकत्व, सम्बन्ध, आत्मत्व स्थापित नहीं करना पड़ता। जो सर्वत्र है, सर्वव्यापक है, सर्वात्मा है, वह किसीका भी त्याग कैसे कर सकता है और कोई भी उसका त्याग कैसे कर सकता है ? वह तो अपनेसे अभिन्न है । इसमें अधिकारी-अनधिकारीका उत्तम-अधमका प्रश्न कहाँ उठता है ।

वासुदेव सर्वात्मा, सर्वस्वरूप हैं । इसलिए वे सबके अपने हैं। उन अनन्त करुणार्णवमें किसीके भी प्रति उपेक्षा अथवा कठोरताका उदय ही सम्भव नहीं है।

मेरी स्पर्धा है सुरगुरु बृहस्पतिसे, यह हमारा वैयक्तिक विषय है ; किन्तु वासुदेवने तो हममें-से किसीके प्रति कभी कोई पक्षपात नहीं किया। उन सर्वात्माकी अनुकम्पासे बृहस्पति यदि नीतिशास्त्र पासके तो सृष्टि जानती है कि शुक्र नीतिशास्त्रका सुरगुरुसे श्रेष्ठ आचार्य है ।

आशुतोषने मुझे सञ्जीवनी विद्या दे दी। बृहस्पतिको अपना पुत्र भेजना पड़ा इस विद्याकी प्राप्तिके लिए मेरे समीप ।

बृहस्पतिका गर्व व्यर्थ है कि वे सुरगुरु हैं और उनके शिष्य सत्त्ववृत्ति हैं । मेरे शिष्य असुर सुरोंसे कहीं अधिक शक्तिशाली हैं, शिष्ट हैं और मेरे प्रति विनययुक्त हैं ।

जहाँ तक श्री हरिकी अनुकम्पाकी बात है, वे उपेन्द्र बनकर यदि देवताओंके आश्रय हैं तो स्वयं वामन बने मेरे शिष्य बलिके द्वारपर नित्य उपस्थित रहते हैं । उनका ऐसा संरक्षण सुरोंको स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं है ।

श्रीकृष्णचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण इन परात्पर पुरुषसे तो शक्रने युद्ध तक कर लिया। सुरोंसे इनका सम्बन्ध बहुत दूरका, बहुत घुमा-फिरा कर बनता है ; किन्तु मुझसे तो इनका सीधा सम्बन्ध है । इस सम्बन्धमें मुझे अपने शिष्योंको भी स्मरण करनेकी आवश्यकता नहीं । ये द्वारिकाधीश मेरे दौहित्र यदुके कुलमें उत्पन्न हुए हैं । शुक्रकी कन्या देवयानीके वंशधर ये । बृहस्पति इस गौरवको कभी उपलब्ध नहीं कर सके।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम त्रेतामें अवतीर्ण हुए तो ग्रह-मण्डलमें बृहस्पति गौरवान्वित हुआ । वह उनके लग्नमें उच्चका स्थित था और मर्यादाका मानदण्ड जिसे स्थापित करना था, वह गुरुका प्रभाव प्रमुख मानता ही ; किन्तु वह त्रेता तो कबका व्यतीत हो चुका ।

इस बार वही पुरुषोत्तम धरा पर आया है—पूर्णपुरुष आया है और आया है लीला-पुरुषोत्तम होकर। यह त्रिभुवन-सुन्दर मयूर-मुकुटी। इसने तो अनेक प्रकारसे मुझे सम्मानित किया। यह मेरे दौहित्रकुलमें आया, मुझे अपना लग्नाधिप बनाया इसने और बृहस्पतिको तृतीयेश बना दिया।

शुक्र स्वयं भले एकाक्ष हो; किन्तु सौन्दर्य एवं ललितकला इसकी अनुकूलताके बिना कभी किसीको प्राप्त हुई है? श्रीकृष्णकी—पूर्णपुरुषकी कोई क्या सेवा करेगा? वे निखिल-कलंक-गुरु हैं; किन्तु शुक्र उनकी आविर्भाव कुण्डलीका लग्नेश है, उनके मातृ कुलका मूल है, उनको आवश्यकता है या नहीं, यह मैं क्यों देखूँ? मेरा आशीर्वाद सदा उनके साथ। मेरा समस्त प्रभाव-वैभव उनका सहज स्वत्व। मेरा उपहार उनके लिए। उनकी प्रत्येक मात्राका पृष्ठ रक्षक, पृष्ठ प्रकाशक शुक्र। शुक्र पीछे रहकर सदा अपनी सौम्य किरणोंसे उनका पथ प्रशस्त करता रहेगा।

क्या हुआ कि मैं असुर गुरु हूँ। क्या हुआ कि मैं एकाक्ष हूँ। वासुदेवके समीप जानेमें तो मुझे कोई बाधा नहीं है। लेकिन मेरा संकोच बाधक है। अन्ततः यदुकुल मेरी पुत्रीका कुल है। मैं वहाँ सत्कृत होने जाऊँ, यह मुझे ही उचित नहीं लगता। बृहस्पति चाहें तो वहाँ दक्षिणा-ग्रहण करने जा सकते हैं; किन्तु मैं तो इस प्रकार नहीं जा सकता। मेरे समीप क्या है जो श्रीकृष्णको, उनके स्वजनोंको, पुत्र-पौत्रोंको उपहार लेकर मैं द्वारिका जाऊँगा? अन्ततः मैं अपरिग्रही हूँ और मेरे शिष्य असुर हैं। इन असुरों की सम्पत्ति न्यायार्जित ही है, यह आश्वासन तो मेरे समीप भी नहीं है। वासुदेवकी सेवामें लगने योग्य कुछ भी शुभ, पवित्र नहीं है उनके समीप। सुतलका सम्पूर्ण वैभव तो बलिको वामनके प्रसादमें प्राप्त हुआ है। वह उपभुक्त निर्माल्य तो पुरुषोत्तमके योग्य नहीं है।

द्वारिका मैं चला जाता तो मुझे वासुदेवकी पूजा ग्रहण करनी पड़ती। पूजा तो कुरुक्षेत्रमें भी ग्रहण करनी पड़ेगी; किन्तु कुरुक्षेत्र तीर्थ है, पर्वकाल होगा। वहाँ पदार्थ-का परित्याग सहज सम्भव है। वहाँ जाकर मैं निकटसे प्रत्यक्ष वासुदेवको देख सकूँगा। उनको, उनके सम्पूर्ण कुलको, उनके परिकरोंको प्रत्यक्ष आशीर्वाद दे सकूँगा। यही अवसर है मेरे लिए। इसी समय वे पुण्डरीकाक्ष मुझे निकट मिल सकते हैं।



महर्षि अगस्त्य—

अब अगस्त्यके लिए दक्षिण भारतमें ही रहना आवश्यक नहीं रह गया। त्रेतामें ही श्रीरामभद्रने इस विवशतासे मुझे मुक्त कर दिया था। वे मर्यादा पुरुषोत्तम अवतीर्ण हुए धरापर तब कैसे सम्भव रह गया कि गिरि, नदी, सिन्धु आदिके अधिदेवता अपनी मर्यादाका त्याग करें। सेतुबन्धसे पूर्व सरोष सागरपर शरसन्धान करके उन्होंने न केवल समुद्रको, अपितु धराके सभी अधिदेवता सुरोंको संकेत कर दिया कि अब किसी भी सुरका प्रमाद सहन नहीं किया जा सकता। विन्ध्यगिरि पुनः बढ़ना प्रारम्भ कर देगा, यह आशंका निर्मूल हो गयी। विन्ध्यकी वृद्धिपर अंकुश रखनेके लिए अगस्त्यका दक्षिण बने रहना अनावश्यक हो गया।

अगस्त्यका दक्षिणके दण्डकारण्यमें अपना आश्रम बना लेना लङ्काको राजधानी बनाकर बस गये राक्षसोंके औद्धत्यपर अंकुश रखनेके लिए भी आवश्यक था। अरण्य तपस्वीवृन्दके लिए सुरक्षित रहना चाहिये। तपस्वीको वनमें स्वेच्छानुसार आश्रम बना लेनेका स्वत्व है, यह तथ्य दशग्रीवको स्वीकार ही नहीं था। जब उसने मयराष्ट्रके काननमें अपनी विधवा भगिनी शूर्पणखाको खर-दूषण-त्रिशिराके साथ नियुक्त कर दिया विशाल राक्षसी-सेना देकर, तब यह आवश्यक हो गया कि इन सुर-श्रुति-साधु विरोधी राक्षसोंपर अंकुश रखनेको कोई वहाँ बना रहे। राज्य शक्ति जब तपस्वियोंको सर्वत्र सुरक्षा देनेमें असमर्थ हो जाय, यह दायित्व किसी तापसको ही उठाना आवश्यक हो जाता है। मैंने स्वेच्छापूर्वक यह दायित्व स्वीकार कर लिया था।

विन्ध्यसे उत्तर राक्षसोंका उत्पात बढ़नेपर अंकुश लग गया। अरण्य भले सर्वत्र रक्षित नहीं हुआ, अनेक आश्रम तो तपस्वियोंके बन ही गये जहाँ-तहाँ। लेकिन वत्स रामभद्रने अगस्त्यके स्वयं स्वीकृत दायित्वको पूरा कर दिया। दशग्रीव उनकी शराग्निमें स्वाहा हो गया। विभीषणको लङ्काका आधिपत्य देकर राक्षसोंकी विभीषिकाको श्रीरामने सदाके लिए समाप्त कर दिया। अगस्त्यको चाहे जहाँ रहने, आने-जानेकी स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी।

श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे; किन्तु वही परात्पर पुरुष जब इस द्वापरान्तमें लीला-पुरुषोत्तम होकर धरापर पधारे, शैशवमें ही इन मयूर मुकुटीने सुरेन्द्र एवं सृष्टि-कर्ता चतुर्मुखको भी अच्छा पाठ पढ़ा दिया। इन्होंने स्पष्ट कर दिया कि सृष्टिकर्ताका

भी प्रमाद ये सहन नहीं करेंगे । गाण्डीव धन्वाके साथ एक रथमें बैठकर खाण्डववन अग्निको दे दिया इन्होंने इन्द्रके पूरा विरोध करनेपर भी । दानवेन्द्र मय जैसे मायावियोंके परमाचार्य, अजेयको भी हाथ जोड़कर प्राण-भिक्षा माँगनी पड़ी । सिद्ध कर दिया इन्होंने कि सहस्राक्ष भी गर्वान्ध होता है और उसका भी दमन किया जाता है । अब इन चक्रायुध गरुड़ध्वजके धरापर रहते ऋषि-मुनियोंको किसका भय । सुर-असुरोंका अभाग्य उदय हो तो उपद्रवका साहस कर देखें । अब अगस्त्यको कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

श्रीरामने भारतको त्रेतामें दक्षिणके उद्धत राक्षसोंसे निर्विघ्न बना दिया था, श्रीकृष्णने पश्चिमके मर्यादाहीन यवनोंसे कालयवनका वध करके सुरक्षित तो किया ही, पूर्वमें नरकासुरको समाप्त कर दिया और कैलासपर तपस्या करनेके बहाने पिशाचोंके आतङ्कसे उत्तरकी ओरसे भी निष्कण्टक कर दिया ।*

अब तो कहींसे किसी प्रकारकी आशङ्का अवशिष्ट नहीं है । युगों तक अगस्त्य अपनी ही इच्छासे बिना कुछ कहे असुरोंके आतङ्कके विरुद्ध तपस्वियोंका संरक्षक रहा है । इसके कार्यको जिसने सम्पूर्णता दी, जिसने इसे सर्वथा निश्चिन्त किया, उससे अधिक कोई इसके आशीर्वादका अधिकारी है ?

त्रेतामें श्रीरामभद्रको मेरे समीप आना ही था । दशग्रीव-दलनके लिए दक्षिणापथमें आते ही वे, और तब अगस्त्याश्रम मार्गमें पड़ता था । मैं उनकी क्या सेवा करता ? एक अरण्यानी अकिञ्चन परमपुरुषकी सेवा कर भी क्या सकता है ? उनके पधारनेसे अगस्त्याश्रम धन्य हो गया । मैं उनके सिंहासनासीन होनेपर अयोध्या गया, न जाता तो अकृतज्ञ सिद्ध होता अपनी ही दृष्टिमें ।

अब क्या द्वापरमें भी आवश्यक है कि वासुदेव अरण्यमें अगस्त्याश्रम आवें ? उन्होंने ऋषि-मुनियोंको निरापद कर ही दिया है । अगस्त्य उन्हें प्रत्यक्ष उपस्थित होकर आशीर्वाद देगा । कुरुक्षेत्रमें पुण्यपर्वपर सबसे उपयुक्त अवसर है इसके लिए । इस अवसरपर वे सपरिकर मुझे तीर्थस्थलमें मिलेंगे ।

—:o:—

* कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में है ।

महर्षि गौतम–

अपने आराध्य अम्बिकेश्वर भगवान गङ्गाधर ही जिनको हृदयमें धारण करते हैं, जिनके नामका सतत जप करते रहते हैं, उनके दर्शनोंकी उत्कण्ठा मेरे हृदयमें बनी है, इसमें तो आश्चर्यकी बात नहीं है।

यह अनुकम्पा आशुतोष प्रभुकी, कि वे इस अपने चरणाश्रितका आग्रह स्वीकार कर लेते हैं। इसे उन्होंने उसी प्रकार गोदावरी प्रदान की, जैसे भगीरथको गंगा दी थी। दोनों ही तो उनकी जटाओंमें स्थित विष्णुपदी ही हैं।* इसपर अनुग्रह करके वे शशाङ्क-शेखर उस गौतमीके तटपर त्र्यम्बकेश्वर रूपमें अवस्थित हुए।* इस अपने सेवकका आग्रह स्वीकार करके श्रीहरिके साथ इसके अतिथि बने।* इस गौतमके वे नीलकण्ठ ही सर्वस्व हैं। इसके वे वृषभध्वज धूर्जटि ही आश्रय हैं।

गौतम शैव है। भगवान शङ्करका सेवक है यह, इसमें तो किसीको कोई सन्देह करनेका कारण नहीं है और मुझे तो किञ्चित् सन्देह नहीं है कि मेरे शूलपाणि आराध्यके अनुग्रहसे ही मुझे अनन्तशायी गरुड़ासनका स्नेह प्राप्त हुआ है।

मेरा ही प्रमाद था कि मैंने पत्नीको शाप देकर शिला बना दिया। उस सतीका तो कोई अपराध नहीं था। इन्द्रने उसके साथ छल किया था। छल करनेवाला दोषी होता है। अहल्याका तो अपराध नहीं था। जितनी सावधानी अपेक्षित थी, वह नहीं रख सकी थी ; किन्तु यह अपराध हो तो उसे शाप देनेमें क्या मैंने ही उतनी सावधानी रखी? मर्यादा-पुरुषोत्तमने अवतीर्ण होकर उस निरपराध अबलाको शाप-मुक्त किया। मैं पत्नी-वियोगसे परित्राण पा गया। उनकी पद-रज-पुनीता पत्नी, गौतमको यह प्रसाद अपने अवढर दानी आराध्यके अनुग्रहसे नहीं मिला, यह आप विश्वासपूर्वक कह सकते हैं?

'वे इन्दीवर सुन्दर अवतीर्ण हुए हैं धरापर। उन कमल-लोचनकी चरण-वन्दनाका सौभाग्य मुझे एक बार और मिल सकता है, यदि आप अनुमति दें।' अहल्या बार-बार आग्रह करती है ; किन्तु इस आग्रहकी अब कोई आवश्यकता है? मेरे मनमें उन मयूर मुकुटीके दर्शनकी कम उत्कण्ठा है?

---

* ये कथाएँ 'शिव-चरित' में आयी हैं।

'अब तक मैं द्वारिका नहीं जा सकी।' पत्नी मेरा संकोच समझ नहीं पाती और मैं कह भी नहीं पाता। ये द्वारिकाधीश वही त्रेताके अयोध्याके चक्रवर्ती नरेशके राजकुमार हैं। इन्होंने महाराज सीरध्वज जनककी अयोनिजा कन्या सीताका पाणि-ग्रहण किया है। मैं इनके नगरमें जाऊँ, यह उचित होगा ?

मेरी कठिनाई मैं ही स्पष्ट नहीं समझ पाता तो दूसरेको कैसे समझा दूँ ? मैं ब्राह्मण हूँ। कभी विदेह राजकुलका कुल पुरोहित था। श्रीराम जब जनकपुर पधारे, महाराज सीरध्वज जनकका कुल पुरोहित मेरा पुत्र शतानन्द था। महाराज सीरध्वज और शतानन्दको तो मैंने समान रूपसे पुत्र माना है। तब वह धराके अङ्कसे उत्पन्न बालिका मेरी पौत्री नहीं है ? मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता। अहल्याके बार-बार अत्यधिक आग्रहके होनेपर भी मैं अयोध्या नहीं जा सका था।

'शतानन्द अयोध्या जाकर वहाँका आतिथ्य नहीं स्वीकार कर पाता और तुम वहाँ चलना चाहती हो ?' पत्नी मेरे तर्कको तब भी नहीं समझ पाती थी। महाराज जनकका पुरोहित अयोध्या जाय, इसमें उसे बाधा नहीं लगती थी ; किन्तु शतानन्द केवल पुरोहित था ? उन जनकात्मजाको देखकर कोई इतना तटस्थ रह सकता है ? शतानन्दको वे अपनी ही पुत्री लगती थीं, यही तो स्वाभाविक था।

अहल्या अब मेरे द्वारिका न जा पानेका संकोच समझ पावेगी ? उसे समझानेका प्रयत्न मैंने नहीं किया। जिनकी चरण-रजने उसे शाप सन्त्राससे मुक्त किया, उनके प्रति उसका वात्सल्य नहीं जागता ? उनका स्मरण उसे श्रद्धा विभोर कर देता है। उसकी श्रद्धाका सम्मान ही कर सकता हूँ मैं ; किन्तु अपने हृदयका मैं क्या करूँ ? मैं उन नीलसुन्दरका स्मरण करता हूँ तो मेरा वात्सल्य मुझे कुछ सोचने नहीं देता।

द्वारिका मैं नहीं जा सका। लगता नहीं कि जा सकूँगा कभी ; किन्तु अब तो ग्रहणके पवित्र पर्व पर वे वनमाली कुरुक्षेत्र आरहे हैं अपने पूरे परिवारके साथ। यहाँ मैं उनकी दर्शन कर सकता हूँ। पत्नीका अनुरोध, उत्सुकता भी पूरी हो जायगी।

ब्राह्मण नित्य अकिञ्चन—उन रमाकान्तको धनाध्यक्ष कुबेर भी कुछ देनेमें समर्थ है ? तीर्थमें उनका दान, उनका उपहार ग्रहण करनेके संकोचसे बचा जा सकता है, यही बहुत है। यह ब्राह्मण उन्हें आशीर्वाद दे आवेगा। त्रेतामें जो नहीं कर सका था, आज कर लेगा। आज वे मयूरमुकुटी रूपमें इसे मिलेंगे।

—०—

महर्षि लोमश—

अमर होनेका अर्थ क्या है, इसे कोई मरणधर्मा किसी प्रकार नहीं समझ सकता। अमरत्व वैसे निरपवाद तो अशक्य है। परिवर्तनशील कालके अङ्कमें कुछ अपरिवर्तित रह नहीं सकता। मेरा अमरत्व भी सापेक्ष है। सृष्टिकर्ता पद्मसम्भव मरते हैं तब मेरे शरीरका एक रोम टूट गिरता है। वह पुनः उगता नहीं। मेरे घुटनेके ऊपरका यह लगभग दो अङ्गुल भाग तो रोमहीन हो चुका। बड़े रोमोंसे भरे लोमशके शरीरका जिस दिन अन्तिम रोम गिरेगा, लोमशका शरीर भी गिर जायगा। मृत्यु दबे पैर मेरी ओर बढ़ती आरही है। केवल कुछ सहस्र ब्रह्मा उत्पन्न हों और मरें, बस इतनी आयु शेष है।

मनुष्य जैसे नहीं समझ पाता कि उसके एक दिनमें जिनकी कई पीढ़ी पूरी हो जाती हैं, वे कृमि उसे क्या समझते होंगे, उन कृमियोंका जीवन कितनी तीव्रगतिसे चलता है, वैसे ही लोमशको भी मानव नहीं समझ पाते।

तैंतालीस लाख, बीस हजार मानव-वर्षका एक महायुग अर्थात् चतुर्युगी। ऐसे एक सहस्र महायुगका ब्रह्माका एक दिन और इतनी बड़ी रात्रि। ऐसे तीस दिन-रात-का उनका मास, बारह मासका वर्ष और अपने वर्षसे केवल सौ वर्षकी आयु है ब्रह्माकी। एक ब्रह्मा मरता है तो मेरा एक रोम टूट गिरता है।

इस दीर्घायुकी एक समस्या है कि काल बहुत छोटा हो जाता है। जीवन अत्यन्त व्यस्त बन जाता है। कुछ भी व्यवस्थापूर्वक करनेको समय ही नहीं मिलता। मैं महायुग (चतुर्युगी) की बात करता हूँ तो वे मुझे पलोंसे भी अल्प प्रतीत होते हैं। इन नन्हें महायुगोंमें तो कुछ किया नहीं जा सकता।

जगदीश्वर जब जगतमें अवतीर्ण होते हैं तो उनका दर्शन करने एक बार भी उपस्थित न हुआ जासके, यह अशिष्टता लगती है; किन्तु ब्रह्माके एक दिनका नाम कल्प है और प्रत्येक कल्पमें पूर्णपुरुष एकबार अवश्य अवतरित होते हैं। एक ब्रह्माकी आयु ही मुझे एक घटी लगती है। ब्रह्माका एक दिन मेरे क्षणों जैसे हैं। अब प्रत्येक क्षण जिसे परमपुरुषके दर्शन करने दौड़ना पड़ता है उसकी व्यस्तताका कोई ठिकाना है ?

परात्पर परम पुरुषका मैं किसी प्रकार उनके धरापर आनेपर दर्शन करलूँ, इतना पर्याप्त है, उनके अंशावतार, कलावतार, आवेशावतारोंका दर्शन करते

रहनेका मेरे समीप समय नहीं है। उनमें-से कोई स्वयं लोमशके समीप आजायँ तो दूसरी बात है।

मेरे जैसा व्यक्ति किसीसे स्नेह नहीं कर सकता। कोई मनुष्य दीमकोंसे, परम सूक्ष्म कीटोंसे स्नेह करने लगे तो? उसे समस्त जीवन रुदन ही तो करना होगा? वह जिससे स्नेह करना चाहेगा, वही उसके सम्मुख मर जायगा। ब्रह्मा ही मेरे क्षणोंमें मर जाते हैं तो उनके पुत्र दिव्यलोकोंके ऋषिगण कैसे जीवित रह सकते हैं। उनमें किसीसे मेरे स्नेहका क्या अर्थ? कालने ही मुझे विरक्त एवं एकान्तप्रिय बना दिया है।

मेरी कठिनाई यह है कि अन्य प्राणियोंकी भाँति मैं पुरुषोत्तमके प्रति तटस्थ नहीं रह पाता। वे सच्चिदानन्दघन पृथ्वीपर पधारते हैं तो उनका दर्शन करने दौड़ता हूँ। उनको देखकर कोई उदासीन कैसे रह सकता है? लेकिन वे इतने अल्पकालके लिए धरापर आते हैं कि लोमश उनको कभी भरनेत्र देख भी नहीं पाता। कभी किसी कल्पमें वे एकाधिक बार धराको धन्य करने आते हैं, तब तो मुझे दौड़ा-दौड़में ही वह कल्प बीतता लगता है। पता नहीं अविनाशी कालातीत परम पुरुषको इतनी शीघ्रता क्या रहती है। धरादेवी उनकी पत्नी हैं तो आवें तो दो-चार कल्प बने रहें। जाना ही है तो सौ-पचास कल्पके पश्चात् पधारें। लोमश मरणधर्मा है, इसे ही वे क्षण-क्षण आते लगते हैं। वे अविनाशी—उन्हें इस दौड़ा-दौड़की क्रीड़ामें आनन्द आता होगा।

अभी-अभी त्रेता बीता है। मुझे लगता है कि मर्यादा पुरुषोत्तमके दर्शन करके अभी-अभी आश्रम आया हूँ और द्वापर भी बीतने वाला है। इस कल्पका यह अष्टाविंशति द्वापरान्त—परमपुरुष लीलामय पुरुषोत्तम पुनः पधारे हैं धरापर। शीघ्रता न करूँ तो इस बार उनके दर्शनसे ही वञ्चित रह जाऊँगा।

नहीं, दो क्षण भी बैठकर ध्यान करनेका अवकाश नहीं है। मर्यादा-पुरुषोत्तमका दर्शन करके लौटकर सन्ध्या करने लगा तो द्वापर आगया। अब ध्यान करने बैठूँ तो धरापर पधारे निखिल-सौन्दर्य-सिन्धुके दर्शनसे ही वञ्चित रह जाऊँगा।

कोई सुर, कोई ऋषि-मुनि मुझे कोई सूचना नहीं देता–दे नहीं सकता। मुझसे परिचित हो इससे पूर्व ही उसकी आयु पूरी हो जाती है। मुझे शीघ्रता करनी चाहिये। कुरुक्षेत्रमें वासुदेव पधार रहे हैं। वे वहाँ मुझे मिल जायेंगे।

—:०:—

महर्षि मार्कण्डेय—

आशुतोष प्रभुके अनुग्रहसे अत्यन्त अल्पायु लेकर उत्पन्न मैं कल्पान्त अमर हो गया, यह बड़ा लाभ नहीं था। बड़ा लाभ मिला मुझे जीवनका कि मनकी तपमें प्रीति हुई। उससे बड़ा लाभ कि श्रीहरि एव हरमें अनुराग हुआ। इनके भक्तोंके प्रति प्रेम हुआ।

भगवान नर-नारायणने कृपा करके दर्शन दिया। वे अनुग्रह करके न पधारते, किसीकी कोई तपस्या कहाँ समर्थ है उनके श्रीचरणोंका साक्षात्कार करानेमें। लेकिन मैं भटक गया उनका दर्शन करके भी। मैंने उनसे माया देखनेका वरदान माँगा। मायाका दर्शन—अनन्तकालसे जीव मायाका ही तो दर्शन कर रहा है। मायापति पधारे और उन से मुझ अज्ञानीने माया-दर्शन की माँग की।

वे जनार्दन अनन्त करुणा-वरुणालय हैं। मेरी इच्छा पूर्ण करदी उन्होंने। उनके पादपद्मोंमें पहुँचकर कोई कामना कभी अपूर्ण नहीं रहती; किन्तु मुझे भटकने नहीं दिया उन दयासिंधुने। वह प्रलय पयोधि, उसमें अनन्तकाल तक उन्मज्जित-निमज्जित होनेका, जलजीवों द्वारा निगले जानेका, नोच-नोचकर खाये जानेका अकल्पनीय कष्ट—यही तो माया है। आनन्दघनकी गोदमें सोया शिशु स्वप्नमें यही सब तो देख रहा है। यह भवसागर स्वप्न ही तो है; किन्तु मुझे इस स्वप्नमें—मायादर्शनमें भी वे वटपत्रशायी शिशु बने मिले।

वह नवदूर्वादल श्याम नवनीत सुकुमार श्रीअङ्ग, वे अतिशय मृदुल अरुण चरण, अपने चरणके अंगूठेको करसे पकड़े मुखमें लेकर पी रहे थे। उनका वह घुंघराली अलकोंसे घिरा श्रीमुख। मैं कोटि-कोटि कल्प वैसे प्रलयपयोधिमें डूबने-उतारने को प्रस्तुत हूँ यदि वह श्रीमुख पुनः एकपलको देखनेको मिले।

मैं उन्हें अङ्कमें उठाने बढ़ा था। वे अनन्त किसीके अङ्कमें आते हैं। मैं नन्हे मच्छरके समान उनके श्वाससे खिंचा उनकी नासिकामें होकर उनके उदरमें पहुँच गया। यह सम्पूर्ण सृष्टि उनके उदरमें ही तो है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड देखे मैंने वहाँ उस उदरमें और देखा कि काल उन मुकुन्दका केवल मनोविलास है। उनके उदरमें मैं कल्पपर्यन्त घूमता रहा; किन्तु वह काल निमेषमात्र था। मैं उनके निःश्वाससे ही तो निकल आया था।

माया-दर्शन क्लान्त श्रान्त नहीं करेगा तो क्या सुख देगा? मायामें भी कहीं सुख है? मेरे आराध्य भगवान महेश्वर अम्बाके साथ अकस्मात आ गये जब मैं वह माया

देखकर थका ध्यान करने बैठा था। वे वटपत्रशायी भी क्या भूले जा सकते हैं? उनकी एक झलक पाकर मन सदाको उनका ही हो गया। उनका ध्यान—मार्कण्डेयके मानसमें क्या दूसरा कुछ कभी आ सकता है?

आशुतोष प्रभुने अपने इस जनको अपनाया। इसे आशीर्वाद दिया। पुराणाचार्यता, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति—वे दाता देने लगते हैं तो उनका दान क्या सीमामें रहता है? बिना माँगे उन्होंने मार्कण्डेयको अपने आशीर्वादोंसे आप्लुत कर दिया।

सब मिला; पर जैसे कुछ नहीं मिला। एक पिपासा प्राणोंमें बस गयी और वह तो बसी सो बस गयी। वह प्रतिक्षण प्रबल होती जाती है। उन वटपत्रशायीका श्रीमुख देखनेकी प्यास। उस माया-दर्शनमें मैंने प्रलयाब्धिमें देखा था उन्हें। उन सौन्दर्य सारसर्वस्वको अङ्कमें उठा लेनेको बढ़ा था। एकबार उनका स्पर्श पाता, उन्हें अपने अङ्कमें ले पाता········।

जो प्राणोंमें प्यास जगाते हैं, वही तृप्ति बनकर स्वयं आते हैं। मार्कण्डेयने कब कल्पना की थी कि माया-दर्शनकी माँग भगवान नर-नारायणसे करनेपर उस माया-स्वप्नके मध्य बालमुकुन्द इसे दर्शन दे जायेंगे। वह प्रलय-पयोधिकी उत्ताल तरंगें माया हों, यह समस्त सृष्टि माया ही तो है; किन्तु वे बालकुमुन्द, उनके वे पल्लवारुण नन्हे सुकुमार चरण तो परमसत्य हैं। वे नीलसुन्दर तो माया नहीं हुआ करते। वे स्वप्नमें भी आजायँ, प्राण सनाथ हो जाते हैं। मेरे प्राणोंकी प्रचण्ड प्यास उन्होंने ही तो प्रदीप्त की थी। वही उसे तृप्ति नहीं देते?

वे अपने जनपर नित्य कृपालु—मेरी पिपासाको परितृप्ति दिया उन्होंने। मैंने उन्हें पुनः देखा, उन्हें अङ्कमें उठाया। उनका वह भुवन-मोहन रूप नेत्रमें बसा था प्रलयाब्धिमें और उनका स्पर्श प्राणोंमें बस गया ब्रजमें श्रीनन्दरायके प्राङ्गणमें जाकर।

उनको प्रथम गोदुग्धपान कराना था। भगवती पूर्णमासी चन्द्रोज्ज्वल शंख करमें लिये उनको, उन्हीं मेरे वटपत्रशायी श्रीमुकुन्दको अङ्कमें लिये बैठी थीं। मेरा आह्वान किया उन्होंने। मुझे श्रीनन्दनन्दनको आशीर्वाद देना था। वही अतसीकुसुम सुकुमार श्रीअङ्ग, वही अलकोंसे घिरा चन्द्रमुख, वे ही अरुण मृदुल नन्हें चरण। मैं उन्हें अङ्कमें लेकर विस्मृत ही हो गया कि नन्दप्राङ्गणमें हूँ। उनका वह मन्द स्मित········।

वे अब द्वारिका जा बसे हैं; किन्तु मेरे हृदयसे तो वे एक क्षणको भी नहीं गये। वे नन्हे वटपत्रशायी—पर वे चतुर्भुज अखिलेश्वरके रूपमें अब कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे मुझे।

—※—

महर्षि पराशर—

अच्युत वासुदेवने जबसे पाण्डु-पुत्रोंको अपनाया है ; मुझे सत्यवतीके प्रति स्नेह हो गया है। अनेक बार मुझे उसका स्मरण हो आता है। अन्यथा मैं तो उसे सर्वथा भूल ही गया था।

मेरा स्खलन, मेरी विकृतिको भी विश्वेशने अपनी अर्चना स्वीकार कर लिया, यह उन सर्वेशकी अनुकम्पा। अल्पशक्ति जीवकी भूलोंको वे सदासे सुधारते आये हैं। मत्स्यगन्धा मल्लाह कन्याके प्रति मेरा विकार अनुचित ही तो था। उसे योजनगन्धा बना देनेसे ही तो मेरा प्रायश्चित नहीं हो जाता; किन्तु मेरी च्युतिको दयार्णवने अपने अवतरणका उपकरण बनाकर मुझे, मेरे स्खलनको कृतार्थ कर दिया। वेदोंका चतुर्धा विभागकर्ता, महाभारत जैसे पञ्चम वेदका निर्माता कृष्णद्वैपायन भगवदंश है, यह सभी ऋषि-मुनियोंको स्वीकार है। यह अंशावतार ग्रहण करनेके लिए अखिलेशने मेरी विकृतिको ही निमित्त बनाया। उन लीलामयकी लीला अतर्क्य है। कौन अनुमान कर सकता है कि वे अपने किस कार्यमें कब निमित्त बना लेंगे ? किन्तु उनकी क्रीड़ाका उपकरण बनकर जीव कृतकृत्य ही होता है।

मेरी विकृति–बादरायणको पुत्र प्राप्त करके मेरी ग्लानि मिट गयी। मैं विषयाराम तो नहीं था कि योजनागन्धा सत्यवतीके प्रति मेरे मनमें अनुरक्ति जागती। इन्द्रियाराम पराशर है, यह आक्षेप भी इसपर कभी किसीने नहीं किया। ब्रह्मर्षि मुकुटमणि वशिष्ठके इस पौत्रको इन्द्रियवेगने, मदनने एक बार पराजित कर लिया ; किन्तु वह मेरी च्युति थी अथवा सर्वेशकी प्रेरणा, यह कहना कठिन होगया जब उसी च्युतिको निमित्त बनाकर बादरायणका आविर्भाव हुआ। वह च्युति भी हो तो उसने विश्वको कृष्णद्वैपायन जैसा वरदान दिया। मेरी ग्लानिको सर्वेशने गौरवान्वित कर दिया।

सत्यवती अब अनेक बार स्मरण आती है। महाभागा लगती है वह मुझे। उसके वंशमें, उसकी प्रेरणासे बादरायण द्वारा उत्पन्न पुत्रोंमें विदुर जैसा महाभागवत है। पाण्डुपुत्र तो वासुदेवको अत्यन्त प्रिय हैं। पाण्डुपुत्र बादरायणके पौत्र ही तो हैं और बादरायण मेरा पुत्र—सत्यवती मुझे स्मरण आती है। उसके स्मरणके साथ स्मरण आता है कि सत्यवतीने मुझे भगवद् भक्तोंका कुल पुरुष होनेका गौरव दिया।

परात्पर परम-पुरुष गोलोक-विहारी धरापर प्रकट हुए हैं। इन लीला पुरुषोत्तमका स्मरण—क्षणार्ध स्मृति भी जीवको धन्य-धन्य कर देती है। इनसे कोई सम्बन्ध बन

सके, इन्हें किसी प्रकार भी अपना कहा जा सके—जीवके एकमात्र ये अपने और विडम्बना यह कि माया-मोहित-मानवको ये ही अपने नहीं लगते । अविद्यान्धकारमें भटकता असंख्य स्वप्न-प्रेतोंको वह अपना-अपना पुकारता पकड़नेके प्रयत्नमें दौड़ रहा है, पर जो उसका सचमुच अपना हैं, उसे अपना समझ ही नहीं पाता । लीलामय जनार्दन ही अनुकम्पा न करें, जीव इनके अपनत्वको पहिचान कहाँ पाता है ।

सत्यवतीने श्रीकृष्णको मेरा अपना बनाया । धन्य है वह महाभागा । वासुदेव उसके वंशोद्भवोंको परमप्रिय हैं । वे मयूर मुकुटी पृथाके भ्रातृपुत्र हैं । पाण्डव उनको प्राणके समान प्रिय हैं और पृथा-पुत्रोंके वासुदेव हृदय हैं, सर्वस्व हैं ।

पराशर ऋषि है । सृष्टिकर्ताके साक्षात पुत्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठका पौत्र है । इसे अपनी एक विकृतिको, उसके निमित्तको स्मरण नहीं करना चाहिये, यह तर्क अब कोई मूल्य रखता है ? सत्यवतीका स्मरण मुझे स्मरण दिलाता है कि वासुदेवसे मेरा सम्बन्ध हो जाता है उसके माध्यमसे । श्रीकृष्ण मेरे हैं, यह स्मरण कराती है वह महाभागा । धन्य है मत्स्यगन्धा । आज मेरा मन उसे अपनी कहकर पुलकित होता है ।

वासुदेव मेरे हैं । मेरे वंशधरकी सन्तानोंके सुहृद हैं, प्रिय हैं, भाई हैं। उनको देखलेनेकी, उनको आशीर्वाद दे आनेकी उत्कण्ठा मेरे हृदयमें बहुत प्रबल है ; किन्तु अपने स्वभावका क्या करूँ ? नगरोंसे सहज अरुचि है मेरी । सघन जनपदमें जैसे श्वासावरोध होने लगता है । द्वारिका बहुत बड़ा महानगर है । वासुदेवको देखनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होनेपर भी मेरी एकान्तप्रियता, अरण्यके प्रति आसक्ति मुझे द्वारिका-नहीं जाने देती ।

कुरुक्षेत्र सूर्यग्रहणके समय किसी भी महानगरसे अधिक जनाकीर्ण हो उठेगा, यह जानता हूँ । लेकिन तब भी कुरुक्षेत्र तीर्थ है । पर्वपर तीर्थ-स्नान दिव्यलोकोंके ऋषियोंको भी अभिप्रेत रहा है । इस अवसरपर तो मेरे पितामह भी कुरुक्षेत्र पधारने वाले हैं। मेरी पितामही अरुन्धती देवी भी अपने सप्तर्षि लोकसे धरापर इस परमपर्व-पर आ रही हैं। अत: मैं भी कुरुक्षेत्र चलूँगा ।

महापर्वका तीर्थ-स्नान--पराशरको क्या करना है पुण्योपार्जन करके ? लेकिन यह उपार्जित पुण्य यह आशीर्वाद देकर वासुदेवको अर्पित करनेका अवसर छोड़ने योग्य है ? इस समय वासुदेव—मेरे वासुदेव मुझे मिलेंगे ।

—+—

महर्षि याज्ञवल्क्य---

अद्वितीय अनिर्वचनीय आत्मतत्व ही परमसत्य है। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा, केवल प्रतीत हो रहा है। इसमें कुछ तथ्य नहीं है। मृगमरीचिकाके समान, क्षितिजकी नीलिमाके समान प्रपञ्च असत्य है। अपने स्वरूपमें बाधित यह प्रतीति मायाका विलास है।

इस अद्वयतत्त्वमें अन्तःकरण भी बाधित ही है; किन्तु अन्तःकरणकी प्रतीति है, तब तक इसकी वृत्तियाँ भी हैं। ये अन्तःकरणकी बृत्तियाँ ही तो दृश्यमें आसक्त होकर प्रपञ्चको सत्य प्रतीत कराती है और आवागमनके चक्रका कारण बनती हैं। प्रपञ्चके मिथ्यात्वका ज्ञान होकर ब्रह्मात्मैक्य बोधका उदय हुआ, अविद्या निवृत्त हो गयी, आवागमन फिर कहाँ और कैसा? जीवकी पृथक सत्ता ही नहीं रही तो उसके जन्म-मरणका प्रश्न कहाँ रहा?

जीवनकी यह परम सार्थकता-सफलता है, अब यह बात मुझसे कही नहीं जाती। जानता हूँ, मनुष्य जीवनका परम लक्ष्य मोक्ष है; किन्तु यही सब कुछ है, कैसे कह दूँ? अद्वय सच्चिदानन्द जब सगुण-साकार होकर अवतीर्ण होता है, उस अनिर्वचनीय आनन्दघनका कभी भी साक्षात्कार प्रकृष्ट प्रीतिके द्वारा सम्भव है, केवल अनुभवैक-गम्य आत्मतत्त्वमें अवस्थितिको परम परिणिति कैसे मान लिया जा सकता है?

वासुदेव हृषीकेश किस अन्तःकरणमें नहीं हैं? लेकिन कल्मषाच्छन्न अन्तःकरणमें उनका आभास पाया नहीं जा सकता। अविद्याकी आत्यन्तिक निवृत्ति हुए बिना अन्तःकरण कहीं शुद्ध होता है। अविद्या-निवृत्ति हुई, अन्तःकरणका बाध हो गया, अद्वयतत्त्वमें अवस्थिति हो गयी, इसके पश्चात् भी कुछ है। वह वाणीका विषय तो नहीं है कि उसका वर्णन करूँ। लेकिन वह याज्ञवल्क्यका अपना अनुभव है।

लगता है कि अनन्त दयार्णव जिस अन्तःकरणको पावन प्रेमसे परिष्कृत करनेकी कृपा कर देते हैं, वह प्रेम परिपूत अन्तःकरण ही अविद्याकी निवृत्तिके पश्चात् इस अद्‍भुत स्थितिका अधिकारी हो पाता है।

श्रीकृष्ण नवनीत-चोर हैं। श्रुति ठीक ही इन्हें 'तस्कराणां पतये' (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा १६.२१) कहती है। अविद्या-कल्मष रहित उज्ज्वलतम अन्तःकरण इन्हें नवनीत लगता है यदि उसमें प्रेमका माधुर्य हो। उसका अपहरण करते इन्हें बिलम्ब नहीं लगता। आत्माराम, आप्तकाम मुनियोंके चित्तको बलात् चुरा लेना इन गोपकुमारका शाश्वत व्यसन है।

कृष्ण-आकर्षणकी सत्ता। अद्वय सच्चिदानन्द जब साकार आनन्दघन होकर इन्द्रिय-गोचर हुआ—गोविन्द बना, इसके आनन्दकी, माधुर्यकी कोई सीमा कहाँ है। यह सम्मुख न भी हो, इसकी स्मृति क्या अन्तःकरणको फिर अपनेसे पृथक होने देती है।

याज्ञवल्क्य योगी है—योगमार्गके पथिकोंका परमोपदेष्टा और तत्त्वज्ञान—अद्वय ब्रह्मबोधके अभीप्सु इसे ब्रह्मज्ञानका प्रकाशस्तम्भ कहते हैं। उपनिषदोंकी ब्रह्म-बोधक श्रुतियोंने स्वतः मुझपर अपना मर्म प्रकाशित किया है।

याज्ञवल्क्य दो-चार मन्त्रोंका दर्शन करके ऋषि नहीं हुआ। भगवान भास्करने वाजिरूप धारण करके स्वयं इसे शिष्य स्वीकार किया और सम्यक् श्रुति प्रदान की। शुक्ल यजुर्वेद-सम्पूर्ण वाजसनेयी संहिताका द्रष्टा याज्ञवल्क्य परमर्षि हुआ। भुवन-भास्करके अनुग्रहसे।

यह सब है, यह सुयश है मेरा और इसका उपयोग है योगके साधकों तथा तत्त्व ज्ञानके जिज्ञासु जनोंके लिए ; किन्तु याज्ञवल्क्य स्वयं में क्या है ? इसे क्या सचमुच प्रिय है ? किसीने पूछा नहीं कभी मुझसे। मेरी रुचिको, मेरे स्वरूपको केवल भरद्वाजने पहिचाना। उन्होंने मुझे परमानन्द प्रदान किया, जब प्रयागमें मुझसे रामचरित सुननेकी जिज्ञासा की। भरद्वाजने मुझे रामकथाका वक्ता बनाकर कृतकृत्य किया।

सगुण-साकार परात्पर पूर्ण तत्त्वका स्मरण, उनके चारु चरितोंका चिन्तन मेरा व्यसन बन गया। इतना अकल्पनीय आनन्द—याज्ञवल्क्यका चित्त चुरा लिया उस दूर्वादिल श्यामने और अब वह धरापर अवतीर्ण हो गया है। मयूरमुकुटी सचमुच माखन-चोर बनकर पृथ्वीपर इस द्वापरान्तमें आया है।

उस गोविन्दको देखे बिना दृष्टिकी कोई दूसरी सार्थकता है ? वह पृथ्वीपर प्रत्यक्ष है तो समाधिमें स्थित होना आवश्यक रह गया है ? अद्वय आत्म तत्त्वके अनुसन्धान श्रमकी कोई सार्थकता है, जब वनमाली कमल-लोचन कौस्तुभाभरणके पादपद्मोंका दर्शन किया जा सकता है ?

याज्ञवल्क्य औरोंके लिए योगी, तत्त्वज्ञ आदि कुछ भी हो, यह उस पद्मपलाश-लोचनका यशोगायक है अपनी दृष्टिमें और अपने उस ज्ञेय, ध्येयका कुरुक्षेत्रमें दर्शन करेगा। वे वासुदेव इसे मिलेंगे। अपने इस यशोगायकको पहिचान कर उत्साह पूर्वक मिलेंगे इससे।

—:※:—

महर्षि भरद्वाज--

अध्ययन, अध्यापन और सत्संग, इनके अतिरिक्त तो मैंने अपने जीवनमें अन्य साधन जाना नहीं। वैसे पुरुषोत्तम साधन साध्य हैं भी नहीं। मर्यादा-पुरुषोत्तम मुझ-पर क्या देखकर प्रसन्न हुए? वे जीवकी ओर देखकर कभी प्रसन्न हुए हैं कि मेरी ओर देखते? वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही द्रवित होते हैं। मुझे भी वे अपनी करुणाके कारण ही प्राप्त हुए, इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं है।

मैं सुरगुरुका औरस पुत्र हूँ, इसका तो कोई अर्थ ही नहीं है। इसके कारण तो मैं भाग्यहीन ही सिद्ध हुआ। माता-पिता दोनों जन्मके समय ही मुझे त्यागकर चले गये थे। मुझे तो बचाया ही उन सर्वेशकी करुणाने। असहाय नवजात पितृ-परित्यक्त शिशुको उनकी करुणाके अतिरिक्त कोई बचा सकता था। वनमें त्यक्त नवजात शिशुको वृक, व्याघ्रादि खा नहीं गये। वह बचा, बढ़ा और पालित-पोषित ही नहीं हुआ, मन्त्रद्रष्टा महर्षि बन गया। तीर्थराज प्रयागके पावन क्षेत्रमें आश्रम बनानेका अवसर मिला। सहस्र-सहस्र मुनि, मुनिकुमार इसके आश्रममें अध्ययनकी सुविधा पाते हैं; यह सब किसकी अहैतुकी कृपाका प्रसाद है?

मैं जिनकी कृपासे जीवित रहा, पला, बढ़ा और विद्या-बुद्धि पा सका, वे स्वयं पधारे थे मेरे आश्रम। अनुज एवं श्रीजनक-नन्दिनीके साथ वे स्वयं पधारे प्रयाग मेरे आश्रम। उन वल्कल-वसन, जटामुकुटीके दर्शन करके भरद्वाज कृतकृत्य हो गया। उन मर्यादा-पुरुषोत्तमका शील—वे इस ब्राह्मणकी विनयपूर्वक वन्दना करते थे; किन्तु मैं क्या अपने उन प्राणदाता, पालक, सर्वस्व दूर्वादल श्याम श्रीरामको पहिचानता नहीं। वही तो श्रुतियोंके परम प्रतिपाद्य हैं।

मेरा सौभाग्य, मेरे साथ उन सर्वेश्वरेश्वरका पक्षपात मेरे जन्मसे रहा है। मैं उनका रक्षित पालित शिशु, उन्होंने स्वयं आकर मुझे दर्शन दिया था और मुझे अकल्पित अहोभाग्य दिया उन्होंने सानुज, सपरिकर, ससैन्य भरतका आतिथ्य करनेका अवसर देकर। भगवत्प्रेमकी, भक्तिकी साकारमूर्ति भरतके दर्शन करके मैंने समझा कि श्रीरामका दर्शन ही पराकाष्ठा नहीं है। श्रीराम-दर्शनका फल भरतका दर्शन। भरतके श्रीचरण देखे बिना कोई समझ नहीं सकता कि भक्ति कहते किसे हैं।

श्रीरामभद्रकी कृपाकी कोई सीमा है? भरद्वाजके हृदयमें भक्तिका लेश भी हो तो

वह श्रीभरतलालके पादपद्मोंका प्रसाद होगा। लेकिन चौदह वर्ष वनमें रहकर मेरे वे सर्वस्व दशग्रीव-दलन करके लौटे तो भरतसे भी पूर्व उन्हें अपना पोषित बालक यह भरद्वाज स्मरणमें आया। इसे अपने, अपने सहायक वानरोंके आतिथ्यका अवसर अयोध्या पहुँचनेसे पूर्व दिया उन्होंने। वे तो पुष्पकारूढ़ थे, गगनपथ से जाना था उन्हें, सीधे अयोध्या चले जाते ; किन्तु प्रयाग उनका विमान उतरा। अपनोंको विस्मृत करना वे जानते नहीं। भरद्वाजको छोड़कर जा नहीं सके—जा नहीं सकते थे।

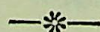
भरद्वाजको अयोध्याके आमन्त्रणकी आवश्यकता थी ? श्रीराघवेन्द्र मेरे सर्वस्व, वे यज्ञ दीक्षित होने जा रहे हैं, यह समाचार पाते ही मैं दौड़ जाता ; किन्तु प्रत्येक यज्ञमें उन्होंने प्रथम स्मरण किया भरद्वाजका। इसे सादर आमन्त्रित किया।

अभी त्रेताको व्यतीत हुए ही कितने दिन बीते हैं। मुझे तो लगता है कि अयोध्याके सिंहासनपर मेरे वही कोदण्डधारी सीतानाथ विराजमान हैं। उन्होंने इस बार यज्ञ-दीक्षा ग्रहण करनेमें कुछ अधिक अन्तराल डाल लिया है। असंख्य यज्ञ कर लिये उन्होंने। अब थोड़ा समय प्रजा-रक्षणको भी देना चाहिये। वे श्रुतिके परम परित्राता मर्यादापुरुषोत्तम—मैं उनके द्वारा रक्षित, पालित, मैं उनका स्वभाव नहीं जानूँगा ? वे यज्ञदीक्षा लेने ही वाले होंगे। मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ, उनका आमन्त्रण आता ही होगा।

'मर्यादा पुरुषोत्तम स्वधाम पधारे।' यह समाचार मिला था। मैं खुलकर हँसा था सुनकर। वे लीलामय हैं। लोकके अविद्या-मोहित जनोंको भ्रममें डालनेकी अच्छी लीला की उन्होंने ; किन्तु अयोध्या उनका नित्यधाम, अयोध्यासे वे कभी अनुपस्थित होते हैं ? अपने वन-गमन जैसी ही कोई लीला की उन्होंने तो अद्भुत क्या हो गया ?

'इस द्वापरान्तमें वे धरापर फिर पधारे हैं।' मुझे यह सुनकर भी हँसी आती है। अयोध्या धराका भाग है ? वे मथुरा आवें या द्वारिका, क्या अन्तर पड़ता है ? मुझसे ही पूछकर तो वे मेरे आश्रम से चित्रकूट गये थे। कुछ वर्ष पञ्चवटी भी रहे थे और घूमघामकर अयोध्या लौट आये थे। अब वे द्वारिका हैं तो हुआ क्या ?

'वे इस बार मयूरमुकुटी बनकर आये हैं।' मैं यह सुनता हूँ तो अच्छा लगता है। मैंने उन्हें वल्कल-वसन, जटामुकुटी देखा है। मैंने उन्हें राजराजेश्वरके सिंहासनपर देखा है। अब इस ग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें उन्हें मयूरमुकुटी देखूँगा। वे तो मेरे सर्वस्व हैं। इस वेशमें मिलेंगे मुझे वे।



भगवान बादरायण—

वासुदेवका यशोगायक है यह कृष्ण द्वैपायन। वेदोंका यज्ञोपयोगी विभाजन मैंने तो नहीं किया। यज्ञमें ऋत्विक ऋग्वेदका, होता यजुर्वेदका, उद्गाता सामवेदका, अध्वर्यु अथर्ववेदका उपयोग करते ही थे। मैंने केवल उनके उपयोगमें आने वाले मन्त्रोंको पृथक लिपिबद्ध करा दिया। कलिमें इतनी मेधा एवं धारणाशक्ति तो मानवोंमें नहीं रहेगी कि वे सम्पूर्ण संहिता स्मरण रख सकें।

स्त्री, शूद्र, व्रात्य, वर्णवहिष्कृतोंका अधिकार श्रुतिमें नहीं है। इसमें उनका ही हित है। श्रुतिका उच्चारण सम्यक् न हो तो वह पाठकर्ताका ही विनाशक हो सकता है और स्त्रीकण्ठसे प्लुतका उच्चारण सम्भव नहीं। अन्य अनधिकारी भी बहुत दीर्घकालीन अभ्यासके बिना शुद्धोच्चारण कर नहीं सकते। इतना दीर्घकालीन अभ्यासावसर उनकी जीवन पद्धति उन्हें नहीं देती।

मानव जीवनका उद्देश्य ही है मोक्षप्राप्ति। इससे उसे वञ्चित नहीं किया जा सकता। जिनका श्रुतिमें अनधिकार है, उन्हें मोक्षमार्गका ज्ञान सुलभ होना चाहिये। धर्म, अर्थ, कामके भी शास्त्रीयमार्गका उन्हें ज्ञान मिलना चाहिये। सम्यक् ज्ञानका साधन उन्हें प्राप्त न हो तो वे उन्मार्गवर्ती होंगे ही। भगवान गणेशने कृपा की और मैंने श्रुतियोंका सम्पूर्ण तात्पर्य सर्वसामान्यके लिए सरल बनाकर सुलभ किया। नानाख्यानेतिहासकी सहायतासे महाभारतको सुबोध बना दिया। श्रुतिका सम्यक् तात्पर्य बोधक होनेसे मेरा महाभारत मुनिगणोंमें भी पञ्चमवेद कहकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका।

पुराणोंका पुनरुद्धार आवश्यक था। सृष्टिकर्ताने ही साधन निष्ठाको लक्ष्य करके पुराणोंको व्यक्त किया था ; किन्तु अत्यन्त दीर्घकालमें उनका प्रायः लोप हो गया था। रुचिभेदसे साधन भेद होगा ही। साधकोंमें जो सगुणोपासक हैं, उनमें रुचिके अनुसार आराध्य स्वरूपोंमें भेद होगा। उनको अवलम्ब ग्रन्थ उपलब्ध होना चाहिए जो उनकी निष्ठाको पुष्ट करे। उनको अपने अवलम्ब ग्रन्थमें ही सृष्टि प्रक्रिया, सर्ग-विसर्ग, मन्वन्तरादिका वर्णन मिलना चाहिए और वह उनकी निष्ठाके अनुरूप होना चाहिए। कल्पभेदकी सृष्टिका वर्णन इसे मूर्त करता ही है। अतः मैंने महापुराण, पुराण, उपपुराण, औपपुराणोंकी रचना की। प्रत्येक अष्टादश एवं अपने आपमें परिपूर्ण।

महापुराण सत्रह निर्मित हुए थे। मध्य-मध्यमें पुराण, उपपुराणादि बनते गये। सब हुआ किन्तु मेरे चित्तको सन्तोष नहीं हो रहा था। मैं समझ ही नहीं पाता था कि क्या अवशिष्ट रहता है, जिससे चित्त सन्तुष्ट नहीं होता। सृष्टिमें जो कारक पुरुष जिस उद्देश्यको लेकर आया है उसे परिपूर्ण किये बिना उसे परितोष प्राप्त नहीं हो सकता, यह मैं जानता था ; किन्तु समझ नहीं पाता था कि महाभारत द्वारा श्रुतिका तात्पर्य सुलभ करके, सभी साधनोंको अवलम्ब पुराण देकर, ब्रह्मसूत्र द्वारा श्रुति तात्पर्य स्पष्ट करके भी क्या अवशिष्ट रह गया है।

देवर्षि नारदने दया की। उन्होंने दृष्टि दी। मैं तो परात्पर पूर्ण पुरुष वासुदेवका निसर्ग सृष्ट गुणगायक हूं। जीवोंका परमोद्धारक उन पुरुषोत्तमके चारु चरणोंका चिन्तन ही है। मैं धर्म, अर्थ, कामके श्रुति सम्मत साधन-विवरणमें व्यस्त बना था। मोक्षके भी विविध साधनोंको अवलम्ब देनेमें लगा था ; किन्तु जो सर्वसुगम है, जिसका वर्णन ही मेरे आविर्भावका प्रधान लक्ष्य है, उसे भी मैंने अन्य वर्णोंकी भाँति ही अनपाया था। वह मेरी कृतियोंके अम्बारमें लगभग तिरोहित हो रहा था। उसे प्रधानता दिये बिना मेरा अन्तर परितोष कैसे प्राप्त करता ?

मैंने श्रीमद्भागवतकी रचना की और लगा कि मेरा जीवन कृतकृत्य हो गया। मेरे हृदयको पूर्ण परितोष प्राप्त हुआ। मैंने अपने शरीर धारणकी कृतार्थताका अनुभव किया। परम कृतार्थ हो गया मैं अपनी इस श्रेष्ठतम कृतिका अध्यापन अपने जन्मजात वीतराग परमहंस शिरोमणि पुत्र शुकदेवको कराके।

मैं वासुदेवका निसर्ग सृष्ट यशोगायक—वे मयूरमुकुटी मेरे हृदयधन हैं, मेरे सर्वस्व हैं। उनका दर्शन कुछ मास भी न हो तो लगता है कि मेरा जीवन शून्य हुआ जा रहा है। मैं समझ नहीं पाता हूं कि यह कृष्णद्वैपायन उनके बिना रह कैसे सकेगा ? इसे तो उन्होंने आगामी मन्वन्तरमें भी सप्तर्षि होकर रहनेका दायित्व दिया है। वे सर्वसमर्थ लीलामय—आज भी तो मैं व्याकुल होता हूं तो हृदयमें प्रकट हो जाते हैं। वे इतनी ममता न करें, मैं द्वारिकासे दो दिन भी दूर रह सकता ?

द्वारिका रह नहीं पाता। वे लीलामय बहुत अधिक सम्मान करते हैं। मेरे सत्कारमें ही वे व्यस्त हो जाते हैं और लोकालयकी मर्यादानुसार वह सत्कार स्वीकार करना पड़ता है। इससे उनसे दूर इस नर-नारायणाश्रममें ही रहना अच्छा ; किन्तु कई महीने हो गये उनका प्रत्यक्ष दर्शन किये। जैसे कई कल्प बीत गये। अब यह ग्रहणपर्व उनके दर्शनका अच्छा अवसर है। कुरुक्षेत्रमें वे कमल-लोचन मिलेंगे।



महर्षि असित–

अध्यात्म-पथके जितने साधन हैं, उनमें सबसे ध्यान ही प्रमुख है। सबको ध्यानकी ही शरण लेनी है। मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। गुणोंमें—सात्विक, राजस, तामस वृत्तियोंमें आसक्त मन बन्धनका कारण है। प्राणियोंमें, पदार्थोंमें, क्रियामें, भोगोंमें राग-द्वेष ही बन्धन है। यही मन राग-द्वेष रहित होकर अपने स्वरूपमें स्थित होजाय, इसका नाम मोक्ष। इस मोक्षका साधन ध्यान।

ध्यानकी जितनी वीथियाँ हैं, उनके पथिकोंका आचार्य है असित। धर्मका निर्देष्टा है यह। लेकिन असित भी असमर्थ है इस मयूरमुकुटी गोपीकुमार वनमाली वासुदेव से। ब्रजमें यह नवनीत चोर था, गोपी वस्त्रापहारी था, अब वासुदेव द्वारिकाधीश होकर भी इसका स्वभाव गया नहीं। कोई अपना स्वभाव सहज नहीं छोड़ पाता। असितका शिष्य होगया होता, मेरे द्वारा निर्दिष्ट ध्यानका अभ्यास करता तो कदाचित अपने स्वभाव पर कुछ नियन्त्रण कर सकता; किन्तु इसने तो असितको ही अपना आखेट बना लिया है। बचपनमें नवनीत-दधिकी चोरी करता था, बड़ा होकर चित्त चुराने लगा।

यह तस्कर शिरोमणि अव्यवस्थित दुर्बल जनोंकी ओर दृष्टि ही नहीं डालता। यह तो दुर्गम दुर्ग विजयका व्यसनी है। अतिशय दृढ़, परम परिशुद्ध अविचल चित्त इसके दीर्घदृग सहज देख लेते हैं और उनका अपहरण इसकी क्रीड़ा है।

असित आचार्य है ध्यान योगका। अपने आश्रितोंको, अन्तेवासियोंको निर्विकल्प समाधि सुगम-सुलभकर देता था। चित्त चञ्चल भी होता है, यह मैं जानता ही नहीं था। निष्कम्प, सर्वथा निरवलम्ब, आभासहीन, अपने अधिष्ठान से अभिन्न ऐसी अनिर्वचनीय स्थिति जो वाणीका विषय नहीं—असितके लिए यह स्वाभाविक स्थिति। व्यवहार ही विक्षेप लगता है, विपत्ति लगती है और अब भी इससे भिन्न स्थिति नहीं है; किन्तु मैं इस वासुदेवका क्या करूँ? इसने कब मेरा चित्त चुपके चुरा लिया, मुझे भी इसका पता नहीं।

अब निरवलम्ब ध्यान कल्पनाका विषय हो गया। अद्वय, निरञ्जन आत्मतत्त्वकी केवल मुखसे बात कर सकता हूँ। बहुत विषम स्थिति हो गयी है मेरी। व्यवहार अत्यन्त अप्रिय है। जनपद जैसे काटखाने दौड़ते लगते हैं। ससारकी ओर, शरीरकी ओर दृष्टि डालनेकी रुचि नहीं और एकान्तमें बैठने नहीं देता यह पीताम्बरधारी

पद्मपलाश लोचन। नेत्र बन्द करूँ या खुले रखूँ ; यह कौस्तुभकण्ठ जैसे सम्मुख ही सस्मित खड़ा हो जाता है।

असित जैसा ध्यान योगियोंका परमाचार्य और इसे उन्माद हो गया है। चाहे जब दौड़ पड़ता है, अट्टहास करता है, नाचने लगता है अथवा फूट-फूटकर रुदन करता है, यह अच्छी बात है ? एक ऋषिको यह सब शोभा देता है ? अपनी अवस्था मैं समझता नहीं हूँ, ऐसी बात नहीं है ; किन्तु मेरा चित्त मेरे वशमें, मेरे पास नहीं है। मैं विवश बन गया हूँ।

यह वनमाली दृष्टिके सम्मुख दीखता तो है ; किन्तु स्थिर कहाँ रहता है। यह चपल कभी मन्द स्मितके साथ निकट आता है, कभी दूर भाग जाता है। कभी नृत्य करता है, कभी गाता है कुछ और कभी इसकी वंशी—यह जब सम्मुख आता है, अपने शरीरका स्मरण कैसे रखा जा सकता है ? मुझे तो वैसे भी शरीरकी स्मृति रखनेका अभ्यास नहीं।

मैंने महर्षि बादरायणसे कह देखा। अपने उन्मादका उपाय पूछा उनसे। वे वेदोंके व्यासकर्ता, ब्रह्मसूत्रके निर्माता, इस वासुदेवके अतिशय प्रिय, उनसे ही कुछ आशा थी ; किन्तु वे तो सुनते ही उलटे मेरा आलिंगन करके स्वयं रुदन करने लगे। उनका रोम-रोम उत्थित हो उठा। उनके अङ्गका वह कम्प, उनके लिए बोलना ही सम्भव नहीं रह गया। मैं समझ गया कि मेरे इन सखाकी स्थिति भी मुझसे अच्छी नहीं है। व्रजके इन्दीवर सुन्दर चोरने इनका भी चित्त इनके समीप छोड़ा नहीं है।

इस बार अच्छी प्रकार सुनाऊँगा इसे। मुझे क्या भय या संकोच। कुरुक्षेत्रके महापर्व पर यह आ रहा है। महर्षियों और नरपतियोंके मध्य ही इसे भलीभाँति डाँट सकता हूँ। मेरा कोई भी क्या बिगाड़ लेगा ? अब असितके समीप बिगाड़नेको बचा भी क्या है ? लेकिन वासुदेव सम्मुख होगा तो मैं उसे डाँट सकूँगा ? मैं परोक्षमें, इस समय भी जब वह प्रत्यक्षसा लगता है, अपनेको विस्मृत कर बैठता हूँ, वहाँ मुझे डाँटनेका स्मरण रहेगा ?

यह असम्भव स्थिति है। चित्त उसने चुरा लिया तो उस पर रोष आवेगा कहाँ ? किन्तु कुरुक्षेत्र चलना तो है। वहाँ चित चोर मिलेगा। वह अपना सर्वस्व मिलेगा।



महर्षि मेधातिथि–

वेदव्यास महर्षि बादरायणके शिष्य जैमिनी मुझे परमप्रिय हैं । इसलिए प्रिय हैं कि वे पूर्वमीमांसाके कर्ता कर्ममें विश्वास करते हैं । श्रौत-स्मार्त कर्म करो, क्रियाशील रहो, सतत क्रियाशील रहो, यह उनका उद्घोष है ।

चौरासी लक्ष योनियोंमें एक ही तो कर्म योनि है और उस मनुकी सन्तानको भी कर्मत्यागकी बात सिखलायी जाय, यह महर्षि बादरायणकी बात मुझे प्रिय नहीं है । मनुष्यको कर्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त हुआ है तो उसे इसका सम्पूर्ण उपयोग करना चाहिए । वह कर्मत्याग करके सृष्टिकर्ताके उद्देश्यके प्रतिकूल आचरण नहीं करता ?

निष्कामत्वकी बात भी मुझे अटपटी लगती है । कामना निसर्ग प्राप्त नहीं है ? तब उसके त्यागकी बात क्यों ? अवश्य उस पर अंकुश आवश्यक है । अंकुश तो हमें अपने हाथ-पैरकी गति पर भी रखना पड़ता है । मनुष्यको बुद्धि व्यर्थ तो विधाताने नहीं दी है । बुद्धि रहित चेष्टा, विवेकहीन कर्म तो पशुत्व है ; किन्तु श्रुति-स्मृति सम्मत कामना और उसकी पूर्तिके लिए कर्म करने पर प्रतिबन्धकी बात मुझे प्रिय नहीं । मैं मनुष्यको उद्भिज अथवा पाषाणप्राय बनते देखना नहीं चाहता ।

मानवमें प्रचण्ड उद्योग होना चाहिए । मरणपर्यन्त अथक उद्योग, मेरे मतमें आदर्श मानवका यही स्वरूप है ।

उद्योगशीलताको विना कामना बल कहाँसे मिलेगा ? आप्तकाम विश्राम करेगा या उत्तमशील होगा ? इसलिए मनुष्यमें असन्तोष अभिनन्दित होना चाहिए । असन्तुष्ट उद्योगरत मानवकी प्रबल कामना ही संसारमें सृजन करती है । यह कामना ही तप तथा त्यागका भी प्राण है ।

जैमिनी मुझे प्रिय हैं ; क्योंकि उनके दर्शनमें उद्दीप्त कामनाको एवं उस कामना पूर्तिको अविश्रान्त उद्योगका आह्वान है । मानव अल्पप्राण, अल्पसन्तोषी क्यों हो ? उसे महान उद्योग करना चाहिए । अश्वमेध, वाजपेय, वृहस्पतिसव जैसे महायज्ञ मनुष्य नहीं करेगा तो क्या श्रुतिमें इनका विधान पशुओंके लिए है ?

यज्ञ करो, तप करो ! संसारके अल्प भोगोंसे सन्तुष्ट मत हो । स्वर्ग जाकर अमृत पीनेको आकांक्षा करो और वहाँ से धरा पर लौट कर पुनः शक्ति, कुल, सम्पत्तिके अधिपति होनेकी आशा रखकर उद्योग करो । जैमिनीका यह उद्घोष प्राणवान है ।

सबसे बड़ी कठिनाई वासुदेव हैं। वे किसीको कहीं क्षणभरको मिल जायँ, मिलना तो दूर, उन पीतपटधारीकी कल्पित मूर्ति भी किसीके मनमें आजाय तो कर्मकी परम्परा ही समाप्त हो जाती है। तब वह प्राणी सृष्टिकर्ताके कामका ही नहीं रह जाता। जिसमें कामना नहीं, जो कामना प्रेरित उद्योगमें लगना नहीं चाहता, वह गिरिगुहामें समाधि लगावे या अपनी हृदयगुहामें निरञ्जन निर्विकारसे एक हो बैठे, उसे लेकर सृष्टिकर्ता क्या करें? उसे तो संसारके व्यवहारमें अपंग, अनुपयोगी प्राणियोंके समान मुक्त करना ही पड़ता है।

मैं सृष्टिकर्ताका सन्देह वाहक हूँ। आश्वस्त था कि ये गिरिगह्वरमें बैठने वाले पतञ्जलिके अनुयायी अत्यल्प होते हैं। उससे भी अल्प हो पाते हैं श्रवण-मननकी व्यर्थ सनकमें पड़े अपने आपमें ही बन्दी, अन्तर्मुख कहे जाने वाले अविचल—शून्यप्राय चित्त वाले लोग। इनके द्वारा सृष्टिमें कोई बड़ा व्यतिक्रम उपस्थित होनेकी आशंका नहीं है।

बड़ा व्यतिक्रम उपस्थित करते हैं वासुदेव। पता नहीं पद्मसम्भवने इन्हें अपनी सृष्टिमें आनेका आह्वान क्यों किया। ये आये तो अब इनका भुवन मोहन रूप, इनके अचिन्त्य प्रभाव नामको हटा लेना सृष्टिकर्ताकी भी सामर्थ्यमें है? ये तो कामना त्यागका अपने प्रेमकी संक्रामक व्याधिका ही प्रसार करने लगे हैं। इनकी झाँकी मिल जाय, इनका नाम श्रवणमें पड़ जाय, कोई मूर्ख ही प्राणी होगा कि फिर स्वर्गकी कामना करे। उसमें उद्योग भी जागेगा तो इन्हींको सन्तुष्ट करनेका और तब वह संसारमें आवेगा?

मैं दूसरोंकी बात क्यों कहूँ, स्वयं कर्मका प्रेरक-मेधातिथि कर्म कहाँ कर पाता है। कुछ करो भी तो वाणी बिना प्रयत्न कह देती है—'वासुदेवार्पणमस्तु'।

कोई यज्ञ अब विधि सम्मत नहीं हो पाता। मन्त्र कोई बोलो, मन्त्र देवताका ध्यान भी केवल जिह्वा बोलती है। यह मयूरमुकुटी चित्तमें आधमकता है ध्यानका प्रयत्न करते ही और यह कामतात आता है तो काम कैसे आवे? कामना कहीं अन्वेषण करने पर भी दीखती नहीं। यह अवस्था मेरी है तो औरों की? वासुदेव करना क्या चाहते हैं, उन्हींसे पूछना है। वे मुझे कुरुक्षेत्रमें मिलेंगे।

———

पञ्चम खण्ड

[देवगण]

मंगलमूर्ति गणेश—

विघ्नेश्वर होनेसे मैं देवताओंमें प्रथम पूज्य हूँ। विघ्नोंके अधिदेवताकी कृपा किसे नहीं चाहिए। कार्यका निर्विघ्न सम्पन्न होना अथवा उसका विघ्न-बाधित होजाना दोनों मुझ पर निर्भर हैं।

मैं अत्यन्त असहनशील हूँ, यह मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे किञ्चित् भी अपनी उपेक्षा सह्य नहीं है। प्रमादसे कोई मेरी प्रथम पूजा किये बिना कार्यारम्भ करे तो भी वह मुझे सहन नहीं होती। जानबूझ कर कोई मेरी उपेक्षा करेगा तो मैं उसे कैसे सह लूँगा।

समुद्र-मन्थनके प्रारम्भमें सुर-असुर दोनों एकत्र थे। स्वयं श्रीहरि अनुकूल थे उनके। उन लोगोंने मेरी उपेक्षाकी। जानता हूँ कि जानबूझकर नहीं की। उत्साहातिरेकमें सब मुझे भूल गये थे ; किन्तु उसका फल उन्हें भोगना पड़ा। मन्दराचलने मार्गमें ही उनमेंसे अनेकको कुचलकर मार डाला। महोदधिमें उसे डाला गया तो डूब ही गया वह। सुर-असुर दोनों मेरी उपेक्षा करके व्यर्थ मनोरथ हो गये होते ; किन्तु श्रीहरि शीघ्र सावधान हो गये। उन्होंने मन्दराचलसे कुचलकर मरे देव-दैत्योंको जीवित कर दिया था। मन्दरके डूब जाने पर उन्होंने मेरी अर्चा करादी। इतने पर भी देव-दैत्य तो विफल मनोरथ मैंने कर ही दिये थे। हरिको ही कच्छप बनकर मन्दरको पीठ पर धारण करना पड़ा। अमृत-मन्थन भी उनके ही श्रमसे सफल हुआ।

हरिके सम्मुख मैं हतप्रभ हो जाता हूँ, यह मुझे स्वीकार है। उन कौस्तुभ कण्ठका जब कोई स्मरण करता हूँ, मेरे विघ्न उस तक पहुँच ही नहीं पाते। इसलिए मैं मानता हूँ कि मंगलायतन तो वे रमाकान्त ही हैं। मैं तो विघ्नेश होनेके कारण मंगल-मूर्ति कहा जाता हूँ।

क्षीरोदधिशायीके सम्मुख ही मैं हतप्रभ हो जाता हूँ तब ये जो आजकल द्वारिकामें परमपुरुष वासुदेव विराजमान हैं, उनकी स्पर्धा मैं किस साहस पर करूँगा ?

गणेश विघ्नेश्वर कैसे बनता यदि यह बुद्धिका भी अधिपति न होता। सृष्टिके सबसे उपद्रवी-तत्त्व विघ्नोंके देवताओंको निमन्त्रणमें कोई अपनी शक्तिसे रख सकता है ? विघ्नेश्वर बुद्धि-विधायक है। इसी बुद्धिके कारण यह जानता है कि श्रीकृष्ण सर्वेश्वरेश्वर हैं। सुर-असुर सबका परमहित उनका स्मरण करनेमें है। समस्त शक्तिके स्रोत वासुदेव हैं। उनसे पृथक होकर तो कोई भी कुछ नहीं रह जाता।

शक्र सहस्राक्ष होने पर भी अज्ञ है। वह अपने सुराधिप होनेके गर्वमें अनेक बार मूर्खता करता है। बार-बार अपनी अज्ञताके कारण अपमानित होने पर भी उसे पुनः वैसी भूल करते देर नहीं लगती। अत: उसने व्रजमें उत्पात किया, प्रलय-वृष्टि करके व्रजको नष्ट करना चाहा या पारिजात-हरणके समय वासुदेवसे युद्ध करने दौड़ पड़ा, यह आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी सानुकूलता न हो तभी शक्तिका स्रोत सूख जाता है, उन वनमालीके विरुद्ध जाकर तो विफल होना सदा सुनिश्चित है ही।

मुझे आश्चर्य हुआ था जब विश्वस्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माजी व्रजमें बछड़े और गोप कुमारोंका अपहरण करके नन्दनन्दनकी शक्ति देखनेका साहस करने लगे। उन्हें तो पता होना ही चाहिए था कि गणेशने अपने गणोंको यह आदेश सदाके लिए दे रखा है कि जो पद्मपलाश लोचन वनमालीके विरुद्ध जाय, जिसके मनमें उनकी उपेक्षा स्थान पा सके, उसके विपरीत कोई भी उत्पात करनेको मेरे सब गण स्वतन्त्र हैं।

सृष्टिकर्ताको उनके अपने लोकके द्वारपाल द्वारा अपमानित होना पड़ा और यह सेवा भी गणेशको नहीं मिली। देवी योगमायाने यह कर लिया।* वे प्रमाद नहीं करतीं; किन्तु अवसर मिलता तो गणपतिके गण पद्मसम्भवको उससे अधिक कठोर ही दण्ड देते।

वासुदेव मेरी आत्मा हैं। वासुदेव मुझे अतिशय प्रिय हैं। वासुदेव मेरे सर्वस्व हैं। मैं अनर्चित भी उसके सानुकूल रहता हूँ जो उन मयूर मुकुटीका स्मरण कर लेता है। उन्हें जो अपना बना लेता है, उसकी ओर देखनेका साहस मेरा कोई गण स्वप्नमें भी नहीं करेगा।

मुझे अतिशय संकोच होता है जब वे वनमाली भी कर्मारम्भमें मेरी अर्चाका उपक्रम करते हैं। मैं उनकी इस अर्चासे बचने ही तो द्वारिका नहीं जापाता; किन्तु कुरुक्षेत्र जाऊँगा। इस रूपमें जाकर तो उन्हें संकोचमें नहीं डाल सकता; किन्तु कोई श्वेत महागज उस तीर्थमें महापर्व पर निकले श्रीकृष्णके कंठमें अपनी सूंड़से माल्यार्पण करे तो? यही ठीक है, वे वासुदेव पहिचान कर हँस पड़ेंगे; किन्तु मिलेंगे इस प्रकार अत्यन्त समीप।



---

* यह कथा 'नन्दनन्दन' में गयी है।

भगवान शिव–

अपने वेशमें बहुत अधिक परिवर्तन अनावश्यक है। दिनमें जटाओंके मध्य चन्द्रलेखा स्वतः अलक्ष्य प्राय रहेगी। सुरसरिको जटाओंमें तिरोहित रहना चाहिए। मेरा तृतीय नेत्र भस्म-त्रिपुण्डमें स्वतः छिप जाता है। केवल कण्ठके नागको सचेत करना होगा कि वह इतना ढीला न बने कि कण्ठकी नीलिमा दृष्टि पड़ने लगे। व्याघ्राम्बर, डमरूकर, धूर्जिटके साथ वृषभ रहे तो भी कुरुक्षेत्रके ग्रहण स्नानार्थ आये अपार जनसमूहको कोई कुतूहल नहीं होना है। वहाँ बहुत अधिक अवधूत, जटाधारी, विचित्र वेश योगी, कापालिक आवेंगे।

वासुदेवकी दृष्टिको भ्रान्त नहीं किया जा सकता। मैं कोई भी वेश-परिवर्तन करलूँ, श्रीकृष्णके सम्मुख जाऊँ और वे पहिचान न लें, यह सम्भव नहीं है। पहिचान तो उन्होंने मुझे गोपी वेश तक में लिया, जब मैं रासके समय गया था।※ अतः उनसे छिपे रहना है, ऐसा कोई वेश-परिवर्तन सम्भव नहीं। दूसरे तो सब माया-मोहित जीव हैं जो अविद्यान्धकारमें भटक रहे हैं और अपनेको ही नहीं पहिचानते, उनके सम्मुख शिव चला भी जाय तो इसे वे कैसे पहिचानेंगे ?

श्रीकृष्ण मिलेंगे। पहिचानकर ही मिलेंगे वे वनमाली; किन्तु वे तो मेरे हृदय हैं, मेरी आत्मा हैं। उन हृषीकेशको कहाँ अज्ञात रहता है कि किसके हृदयका भाव कैसा है। वे परम विनोदी प्रसन्न होंगे मेरे इस किञ्चित् वेश परिवर्तन से। मुझे संकोच भी नहीं होगा और वे यथेच्छ सत्कार भी कर सकेंगे। उन लीलामयके विनोदका मैं आनन्द ले सकूँगा।

'योगीश्वर पधारें ! अहोभाग्य यादवोंका कि इनके शिविरमें सिद्धोंके परमगुरुके पादारविन्द पड़े।' वे हँसते-हँसते सत्कार करेंगे, पूजन करेंगे और अपने पुत्र, पौत्रोंको ही नहीं, माता-पिता-को, महारानियोंको, समस्त परिकरोंको पुकार लेंगे। निश्चय व्रजके लोगोंको और पाण्डवोंको भी बुला लेंगे। जिन पर भी उनका स्नेह है, उनकी ममता है, अवश्य सबको पुकार लेंगे और आनन्द विह्वल सबसे बार-बार कहेंगे—'जन्म-जन्मके पुण्योदय हों तो इन योगिराजके श्रीचरणोंका दर्शन सुलभ होता है।'

'परिचय मत पूछो।' परमविनोदी वासुदेव पुलकपूरित श्रीअङ्ग कुछ ऐसा ही कहेंगे—'इनका परिचय देनेमें मेरी वाणी समर्थ नहीं। ऐसा कुछ नहीं जो इनके

※ 'नन्दनन्दन' में यह कथा आयी है।

सम्बन्धमें न कहा जा सके और ठीक-ठीक तो कुछ कहा नहीं जा सकता। ये अतर्क्य, प्रभाव, अचिन्त्य स्वरूप, अकारण कृपालु पधारे, यही अपना अहोभाग्य।'

वासुदेवकी वाणी का—उस सुधास्निग्ध वाणीका रसास्वाद लेता, मैं उनकी, उनके स्वजनोंकी अर्चा ग्रहण कर लूँगा। उनके वर्णनको कह सकूँगा—'तुम मेरा वर्णन कर रहे हो या अपना ?'

'श्रीचरणोंका।' वे ऐसा ही कुछ कहेंगे—'मैं तो इन चारुचरणोंका विनम्र सेवक हूं। आपका स्नेहभाजन होकर अपनेको धन्य मानता हूं।'

श्रीकृष्ण ही समर्थ हैं इसमें कि वे सब कुछ कहकर भी कोई परिचय नहीं देते। सृष्टिमें सबसे प्रत्यक्ष वही हैं। सर्वरूपोंमें वही सर्वमय सम्मुख हैं; किन्तु उन्हें कोई पहिचान पाता है ? जो परिचय वे प्रकट न करना चाहें, उसका चाहे जितना विषद-वर्णन करें, कोई उनकी इच्छाके बिना कैसे उसका यथार्थ समझ सकता है।

मैं द्वारिकाके शिविरमें अनेकोंसे अपनेको छिपा नहीं सकता। कितना भी वेश-परिवर्तन करलूँ, वहाँ ऐसे अनेक हैं जो दृष्टि पड़ते ही पहिचान लेंगे। श्रीकीर्तिकुमारी, श्रीसंकर्षणको कोई संकल्पज सम्पूण परिवर्तन भी भ्रान्त नहीं कर सकता। शङ्कर सामन्य भिक्षुक ब्राह्मण होकर भी जाय तो भी प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध, देवी रुक्मिणी ठगी तो नहीं जा सकतीं। लेकिन ये सब शीलसिन्धु हैं। कोई भी स्पष्ट परिचय देकर मुझे संकुचित नहीं करेगा। सब सस्मित अपने अधीश्वर मयूरमुकुटीका अनुगमन करेंगे। सब अटपटा परिचय देते रहेंगे स्वजनोंको और स्वयं उल्लास पूर्वक इस अवधूत की अर्चा करेंगे।

वेश-परिवर्तन तो मुझे सामान्यजनोंके लिए करना है। इसलिए भी वेश-परिवर्तन करना है, सामान्य परिवर्तन करना है कि वासुदेवको विनोदका अवसर मिले। मैं बेधड़क उन्हें, उनकी महिषियोंको आशीर्वाद देसकूँ उनकी पीठ पर अपने कक्षका मृगचर्म पटककर।

पुरुषोत्तम वासुदेवको आशीर्वाद—अटपटे आशीर्वाद दे आऊँगा। उनके योग्य उचित आशीर्वाद तो कोई है नहीं और उनको आशीर्वादका अर्थ अपने आपको ही आशीर्वाद देना तो है; किन्तु मैं उन्हें आशीर्वाद दे सकता हूं—'तुम्हें असत्यको भी सत्य कह देनेमें, कर देनेमें कभी कोई कठिनाई न हो।'

वे लीलामय हँसेंगे, प्रसन्न होंगे मेरी अर्चा करनेमें। अपने समस्त स्वजनोंके साथ आनन्द प्राप्त करेंगे मुझसे मिलकर। मैं मिलूँगा—कुरुक्षेत्रमें उनसे इसी प्रकार मिलूँगा।

भगवती पार्वती---

वासुदेव द्वारिकामें हों अथवा अन्यत्र, जब उनकी महारानियाँ उनके समीप हों तो वहाँ उनकी सेवामें उपस्थित होनेमें किसी पर्वत-कन्याको क्या संकोच अथवा कठिनाई है कि मैं अपने नीलकण्ठ प्रभुके साथ जानेका आग्रह करूँ। वे एकाकी जाना चाहते हैं तो गिरिजा भी अपने ढंगसे जायगी।

श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें पहुँचनेके लिए किसी पतिव्रताको पूर्व परिचयकी तो आवश्यकता नहीं है। वासुदेवकी रानियोंमें जैसे नारीमात्रके लिए अपार आत्मीयता है। वे किसीका नाम भी पूछ लें तो वह परम भाग्यवती होगी। अन्यथा वे तो मिलते ही ऐसा व्यवहार करती हैं जैसे उनकी कोई जन्मसखी कुछ क्षणोंके उपरान्त उनके-समीप पहुँची हो। अपरिचयका अज्ञानान्धकार उनके अन्तःकरणको स्पर्श ही नहीं करता। निखिल सृष्टि उनकी ही अंशोद्भवा है। अपनी सन्तानोंसे उनका अपरिचय कैसा? वे किसीका परिचय क्यों पूछें?

मुझे वह क्षण कभी विस्मृत नहीं हो सकता जब मैं द्वारिका महारानी रुक्मिणीके स्वर्ण सौधमें प्रथमबार पहुँची थी। वे एकाकिनी बैठी थीं अपने कक्षमें और कुछ गम्भीर थीं। किसी चिन्तनमें लगी थीं। मेरे पहुँचते ही चौंकी–'आप........?'

वे गम्भीर न होतीं, चौंकती नहीं तो इस प्रकार निश्चय नहीं पूछतीं। मुझे उनकी दृष्टि देखकर लगा कि मै पहिचान ली गयी। अब महारानी आसन देकर मेरी अर्चा करने उठेंगी। मैंने उन्हें आगे एक शब्द कहनेका अवसर दिये बिना कहा—'यदि स्वामिनी सेविकाके साथ इस प्रकार व्यवहार करेंगी तो यह हठ करेगी कि इसे केशालङ्करणकी सेवा नहीं करनी। अबसे यह स्वामिनीके चरणोंमें अलक्तक लगाया करेगी।'

'सखि! तुम भी नटखट बन सकती हो?' महारानीके मुख पर मञ्जु हास्य खिल उठा। मैं उनके चरणोंकी ओर झुकी थी। उन्होंने खींचकर हृदयसे लगा लिया। उनकी वह हास्य छटा—जैसे सहस्र-सहस्र पूर्ण शशिकी ज्योत्स्नासे कक्ष उज्ज्वल हो गया हो और उस हास्यकी मधुर ध्वनि, इतना मधुर शब्द भी सम्भव है, यह मैंने भी नहीं जाना था।

मैं पहिचान ली गयी थी। वासुदेवकी पट्टमहिषीको कोई भ्रम नहीं हो सकता। मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी उन्हें भ्रान्त नहीं कर सकती, यह मैं समझ गयी; किन्तु वे दयामयी मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहती थीं। उन्होंने अंकसे मुझे लगाये

ही सहास्य कहा—'तुम अर्चा स्वीकार नहीं करोगी तो केशालङ्करण ही करो। कम से कम इस बहाने तुम्हारे कर तो मेरे मस्तक पर पड़ेंगे।'

मैं बोलनेका प्रयत्न करती तो यह सेवाका सौभाग्य भी मेरे हाथसे चला जाता। लेकिन महारानी ने तो उसी दिन अपनी समस्त सपत्नियोंसे मेरी प्रशंसा करके मेरा रहा-सहा संकोच भी दूर कर दिया। उन्होंने सब रानियोंको अपने सदनमें ही बुलवा लिया। मैं डर रही थी, कहीं सबकी सब रोली, कण्ठसूत्र लेकर मेरी पूजा न करने लगें। सबने प्रथम दृष्टिमें ही पहिचान लिया। सबने प्रथम मस्तक झुकाया ; किन्तु महारानीने सम्हाल लिया। उन्होंने वैसे ही सहास्य कहा–'इन सम्माननीय सखीसे हम सब परिचित तो हैं ही। पर्वत-पुत्रियाँ केशालंकरण कलामें सर्वश्रेष्ठ होती हैं। ये केशालंकरण तो करेंगी ही, अपनी कला भी सिखलावेंगी हम सबको।'

'महारानी सेविका पर कृपा करें।' मैंने अञ्जलि अवश्य बाँध ली ; किन्तु विनोद-पूर्वक ही कहा—'यह कला ही तो मुझे सेवाका सौभाग्य देती है। इसे देनेमें मैं अत्यन्त कृपण हूँ।'

महारानीने दोनों करोंमें मेरी अञ्जलि पकड़ली—'तुम मेरी सब बहिनोंके सम्मुख मेरी केशसज्जा करदो। ये भी देखें कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ।'

'लेकिन इनमें कोई इतनी कृपा-कृपण नहीं होंगी कि मुझे इस सेवाका अवसर न दें।' मेरी यह बात सहज स्वीकार हो गयी। मैं उसी क्षण श्रीकृष्णकी रानियोंकी केशालंकार करने वाली प्रिय सखि बन गयी। उन सबने मुझे आत्मीया मान लिया।

द्वारिकाके अन्त:पुरमें किसीको मेरे परिचयकी आवश्यकता नहीं। पार्वती, गिरिजा ये नाम तो कोई ऐसे नहीं कि किसीको चौंकायें और कोई पुकारे तो मैं क्यों चौंकने लगी। महारानियोने सखि स्वीकार कर लिया तो दूसरोंसे मुझे प्रयोजन भी क्या है।

कुरुक्षेत्रमें वासुदेव सपरिवार तीर्थ-स्नान करने आरहे हैं। तीर्थमें ग्रहण-स्नान तो महारानियाँ मस्तक आर्द्र करके उन्मुक्तकेशा करेंगी। उसके पश्चात् उन्हें अपनी यह केशसज्जा करने वाली सखि स्मरण नहीं आवेगी ? मैं इस अवसर पर अनुपस्थित रहूँ, उनकी सेवाके सौभाग्यसे वञ्चित हो जाऊँगी।

कुरुक्षेत्र तो मुझे जाना ही है। केश-प्रसाधनकी अपनी कलाको केवल श्रीकृष्णकी महारानियोंकी सेवा करके सार्थक कर सकती हूँ। अन्यत्र तो कहीं कोई है नहीं जो गिरजाको यह अवसर दे। मैं कुरुक्षेत्र अकेली जाऊँगी। अपने ढगसे जाऊँगी। वहाँ वासुदेवकी रानियोंकी केश-सज्जा मिलेगी मुझे।

—×—

भगवती लक्ष्मी—

वृन्दावनमें मुझे प्रच्छन्न ही रहना पड़ा। परात्पर पुरुषकी सेवा मैं प्रकट नहीं कर सकती थी। श्रीकीर्तिकुमारीकी सेविकाओंमें भी सम्मिलित होनेका अधिकार मुझे प्राप्त नहीं हुआ। उन श्रीवृषभानु-नन्दिनीकी पद-वन्दना कर पाती.........इस अभिलाषाको मैं त्याग भी नहीं पाती हूँ।

द्वारिकामें उन वनमाली कमल-लोचनकी चरणसेविका हूँ। मेंरे अनन्त करुणालय स्वामीको इस सेविकाकी अपेक्षा नहीं है। वे नित्य आप्तकाम ; किन्तु इस किंकरीका तो उनके पाद-पद्मोंके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। उनकी अनुकम्पा कि उन्होंने श्रीवत्सके रूपमें इसे अपने वक्ष पर स्थान दिया ; किन्तु सिन्धुजा जानती है कि इसका उचित स्थान उनके श्रीचरणोंके समीप ही है।

उन्होंने मेरी प्रार्थना—मेरे प्राणोंकी कातर प्रार्थना स्वीकार करली। बार-बार वे ऐसी कृपा करते ही हैं। क्या कर लेती मैं यदि वे स्वयं क्षीराब्धि मन्थन करके मुझे प्रकट होनेका अवसर न देते ? भले सब सुर, असुर, योगीन्द्र-मुनीन्द्र, लोकपाल मेरी प्राप्तिको उत्सुक थे, उन्होंने तो मेरी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा था। लेकिन पद्माको उनके पाद-पाद्मोंके अतिरिक्त कहीं स्थान है ? उनके कण्ठमें वरमाला डालकर तो रमा ही सनाथ हुई थी।

यहीं इस द्वापरान्तमें वे रुक्मिणीको बलपूर्वक लेने न गये होते, क्या कर लेती मैं ? उन्होंने तो एक बार कह भी दिया था—'अन्य मनोलग्ना कन्याकी प्राप्तिमें उन्हें कोई उत्साह नहीं।※

श्री उनकी शाश्वत चरण-चर्चिका। यह अन्य मनोलग्ना होकर कहाँ जायगी ? उन दयामयने अपनी इस नित्य आश्रिताको दया करके अपनाया। रुक्मिणी बनकर इसने द्वारिकामें उनके श्रीचरण प्राप्त किये । लेकिन निखिल लोकेश्वर मयूरमुकुटी नन्दनन्दन बनकर ब्रजमें प्रकट हुए और उनकी आह्लादिका, सर्वेश्वरी ब्रजयुवराज्ञीकी पद-धूलि तो प्राप्त नहीं ही हो सकी इस उदधि-सुताको। श्रीराधाकी पद-रेणु— उसकी प्राप्ति-कामना प्रबल है अन्तरमें और कोई मार्ग ब्रजमें उसे पानेका मिलेगा, इसकी आशा कहीं से नहीं।

श्रीब्रजराज सूर्य-ग्रहणके अवसर पर कुरुक्षेत्र आ रहे हैं। श्रीवृषभानु-नन्दिनी सखियोंके साथ आ रही हैं कुरुक्षेत्र। ब्रजमें किसीको ग्रहण-स्नानका पुण्योपार्जन सूझता है ?

※ 'श्रीद्वारिकाधीश' में पूरी कथा है।

वनमाली, मयूरमुकुटी मिल सकेंगे इस अवसर पर, यही लालसा व्रजजनोंको कुरुक्षेत्र लारही है ; किन्तु यह अवसर इन्दिराके लिए भी तो है। यह पुण्य पर्व, यह धर्म क्षेत्र सिन्धुसुताकी भी तो कामना पूर्ण कर दे सकता है।

महारानी रुक्मिणीके रूपमें मुझे श्रीकीर्तिकुमारीका सत्कार करनेका अवसर मिलेगा। मैं उनका आतिथ्य कर सकूँगी। वे मुझे भुजा फैलाकर आलिंगन देगी। लेकिन उनकी पद-रज तो रुक्मिणीको नहीं मिलेगी। वे संकोचमयी अपना चरण-स्पर्श श्रीकृष्णराजमहिषीको करने दें, इसकी तो कोई सम्भावना नहीं है।

सिन्धुसुताको उन महाभावरूपा परमाह्लादिनीकी पद-रज अभीष्ट हैं और उनकी सखियाँ, उनकी महाभागा सेविकाएँ इस पद्माको उनके पादपद्मों तक पहुँचने देंगी नहीं। यह व्रजयुवराज्ञीकी पादस्पर्शाधिकारिणी जो नहीं है।

एक ही उपाय है। यह अधिकारिणी हो या नहीं, अकारण कृपालुने इसे अपना लिया है। द्वारिकामें इसे अपनी चरण-सेविका स्वीकार कर लिया है। इस नाते कुरुक्षेत्रमें रुक्मिणीके शिविरमें आना श्रीवृषभानु-नन्दिनी अस्वीकार नहीं कर सकतीं। वे आवेंगी और सत्कार स्वीकार करेंगी अपने सहजशीलके कारण।

लक्ष्मी अपने ही शिविर में—अपने रुक्मिणी रूपसे भिन्न एक दासी रूपमें भी तो रह सकती है। महारानी रुक्मिणी अपनी दासीको श्रीवृषभानु नन्दिनीके चरणोंमें अलक्तक सज्जाका आदेश करेंगी तो संकोचमयी श्रीराधा इसे अस्वीकार कर सकेंगी ? वहाँ श्रीराधाकी सखियाँ वारित कर सकेंगी सेविकाको ?

जानती हूँ—उन सर्वेश्वरीको धोखा नहीं दिया जा सकता। वे पहिचान तो लेंगी ही कि यह किंकरी भी उनकी ही अंशोद्भवा है ; किन्तु उन संकोचशीलाको मर्यादा तो रखनी ही पड़ेगी। महारानीको वे भले चरण-स्पर्श न करने दें, दासीको तो वारित नहीं किया जा सकता।

श्रीराधाके परम मृदुल अरुण पादपद्म अपने करोंमें लेकर उन्हें अञ्चलसे पोंछ लेनेका, करोंसे स्पर्श करनेका, भली प्रकार समीप देखनेका और अलक्तक सज्जाके लिए देर तक अङ्कमें रखनेका अवसर प्राप्त होगा। अवसर प्राप्त होगा उनके उन चारु चरणोंकी पद-रज पानेका। मैं अपनी अलकोंसे उन चरणोंको पोंछ लूँगी। वे हँसेंगी, उनकी सखियाँ हंसेंगी इसधृष्टता पर ; किन्तु वे श्रीचरण मुझे मिलेंगे तो सही।

—:o:—

भगवती सरस्वती-

वेद वर्णन करते हैं कि वाणीकी सार्थकता वासुदेवके गुणानुवाद गायनमें ही है। वाणीकी अधिदेवता यह सरस्वती न सही, वाणीके वैशिष्ठ्यकी अधिदेवता तो है ही और विश्वस्रष्टाने इसके करोंमें वीणा व्यर्थ तो नहीं दी है। वासुदेवके भुवनपावन परमोज्वल यशकी गायिका यह न बने तो इसका श्वेतवर्ण, श्वेतवस्त्राभरण एवं श्वेतपद्म—यह परिधान शुक्लता केवल बाह्य रहकर दम्भ ही तो हो जायगा। विद्याकी ही सम्यक परिणिति वासुदेवके चरणोंकी प्रीति प्राप्ति है तो विद्याकी अधीश्वरी चरम सार्थकता उन वनमालीके यशोगानमें न माने तो कहाँ मानेगी?

शारदाका शाश्वत वरदान उन गायकों, कवियों, कलाराधककोंको जो श्रीकृष्णके गुण, रूप, लीलाको अपना आश्रम बनाना चाहते हैं। वे तो मुझे भी पावन ही करते हैं। मैं उनकी वाणी, कर एवं प्रतिभाको शक्ति प्रदान करके स्वयं विशुद्ध बनती हूँ। वे मुझे पुरस्कृत करते हैं।

सृष्टिके प्रारम्भसे—अपने उद्भव कालसे शारदा वासुदेवकी गुण-गायिक है और अनन्तकाल तक, अपने जन्म-जन्ममें उन पुरुषोत्तमकी गुण-गायिका ही रहना चाहती है। असंख्य-असंख्य कण्ठों एवं करोंसे विविध रूपोंमें वनमालीका विमल वैभव व्यक्त होता रहे, इसीकी व्यसनी है उनकी यह गायिका। यही इसका जीवन है, यही सदा इसका जीवन बना रहे।

वे हृषीकेश—समस्त शक्तिके मूलस्रोत तो वही हैं। वे जन-जनके हृदयमें आसीन सबको प्रकाश, प्रतिभा, गति, शक्ति और जीवन देरहे हैं। उनके सङ्कल्पकी एक स्फूर्तिमात्र सरस्वती, उनकी सेविका, उनकी गुणगायिका, उनके करोंकी यन्त्र पुत्तलिका। उनकी ऐसी ही तो यन्त्रभूता यह है जैसे इसके लिए अपने करोंकी यह वीणा। वे इसके माध्यमसे अपनी वाणी, अपनी कला निखिल विश्वमें व्यक्त कर रहे हैं। यह व्यक्त समस्त सृष्टि उनका काव्य ही तो है।

वे अनन्त अनन्तशक्ति, अनन्तगुण—उनके गुणोंकी, उनकी महिमाकी, उनके सुयशकी कहीं सीमा है। सरस्वती उनके सुयशका वर्णन कैसे कर सकती है। उदधिके असीम विस्तारका किसी विहंगबालाको पता लगेगा? लेकिन क्या इसीसे वह बेलाके समीर बैठकर सागरकी लघु लहरियोंमें स्नानका सुख त्यागदे? शारदा भी उन अनन्त

गुणोदधिके सुयश वारिका केवल स्पर्श करती है। अपने आनन्दके लिए, अपनेको उज्ज्वल करने, शुद्ध करनेके लिए मैं उनकी यशोगायिका हूँ।

कवियों और कलाकारोंके कण्ठ एवं करोंको माध्यम बनाकर वासुदेवका गुणानुवाद गूंजता रहे, इतनेसे सन्तोष मुझे कैसे हो। मैं अनन्त-अनन्त रूप धारण करके उनका गुण गाऊँ, गाऊँ और नृत्य करूँ, नृत्य करूँ और गाऊँ, गाती रहूँ, नृत्य करती रहूँ सदा, सब समय अनन्तकाल तक ; किन्तु........

जब वे वासुदेव धरापर व्यक्त हो रहे हैं, प्रकट विराजमान हैं पृथ्वी पर वे सर्वेश्वर पुरुषोत्तम, सरस्वतीको सार्थक होनेका इससे उत्तम अवसर कब मिलेगा? यह उनकी गायिका—उनकी यशोगायिका उनके सम्मुख गायेगी, उनके सम्मुख नृत्य करेगी। वे ही देखकर सन्तुष्ट न हों तो किसीकी कलाकी कोई कृतार्थता है?

वे द्वारिकामें होते हैं तो उनकी सुधर्मा सभामें, उनके अन्तःपुरमें मैं संकोचपूर्वक ही जा पाती हूँ। अत्यल्प अवसर मिलता है राजसभामें गायिका या नटीको। महारानियोंकी सेविकाओंके स्वरोंमें भी जो सौष्ठव, मृदुलता है, मैं उसका स्वप्नभी नहीं देख पाती। वहाँ अन्तःपुरमें पहुँचकर मुझे अपनी वीणा सबसे बेसुरी लगती है। मैं वहाँ सीख ही सकती हूँ, सुनानेका साहस नहीं कर पाती कभी।

अब वे कमल-लोचन वासुदेव कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उनकी सब रानियाँ आ रही हैं। अचिन्त्य चिन्मय वपु वासुदेवके परिकरोंकी कला, सुषमा, मार्दवकी छाया ही प्रकृतिको प्राप्त होती है तो यह परमसुन्दर, सुरम्य हो उठती है। वह छाया—सरस्वती उस छायासे अधिक तो कुछ नहीं है ; किन्तु इस ग्रहण-स्नान-पर्वपर असंख्य कवि, गायक, कलाजीवी अपनी सेवा अर्पित करेंगे उन अखिलेशको। इस समय सरस्वतीको भी सेवाका अवसर मिल सकता है।

मैं द्विभुजा होकर जाऊँगी। दूसरा कोई भी परिवर्तनतो मुझे करना नहीं है। अवश्य ही अपने हंसको मुझे तीर्थ क्षेत्रसे बाहर छोड़ना है। वैसे भी तीर्थमें वाहनारूढ़ होकर जाना देवताके लिए भी उचित नहीं है और वहाँ तो सर्वेश्वरेश्वर स्वयं उपस्थित होंगे। उनके सम्मुख वाहन-सहित जानेकी धृष्टता नहीं की जा सकती।

कितनी भी बेसुरी लगे मेरी वीणा। कैसा भी अटपटा लगे मेरा नृत्य। मैं उनकी ही गुणगायिका, उनकी यन्त्र-पुत्रलिका हूँ, यह समझकर वे मुझे देखेंगे, मुझे मिलेंगे।

—×—

भगवान ब्रह्मा

विधिका निर्माण करना मेरा काम नहीं। विधितो अनादि श्रुति है। मैं केवल उसका अनुवर्तन करता हूँ। ब्रह्मा लोकस्रष्टा है, यह सब मानते समझते हैं; किन्तु तथ्य कुछ और है, यह मुझे ब्रजमें श्रीकृष्णचन्द्रने भली प्रकार समझा दिया। उससे पूर्व मुझेभी भ्रान्ति थी कि सृष्टि मेरी कृति है।

सृष्टिमें मैं न जीव बना सकता, न जीवोंके कर्म। पञ्चभूतोंका निर्माण भी मैं नहीं करता। मैं केवल इन विद्यमान तत्त्वोंसे जीवोंके पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार आकृतियोंका गठन मात्र करता हूँ। इसीका नाम सृष्टि है और जीव, उनके कर्म, प्रकृति तथा प्रकृतिके विकार अनादि हैं, इस अज्ञानमें पड़ा मैं अपनेको लोकस्रष्टा मानता रहा।

मेरा अज्ञान—और अज्ञानान्धकारमें भटकता जीव भूलें करे तो आश्चर्य क्या? मुझसे भूल हुई, उपहासास्पद भयानक भूल हुई। मैं जीवोंके प्रारब्धका विधायक और मैंने ही अपने विधानको देखे बिना उसके सर्वथा विपरीत व्यवहार किया। मेरी बुद्धि—चतुराननकी बुद्धि मारी गयी। श्रीकृष्ण ही ज्ञान स्वरूप हैं। उनके विपरीत जाकर मेरी बुद्धि मारी गयी तो सृष्टिमें दूसरा कोई सावधान रहे सकेगा?

मैं श्रीव्रजराजकुमारकी महिमा देखनेके चक्करमें पड़ गया। मैंने बछड़ोंका, गोपबालकोंका हरण किया, बिना यह देखे जाने हरण किया किया कि उनके, उनके माता-पिता तथा स्वजनोंके प्रारब्धमें स्वजन-वियोग होसके, ऐसा कोई कर्म भी है या नहीं। उनका प्रारब्ध ही नहीं है, यह दृष्टि तो मुझे श्रीनन्दनन्दनकी कृपासे पीछे प्राप्त हुई और जब प्राप्त हुई, मैं काँप गया। जिनकी अभिव्यक्ति एवं क्रीड़ा उनके अधीश्वरकी लीला है, उन चिद्वपु भगवज्जनोंका अपराध मुझसे बन चुका था। अनन्त क्षमासागर श्रीव्रजराजकुमारने मुझे क्षमाकर दिया, मेरे दोष पर दृष्टि ही नहीं डाली।

वे गोवत्स, वे गोपकुमार कहाँ पार्थिव प्राणी थे। यदि होते भी तो? तब भी तो मैं उनके प्रारब्ध विधानकी उपेक्षा करके उन्हें स्वजन-वियोगका प्रयत्न कर चुका था। अपने ही विधानकी उपेक्षा करके मैं अपने पदपर रहनेका अधिकारी रह गया था? मुझे लोकस्रष्टा ब्रह्मा बने रहनेका कोई अधिकार रह गया था?

मेरे अपराध पर तो उन श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने दृष्टिपात ही नहीं किया। उन्होंने तो इसके विपरीत मेरे ऊपर अकारण असीम अनुकम्पाकी। उनकी कृपाने मेरे अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया। मुझे दृष्टि मिली कि मैं केवल उनके करका मन्त्र हूँ और उनके अतिरिक्त कोई सत्ता, कोई सत्य है ही नहीं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

श्रुतिका मुझे ठीक ज्ञान उन मयूरमुकुटीके श्रीचरणोंमें उपस्थित होकर हुआ। न कर्म था, न जीव थे, न पञ्चभूत थे और सहस्र-सहस्र बछड़े, सहस्र-सहस्र गोपबालक व्यक्त हो गये थे। उन बालकोंके वस्त्र, आचरण, लकुट, छीके आदि सब उपकरण थे—सब वे व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं बन गये थे। न जड़ न चेतन, और जड़-चेतनका सम्पूर्ण नानात्व प्रत्यक्ष था। एक दो दिन नहीं, पूरे वर्षभर व्रजमें सम्पूर्ण व्रजजनोंके मध्य यह क्रीड़ा चलती रही।

यह जड़-चेतनका भेद, ये जीव और उनके अनादि कर्मसंस्कार, ये पञ्चमहाभूत प्रकृति, अहंकार, देवतादि मात्र प्रतीति हैं। वैसी ही प्रतीति जैसी प्रतीति व्रजमें वर्षभर बनी थी। वस्तुतः एक अद्वितीय श्रीकृष्ण ही परमसत्य हैं। वही इन नाना रूपोंमें क्रीड़ा कर रहे हैं। माया-प्रकृति और प्रकृतिके विकार महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चभूत, देवतादि, अनादि जीव तथा जीवोंकी अनादि कर्म-वासना एवं इन सबको लेकर उनके संयोजनसे आकृतियोंको व्यक्त करते रहने वाला मैं लोकस्रष्टाभिमानी ब्रह्मा, यह सब अज्ञान है। सब अज्ञानान्धकारमें भटकने वालेकी भ्रान्त भावना है, यह उस दिन मैं व्रजमें समझ सका।

व्रजराजकुमारने कृपा की। यह स्वप्न देखने वाला, स्वप्न सृष्टिको अपना सर्जन समझने वाला उस दिन जागा। उन मयूर-मुकुटीने इसे जगाया। इस अन्धको दृष्टि दी। इसे अपनाया।

कितनी बड़ी धृष्टताकर रहा था मैं। मैंने भगवज्जनोंका अपराध किया था, नरकमें भी मेरे लिए स्थान नहीं होना चाहिये था और उन दयासिन्धुकी क्षमाके कारण धृष्ट बनकर उनसे अपने लिए व्रजमें कोई स्थान मांगने लगा था। व्रजमें तृण-लता होनेका वरदान चाहता था। उन उदार शिरोमणिने न मेरी भर्त्सनाकी, न स्पष्ट अस्वीकार करके मुझे हतप्रभ किया। मेरा अनधिकार केवल उनके मौनसे ही सूचित हुआ। उन निखिल गुणगणार्णवके अतिरिक्त अन्यत्र ऐसा शील कैसे उपलब्ध हो सकता है।

अब वे वासुदेव कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उनके द्वारिकाके परिकर आवेंगे उनके साथ। व्रजराज श्रीनन्दराम व्रजजनोंके साथ आ रहे हैं। उनके साथ वे गोपकुमार पधारेंगे, जिनका मैं अपराधी हूँ। इस चतुर्मुख रूपसे न सही, मैं कोई भिक्षुक बनकर तो जहाँ जा ही सकता हूँ। व्रजमें उनकी पद-रज नहीं पा सका; किन्तु कुरुक्षेत्रमें उन सबकी पद-रज मुझे मिलेगी। मैं उस रजमें लोटपोट हो सकूँगा।



देवराज इन्द्र-

अप्रमत्त केवल ज्ञानस्वरूप वासुदेव ही सदा रह सकते हैं। जीव कोई हो, किसी भी पद पर पहुँच जाय, उससे प्रमाद होनेकी सम्भावना सदा रहेगी। सुर सत्त्ववृत्ति होते हैं और मैं उनका अधिपति हूँ; किन्तु मुझसे जो प्रमाद हुए, सोचकर स्वयं मैं ग्लानिसे भर उठता हूँ। समझ नहीं पाता कि यह सम्भव कैसे हुआ; किन्तु प्रमादने भी मुझे पवित्र किया। उनका भी चिन्तन मुझ पावन करता है; क्योंकि अपने प्रमादका चिन्तन करता हूँ तो वासुदेवका चिन्तन होता है। उनकी महिमाका उनकी कृपाका चिन्तन होता है।

व्रजके गोपोंने मेरी पूजा नहीं की। इतना ही नहीं, मेरी अर्चाके उपकरणोंसे ही गोवर्धनकी पूजा करली। यह मेरा जानबूझकर किया गया अपमान था। मुझे क्रोध आया, इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं था। लेकिन क्रोध मुझ सुरेश्वरको भी नृशंस असुर बना दे सकता है, यह मैं पीछे समझ सका। मैं सुरपति हूँ और मैंने ब्रजके पशुओं-गायोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया। उन गायोंको जिनके हविष्यसे सुर और स्वयं मैं पुष्ट होता हूँ। जो हम सुरोंके लिए भी सम्मान्य हैं। मुझे स्मरण तक नहीं आयाकि सुरभि ही सुरोंकी पोषिका हैं, जीवन हैं।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह तो अद्भुत है। केवल यही कह सकता हूँ कि भगवती योगमायाका प्रभाव अचिन्त्य है। उन्होंने मुझ सहस्राक्ष को भी अन्धा बना दिया था। सूझ ही नहीं रहा था कि खुले आकाशमें चार-चार बार दौड़ते भागते गोप, गोपियों पर मेरा बार-बारका व्रज प्रहार व्यर्थ होता चला गया है। पाकारिका एक भी प्रहार लक्ष्य पर नहीं पहुँचा। वे पर्वतके नीचे चले गये तब भी मैं वज्र-प्रहार करता रहा।

सूझ तो मुझे यह भी नहीं रहा था कि मेरे प्रलय-पयोदोंकी वर्षा व्यर्थ हुई जा रही है। यमुनामें जल तनिक भी बढ़ नहीं रहा है। इस प्रकार इन्द्र अन्धा हो जायेगा, कोई कैसे आशा कर सकता है। लेकिन इतना अपराध करके भी जब मैं व्रजेन्द्र नन्दनके सम्मुख गया, उन्होंने सहज क्षमा कर दिया। उन्होंने अवसर दिया कि मैं उनका अभिषेक करके गौरवान्वित हो सकूँ। अत्यन्त नृशंस अपराधको भी गुण बना दिया। वे गोविन्द होगये उसे निमित्त बनाकर।

वे सर्वेश्वरेश्वर अपनी कृपासे ही उपेन्द्र हैं। उन्होंने इस पुरन्दरको—दैत्यराज बलिसे पराजित पुरन्दरको इसका स्वर्ग प्रदान करनेके लिए ही तो वामनावतार ग्रहण किया।

मैं अज्ञ हूँ। अहंकारी हूँ। अकृतज्ञ हूँ। इतने पर भी वे बार-बार मुझे क्षमा करते हैं। मुझे अपनाते हैं। मुझ पर अनुग्रह करते हैं। असुरोंसे बार-बार पराजित होने वाला इन्द्र—नरका सुरका कुछ भी विगाड़ लेना मेरे वशमें था ? वह असुर अमरावती पर चाहे जब चढ़ दौड़ता था। वह मेरी माता अदितिके कर्णोंसे उनके कुण्डल झपट ले गया। क्या कर लिया मैंने उसका ? श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण लेने मैं द्वारिका दौड़ा गया और वे मेरी सहायताको उद्यत हो गये। उन्होंने उपालम्भ तक नहीं दिया कि मैंने मांगने पर भी उन्हें सुरतरु देना अस्वीकार कर दिया। ※

उन्होंने भौमासुरको मारा। मेरी माताको उनके कुण्डल लौटाये और जब कल्प वृक्ष ले जाने लगे, मैं उनसे युद्ध करने गया। भौमासुरसे पराजित शक्र उस असुरको समर-शैय्या देने वाले अपने उपकारी पर ही वज्र-प्रहार कर बैठा। इस कृतघ्नका अपराध उन्होंने देखा ही नहीं। इसका वज्र भी इसे लौटाया और इसे सम्मानित भी किया।

मैं क्या मुख लेकर उनके सम्मुख द्वारिका जाता ? मैंने तो बार-बार उनकी अवज्ञा ही की है। बार-बार उनका अपराध ही किया है। कोई सेवा उनकी मुझसे हो नहीं सकी। वे क्षमासिन्धु—द्वारिका जाऊँ भी तो वे सेवाका अवसर देंगे ? वे इसको देखकर उठेंगे सिंहासनसे। इसकी अर्चा करेंगे। वे मेरे अनुरोध पर भी कहेंगे—उपेन्द्र देवराजका अनुज है।

अब वे ग्रहण-पर्व पर कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं; किन्तु इन्द्र यहाँ भी उनके समीप इस रूपमें तो नहीं जा सकता। यहाँ ऋषिगण और राजन्यवर्गसे घिरे रहेंगे वे। अच्छा लगेगा कि इन्द्र पर भी अनुकम्पा करने वाले भगवान ब्रह्माके पुत्र महर्षि गणोंके मध्य वासुदेव इस पुरन्दरको सिंहासन पर बैठाकर इसकी पूजा करने लगें ?

मुझे श्रीकृष्णकी सेवा चाहिये। यह सेवा इस सुरपतिवेश में तो मिलनेसे रही; किन्तु सेवा मिलसकती है। वासुदेवने सेवाका सुअवसर मुझे सूचित कर दिया है। द्वारिकाके समान कुरुक्षेत्रमें मणिभूमि तो नहीं है। वहाँ तीर्थमें तो पर्वके समय धूलि उड़ सकती है। पवनदेव जब वहाँ पथ स्वच्छ करने पहुँच रहे हैं तो इन्द्रको अवसर क्यों नहीं है ?

आकाशसे मेघोंके द्वारा वर्षा करने पर तो तीर्थयात्रियोंको, वासुदेवके स्वजनोंको कष्ट होगा; किन्तु मेघपति इन्द्र यदि कटि पर चर्मका जलपात्र लेकर पथ-सिञ्चक बनकर पहुँच जाय, इसका पात्र रिक्त नहीं होगा। इसे सेवाका सौभाग्य मिलेगा। इसे वासुदेवकी सेवा मिलेगी, उनके स्वजनोंकी सेवा मिलेगी। सब तीर्थयात्रियोंकी सेवा मिलेगी। शक्र धन्य हो जायेगा।

※ पूरी कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में गयी है।

—×—

इन्द्राणी शची–

'आपकी पाद-सेविका श्रीचरणोंमें प्रणत है।' केवल इतना कह ही सकती हूँ। वे महिमामयी चरणस्पर्श करने नहीं देंगी। वे इस दानव-कन्या पौलोमीको भुजाओंमें भर लेंगी—सखि ! अच्छी आयी तू।'

वासुदेव द्वारिकामें हों या कुरुक्षेत्र पधारें उनके अन्तःपुरमें पहुँचनेमें अब शचीको क्या बाधा है। अपने अहंकारमें अन्धी मैंने जिनको पारिजात-पुष्पकी अधिकारिणी नहीं माना था, उन सर्वेश्वरेश्वरकी प्राणसहचरीने मुझे सखि कह कर हृदयसे लगाया। अमरावतीमें मैं जिनका सत्कार नहीं कर सकी थी, अपने अन्तःपुरमें उन महारानी सत्यभामाने मुझे अपनी प्रतिनिधि बना लिया। अपने स्थान पर अपनी नव-विवाहिता षोडशसहस्र एक सौ सपत्नियोंके पदोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पणका अवसर दे दिया। *

वे अनुग्रह न करतीं श्रीकृष्णचन्द्रकी महिषियों को तो दूर, उनकी सेविकाओंके पादपीठका भी स्पर्श करनेकी अधिकारिणी शची कहाँ थी'। इसने अमरावतीके अन्तःपुरमें महारानीकी अवज्ञाकी थी और उन परमोदाराने इसे गौरवान्वित किया। इसके अपराध पर दृष्टि ही नहीं डाली।

अच्छा किया, अनुग्रह किया उन्होंने मुझ पर कल्प वृक्ष-हरण करके। मेरे अहंकारके कण्टकको वे उखाड़ फेंकना चाहती थीं। अन्यथा उन्हें कल्प वृक्षकी आवश्यकता थी ? द्वारिकाके वाह्योद्यानके भी बाहर जो तृण, गुल्म स्वतः उग आये हैं, वे भी सुरपादपसे अधिक प्रभाव रखते हैं।

अद्‌भुत है सर्वेशकी लीला। वे कब कैसे किस पर अनुग्रह करेंगे, किसी प्रकार जाना नहीं जा सकता। श्रुति, शास्त्र, सन्त सब एकमत हैं कि अहंकार पतनका हेतु है ; किन्तु मेरा अहंकार ही मेरा उद्धारक बन गया। मेरे अहंकारने ही अन्ततः मुझे महारानीके श्रीचरणों तक पहुँचाया।

महारानी सत्यभामा—उन अचिन्त्य प्रभावाके पादपद्मोंकी सेवाको भगवती सिन्धुसुता और देवी गिरिजा भी समुत्सुक रहती हैं, यह मैंने स्वयं देखा है। दोनों दासियोंका वेश बनाये उनके अन्तपुरमें सेवाका अवसर पानेको भटकती रहती हैं और मुझ दानव कन्याको उन महेश्वरीने सखि कहा।

---

* पूरी कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में है।

उन्होंने स्वयं मुझे अपनी ओरसे अपनी सपत्नियोंके पदोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पणकी आज्ञा दी तो मैं उनकी ओरसे उनके अन्तःपुरमें आने वाली पूजनीया वर्गकी पूजाधिकारिणी हो गयी। मुझे यह सौभाग्य बिन मांगे मिल गया। वे दिया हुआ अधिकार तो छीननेसे रहीं।

कुरुक्षेत्रमें ऋषि-पत्नियाँ आवेंगी श्रीद्वारिकानाथके अन्तःपुरमें। श्रीवासुदेवके स्वजन, सम्बन्धी जन आवेंगे तो उनकी पत्नियाँ आवेंगी। ब्रजपतिके साथ गोपियाँ आ रही हैं। सब महारानीसे मिलेंगी और सबका महारानीको सत्कार करना है। इस समय उनकी ओरसे पाद-पूजनको नियुक्ता यह सेविका अनुपस्थित रहे तो अपराधिनी नहीं मानी जायगी?

वे क्षमामयी किसीके अपराध ही देखती होतीं तो शची उनकी अवज्ञा करके आधे क्षण भी इन्द्राणी रह सकती थी? यह अब तक पता नहीं किस नरकमें पड़ी होती; किन्तु उन्हें अपराध देखना कहाँ आता है। मैं अनुपस्थित हूँ, यह उन्हें स्मरण भी नहीं आवेगा; परन्तु मुझे क्या ऐसा सौभाग्य पुनः सृष्टिमें प्राप्त होगा?

सृष्टिकर्ता पद्म-सम्भवने गोपियोंकी पद-रजकी कामनाकी और वह उन्हें नहीं मिली। महारानी—अपनी स्वामिनी महारानी सत्यभामाके अनुग्रहसे यह क्षुद्र उन व्रजकी प्रेम-प्रतिमाओंकी पद-रज पा सकती है इस समय। पाद-प्रक्षालनकी सेवा इसे न भी मिले तो भी पदों पर पारिजात पुष्पोंकी अञ्जलि अर्पणका स्वत्व तो इसे महारानी दे ही चुकी हैं। मैं अनुमतिकी अपेक्षा किये बिना स्वयं अञ्चलमें कल्प वृक्षके सुमन भरकर महारानीके पार्श्वमें जा खड़ी होऊंगी तो वे केवल मेरी ओर सस्मित देखेंगी और कह देंगी—'सखि! तू अच्छी आयी।'

सहस्र-सहस्र विप्र-पत्नियाँ, असंख्य सम्बन्धी नरेशोंकी सम्मान्या पत्नियाँ या माताएँ और व्रजकी वे सहस्रों त्रिभुवन वन्दनीया प्रेममूर्तियाँ सब आवेंगी महारानीके अन्तःपुरमें शचीको सबके पदोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित करनेका अवसर मिलेगा।

कल्पतरु द्वारिकामें भले हो, महारानी अनुमति देंगी तो उसे कुरुक्षेत्र आनेमें विलम्ब होगा? गरुड़ दो घड़ीमें ला-धरेंगे उसे। और यह किंकरी महारानीसे कहेगी—कहेगी ही कि इसे कल्पतरुके सुमनोंका मोह है। यह उन सुमनोंसे पूजनीया वर्गको पुष्पाञ्जलि देना चाहती है।

कुरुक्षेत्रमें मुझे वे मेरी स्वामिनी मिलेंगी और मिलेगा उनकी ओरसे उनकी आदरणीया अभ्यागताओंके पदोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पणका सौभाग्य। एक बार यह सौभाग्य पुनः प्राप्त होगा वहाँ, जो द्वारिकामें मिला और मेरा स्वत्व होगया।



यमराज

असीम सौभाग्य दिया मुझे मेरी बहिनने। यमुना छोटी है मुझसे; किन्तु अपने गौरवमें वह मुझसे ही नहीं, त्रिभुवनमें ही सबसे महान हो गयी। वासुदेवकी पट्ट-महिषी वह और उसके नाते श्रीकृष्णचन्द्रजीकी सभी रानियाँ मेरी स्वसा है—स्नेहमयी स्वसा; क्योंकि यमुना छोटी है तो वे सब भी छोटी ही हैं मुझसे।

देवी रुक्मिणी—वे सिन्धुसुमा, यह अमंगल मूर्ति यम उनके स्वामीके चरणाश्रितोंकी भी छाया नहीं छू सकता; और अब वे अग्रजके समान मेरा स्मरण करती हैं। कालिन्दीके कारण मैं उन्हें अनुजा कहनेका अधिकारी हो गया हूँ।

मुझे अमरावतीमें उलाहना मिला। देवी सत्यभामाने सस्नेह कहा—'आप तो हम बालिकाओंको वन्दना करनेका अवसर देने भी द्वारिका नहीं आये। हम अब बहुत बहिनें हैं आपकी।'

'अनुजाका पतिगृहका आतिथ्य अग्रज नहीं स्वीकार कर सकता देवि!' मैंने नम्रतापूर्वक अपनी विवशताको छिपा लिया—'आप जानती ही हैं कि संयमिनीके स्वामीको बहुत व्यस्त रहना पड़ता है। सृष्टिकर्ताने प्राणियोंकी मृत्युका कोई एक काल नहीं निश्चित किया है और संयमिनी पहुँचे जीवको निर्णयके लिए प्रतीक्षा करनेको नहीं कहा जासकता। संयमिनीमें सृष्टिकर्ताने प्रतीक्षालय बनाया ही नहीं है। अतः मुझे भी अपने पिता भगवान भुवनभास्करके समान अहर्निशि कार्यरत रहना पड़ता है।'

वस्तुतः यह मेरी दुर्बलताको छिपाना ही था। यम अपनी अमंगल छाया द्वारिका पर कैसे डाल सकता है। जानता हूँ कि वासुदेवके स्मरणसे ही समस्त अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं। द्वारिकामें अमंगल-अरिष्टका प्रवेश ही नहीं है। मृत्युका देवता यह यम द्वारिका जानेकी बात भी नहीं सोच पाता। भले यह वहाँ स्नेहके कारण जाय, भले वहाँ कोई अशुभ प्रभाव न पड़े; किन्तु इसकी छाया अशुभ है, यह जानते हुए भी यह जाय कैसे?

वासुदेव द्वारिकामें हों अथवा कुरुक्षेत्र आवें, उनका सहस्रार अमोघ चक्र उनकी पुरीकी, उनके परिकरोंकी रक्षा करता रहता है। इतने परभी वासुदेवके अन्तःपुरमें मेरे प्रवेशपर प्रतिबन्ध सम्भव नहीं है। वह मेरी बहिनोंका अन्तःपुर है। वहाँ चक्र मेरा स्वागत ही कर सकता है। लेकिन मेरा हृदय साथ नहीं देता। मृत्युका देवता श्रीकृष्णके अन्तःतुरमें?

कुछ दे पाता अपनी उन त्रिभुवन वन्दनीया बहिनोंको तो यह भी कर लेता ; किन्तु उन्हें देनेको मेरे पास क्या है ? सृष्टिमें किसीके समीप भी क्या है जो श्रीद्वारकेशको महारानियोंको उपहार दे सके । जहाँ जाकर कल्पतरु भी एक सामान्य झंखाड़ ही सिद्ध हुआ, वहाँ कोई भी कुछ उपहार देनेको कहाँसे लावेगा ?

द्वारिका मैं नहीं गया—जा नहीं सका । अब श्रीवासुदेव सपरिकर कुरुक्षेत्र आरहे हैं । यहाँ मैं ऐसे उनके दर्शन करने भी चला जाऊँ तो वे अपने अन्तःपुरमें मुझे ले गये बिना मानेंगे ? उनके अन्तःपुरमें मैं जाऊँ, यह कैसे उचित हो सकता है ।

युधिष्ठिर मेरे अंशसे उत्पन्न हैं । विदुरके भी रूपमें मैं हूँ । इन दोनों रूपोंसे मैं वासुदेवकी सन्निधि भली प्रकार पा सकता हूँ । उनकी सेवा इन रूपोंमें भी नहीं पायी जा सकती । इन दोनोंका वे सम्मान करते हैं । युधिष्ठिरको वे अग्रजके समान मानते हैं । विदुरको पितृव्य कहते हैं ।

धर्मराज द्वादश भागवताचार्योंमें गिना जाता है ; किन्तु इसमें भक्तिका तो लेश भी नहीं है । इसे न वासुदेवकी सेवाका अवसर मिलता है और न भगवद्भक्तोंकी सेवा प्राप्त है । मुझे अवकाश नहीं अपनी पुरीसे अन्यत्र जानेका और इसके यहाँ तो कोई पुण्यात्मा भी कदाचित ही आता है, भगवद् भक्त भला संयमिनी क्यों आने लगे ।

मुझे प्रायः पापियोंसे काम पड़ता है । मेरे यहाँ निषिद्ध कर्मी आते हैं । उन्हें अनेक कर्मोंके अनुसार दण्ड-विधान करके शुद्ध करना पड़ता है । बड़ा कठोर कर्म है यमराजका और कहा जाता है इसे भागवताचार्य । कितनी विडम्बना, कैसा कठोर कर्म ।

वासुदेव सपरिवार कुरुक्षेत्र आ रहे हैं । इस समय उनकी कोई सेवा मिल सकती ! कुछ सूझता नहीं है, कैसे सेवा मिलेगी उनकी मुझे ?

उनका—उनके शिविरका रक्षण करने लगूँ तो ? दण्डधर यमराजसे अधिक उपयुक्त प्रहरी कहीं हो सकता है ? लेकिन श्रीकृष्णके शिविरको प्रहरीकी आवश्यकता होगी ? उनका कोटि सूर्य सम प्रभचक्र अप्रमत्त अहर्निशि वहाँ रक्षा करता रहता है ।

यमराज एक सेवा कर सकता है वहाँ । यह रात्रिमें कुरुक्षेत्रके सम्पूर्ण पथको स्वच्छ कर दे सकता है । वासुदेवका रथ प्रतिदिन ही किसी न किसी पथसे निकलेगा । पथ मार्जना लेकर सभी पथोंको रात्रिमें ही मैं मार्जित कर दूँगा ।

मुझे पथ-मार्जक श्वपच बननेमें क्या संकोच है । जहाँ देवराज पथ-सिञ्चक बनने जा रहे हैं, मैं पथ-मार्जक बनूँगा । पर्याप्त सेवा-मिलेगी पवित्र तीर्थयात्रियोंकी । वासुदेव मिलेंगे और मिलेगी उनकी पद-रज ।

—:०:—

धनाध्यक्ष कुबेर—

अखिलेश्वर वासुदेव आये थे कैलास । अलकापुरीसे कैलास दूर तो नहीं है, किन्तु उस समय भी मैं उनकी कोई सेवा नहीं कर सका। उस समय उनको तपस्या करना था और तपस्वी किसीकी कोई सेवा स्वीकार नहीं करता। कोई सेवाका प्रयत्न करे तो उसे वह अपने तपमें विघ्न ही समझता है। शाप भी दे सकता है।※

द्वारिकामें कुबेरकी गणना क्या। जहाँ स्वयं सिन्धु-सुता उपस्थित है, वहाँ मेरे जैसे कुबड़े काण, पिंगाक्ष एक-लोचनको कोई सेवाका अवसर कहाँ आना है।

अभाग्य यह कि मैं कुरुक्षेत्रमें भी उन अखिलेश्वरकी कोई सेवा नहीं कर सकता। देवी सत्यभामा द्वारिकासे कल्प वृक्ष साथ न भी ले आवें, कुबेरको अवसर कहाँ है। द्वारिकाके अन्तःपुरकी सेविकाओंकी चरण-रज् पड़नेसे प्रत्येक कंकड़ी चिन्तामणि हो जाती है। किसी कण्टक तरुको भी कोई दासी स्नेह पूर्वक देख ले तो वह कल्पपादककी शक्ति प्राप्त कर लेगा। वहाँ कोई सेवाका अवसर कुबेरको कहाँ है।

श्रुतिके द्वारा विप्रवर्ग प्रत्येक यज्ञ, अर्चाके अन्तमें पुष्पाञ्जलि अर्पणके अवसर पर मेरी स्तुति करता है। राजधिराज वैश्रवण—व्यर्थ गर्व यह। केवल कामकामी—अर्थ, धर्म, कामके लोलुप कुबेरकी स्तुति करते हैं। उपेक्षणीय है धनाध्यक्ष होकर भी यह कुब्ज उनके लिए जिनके चित्तमें दैहिक भोगोंके प्रति विरक्तिका उदय होगया है।

जिनका विवेक जाग्रत हो गया है, वे जिज्ञासु भी धनाधीशकी उपेक्षा कर देते हैं। उन मोक्षेप्सुजनोंकी भी वैश्रवण कोई सेवा नहीं कर सकता, तब जिनके चित्तमें श्रीवासुदेवके पादमपद्मोंका अनुराग उदित हो गया है, वे कुबेरका स्मरण क्यों करने लगे।

अन्धकारका पक्षी है उलूक। प्रातः भगवान भुवन भास्करका प्रकाश प्रकट होनेसे भी पूर्व अरुणके आगमनके साथ उसे अन्धकारमें छिप जाना पड़ता है। इसी प्रकार कुबेरका समस्त वैभव अविद्यान्धकारमें भटकते भोले जीवोंको ही भ्रान्त करता है। स्वप्नकी सृष्टिका स्वर्णमेरु—मायामरीचकामें प्रतीत होता महामन्दिर, वैश्रवणके वैभवका इसे कुछ अधिक अर्थ कभी सम्भव है ?

※ पूरी कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में गयी है।

यह वैभव भी भगवती पद्मजाका कृपा प्रसाद है। उनके अनुग्रहका दान है। वे कभी रुष्ट हो जायँ, कुबेर क्षणार्धमें कङ्काल हो जायगा। जिनका भ्रूविलास पल-पलमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-प्रलय किया करता है, उन अनन्त अचिन्त्य वासुदेवकी सेवा करने योग्य कहाँ है यह वैश्रवण। उनके श्रीचरणोंकी एक झलक भी जिन्हें नहीं मिली, केवल जिनके चित्तमें उन चरणोंके प्रति तनिक आकर्षण जागा है, धनाध्यक्ष उनके लिए भी अकिञ्चित्कर हो जाता है। उनकी सेवाके भी अयोग्य बन जाता है।

वन्दनीय बना रहे वैश्रवण कामनाओंके किंकरोंके लिए ; किन्तु वासुदेवकी कृपा-कोरका लेश भी जिन्होंने भावित कर लिये हैं, वे तो इसे अपशकुन ही मानते हैं। कुबड़ा, एक ही नेत्र और वह भी पीतवर्ण, काला यह वैश्रवण किसीके सम्मुख पड़े— अपशकुन स्वरूप ही तो है यह।

मैं कुरुक्षेत्रमें श्रीद्वारिकानाथके सेवकोंके सम्मुख भी जानेका साहस नहीं कर सकता। द्वारिकाके जनोंकी चर्चा व्यर्थ है, वहाँ जो भी आवेंगे, वे उन कमल-लोचनके चरणोंके दर्शनकी उत्कण्ठा लेकर ही तो आवेंगे। उनके सम्मुख जानेका साहस कुबेर करेगा ?

सब निष्काम ही कुरुक्षेत्र नहीं आवेंगे यह सत्य है ; किन्तु इससे लाभ ? जहाँ स्वयं देवी रमा उपस्थित होंगी, जहाँ उनके स्वामी मयूरमुकुट धारण किए विद्यमान होंगे, वहाँ किसीके मनमें कोई कामना भी हो तो वह कुबेरका स्मरण करेगा ? कुबेर ही उन अखिलेश्वरकी उपस्थितिमें दाता बननेकी धृष्टता कर सकेगा ?

किसीकी कोई सेवा करना तो दूर, किसीके सम्मुख पड़ने योग्य भी मैं वहाँ नहीं हूँ। वहाँ यह नरवाहन जाय—क्या करेगा जाकर ? वहाँके रजकणोंको रत्नकण भी बना दे तो लाभ ? ऐसा करे तो कोई मुनिकुमार शाप दे सकते हैं। तीर्थयात्रियोंको प्रलुब्ध करना पाप नहीं होगा ?

कुबेर अपने इस कुबड़े रूपमें जैसे कभी द्वारिका नहीं जा सका, कुरुक्षेत्र भी नहीं ही जा सकता। केवल किसीके लिए अपशकुन बनने तो नहीं जाया जा सकता ; किन्तु उन कमल-लोचन, वनमालीके दर्शनसे भी वञ्चित रहूँ मैं ? वहाँ तो उनके असंख्य अनुरागी जन पधारेंगे। अन्तरिक्षमें अदृश्य रहकर वहाँ उपस्थित रह सकता हूँ। इस प्रकार उन वासुदेव तथा उनके जनोंका दूरसे सही, दर्शन तो मिलेगा।

—:०:—

जलाधीश वरुण—

अनुग्रह सिधु हैं श्रीकृष्णचन्द्र। अपराधी पर भी वे सर्वेश्वरेश्वर अनुग्रह ही करते हैं। अन्यथा मैं उनकी कृपाका कभी अधिकारी हो सकता था। वरुण तो असुरोंका आराध्य है। जलाधीश होनेका यह अभिमानी—व्यर्थ ही है इसका अभिमान। हिरण्याक्षने इसे द्वन्द्व युद्धकी चुनौती दी तो युद्ध करनेका साहस कहाँ था इसमें। वह तो इन श्रीहरिने वाराह बनकर उस लोककण्टकको शमन कर दिया।

वरुण जलाधिप है, इसका क्या अर्थ? मल जन्तुओंका अधीश्वर—विशालतम जल-जीवों जैसा कोई जघन्य प्राणी। जलमें छिपा रहने वाला, जलदस्युओंका सहायक। जलमें ही आश्रय लेने वाले असुरोंको मैंने अनेक बार शरण नहीं दी? रत्नाकरका स्वामी कहलानेका गर्व भले करलूँ; किन्तु स्टष्टिको मैंने क्या दिया है? बार-बार जलप्लावन, जलीय भीषण वात्याचक्र, प्रचण्ड झंझा अर्थात् विनाशका भय और इस भयसे भीत मानव वरुणकी पूजा-आराधना करता है।

भयसे प्राप्त पूजासे कहीं देवत्व स्थापित होता है। क्या हुआ कि सृष्टिकर्ताने वरुणको लोकपाल और पश्चिम दिशाका दिक्पाल बना दिया। इससे तो गर्व एवं प्रमाद ही बढ़ा। मर्यादा पुरुषोतम पधारे सागर तट पर। वे निखिल लोकमहेश्वर मर्यादि मानकर कुशस्तरण पर तीन दिन रात उपोषित रहकर प्रार्थना करते रहे लङ्काजानेका पथ-प्राप्त करनेको; किन्तु यह जलाधिप प्रमत्त हो गया था। यह उनकी भी उपेक्षा करता रहा।

कुछ बिगड़ जाता यदि सागरकी जलराशि द्विधा विभक्त होकर मध्यमें पथ दे देती? गरुड़ासन नारायणको तो दूर, स्वयं गरुड़ाको बार-बार ऐसा पथ नहीं देता मैं? लेकिन भयातुरजनोंसे पूजित होकर वरुण प्रसन्न हो गया था। अत: इसका मान भङ्ग उचित ही हुआ।

श्रीरामने केवल शर-सन्धान किया था। वे दो घड़ी भी उसे धनुष पर चढ़ाये रहते, सागर सूख जाता। उबल उठा था अतल उदधि उस महाबाणके धनुषपर पहुँचते ही। मुझ जैसे प्रमत्त मूर्खको ठीक मार्ग सुझानेका उचित मार्ग था वह।

मैने प्रकष्ट होकर उन मर्यादा पुरुषोतमके पदोंमें प्रणिपात किया, सागरपर सेतु

निर्माणकी युक्ति बतलायी, कोई उपकार ? कोई सेवा थी यह ? जैसे भयातुरजनोंकी पूजा मुझे प्राप्त हुआ करती है, वैसे ही भयातुर होकर पूजा मैंने की।

मुझे अवसर दिया इन मयूर-मुकुटी लीला-पुरुषोत्तमने अपनी अर्चाका। यद्यपि मेरे अनुचरसे अपराध ही हुआ था। वह व्रजरायकी नन्दरायको यमुनाजलसे अन्याय पूर्वक ही पकड़ ले आया था* किन्तु श्रीव्रजेन्द्रनन्दन मेरे लोक पधारे और इन्होंने मुझे अपनी अर्चाका अवसर दिया। क्रोध नहीं, क्षोभ नहीं, कोई उपालम्भ तक नहीं मेरे सेवकके अपराधका।

इतनेपर भी मैंने इन महिमामयसे युद्ध किया। वाणासुरकी गायोंका मैं रक्षक था ? मुझे उनका लोभ नहीं था ? मैं जो कृतिम विनय और न्यास रक्षणकी विवशता प्रकट कर रहा था—सर्वज्ञ वासुदेवसे मेरा दम्भ छिपा था ?** मेरे दम्भको मेरे अपराधको क्षमा किया उन्होंने। वे चक्र उठा चुके थे। वरुणके समीप कोई प्रतिकार था उनके उस अमोघ चक्रका ? वह महाप्रलय-समर्थ सुदर्शन यदि छूटता उन यह चक्रपाणिके करोंसे—वरुण लोकपाल, वरुण दिक्पाल, वरुण अमरका क्या अर्थ था ? चक्र ही प्रलयान्तमें सब लोको और लोकपालोंको शुष्क तृणके समान भस्म नहीं कर देता ?

वनमाली श्रीवत्सवक्षा क्षमासिन्धुने वरुणका अपराध क्षमा किया। इसके दम्भको भी सत्यकी भाँति सम्मान दिया। हँसकर ही चक्रको शान्त कर दिया और यह अज्ञ अभिमानी उनकी कोई सेवा, कोई सत्कार नहीं कर सका। द्वारिका यह क्या मुख लेकर जायगा ?

अब वासुदेव कुरुक्षेत्र सपरिकर पधार रहे हैं। तीर्थमें कुछ समय निवास करेंगे वे। कहीं समुद्र नहीं वहाँ कि वरुण उसका अधिदेव बना विद्यमान रहे ; किन्तु वरुण समुद्र-गर्भमें बसी द्वारिकामें ही सेवा नहीं कर पाता तो सागरका उपयोग ? लेकिन वरुण अलक्ष्य रहकर दृष्टि मात्रसे जलपात्रोंको वारिपूर्ण तो किये रह सकता है। कुरुक्षेत्रमें यह सेवा मुझे मिल जायगी। मैं वासुदेवका जल सेवक बन सकता हूँ वहाँ।

---

* यह कथा 'नन्द नन्दन' में गयी है।

** कथा पूरी 'श्रीद्वारिकाधीश' में देखें।

—:*:—

भगवान भास्कर—

वामन अवतार लेकर जो मेरे अनुज बने, वे ही अब मेरे स्नेह भाजन हैं। वे सर्वरूप सर्वेश्वर ही तो ऐसे हैं जिनसे प्राणीका सब प्रकारका सम्बन्ध है। उनसे कोई भी सम्बन्ध अनुपयुक्त कहाँ होता है।

वासुदेवको आवश्यकता थी कि वे यमानुजाका पाणिग्रहण करते? साक्षात् सिन्धुसुता उनकी चरण सेवा करती हैं; किन्तु वे अपने श्रीचरणोंके स्पर्शकामी आतुर प्राणोंको अस्वीकार नहीं किया करते। इसी विश्वास पर मैंने यमुनाको उनकी प्राप्तिके लिए तप करनेको कहा था। वह तो नित्य उन्हींकी है। उन कमल-लोचनने स्वयं पधारकर उसे स्वीकार किया। उन्होंने उसे अपनाकर मुझे अनुग्रहीत किया। अन्यथा मैं कहाँ एक पलका भी कभी अवकाश पाता हूँ कि कन्याको पति ढूंढ़ता और उसका विवाह कराता।

सूर्य लोकप्रकाशक है, यह लोगोंकी भ्रान्त धारणा ही तो है। सबके जो परम प्रकाशक हैं, उनसे प्रकाश न प्राप्त हो, सूर्य किसीको प्रकाश दे सकेगा। सूर्य स्वयं उनसे प्रकाशित होता है। यह भी परप्रकाश ही है।

मैं उन विराट् पुरुषका नेत्र हूँ। वनमाली वासुदेव पार्थिव वपु तो नहीं कि उनके नेत्र, कर, पादादि इन्द्रियाँ होंगी और उनके अधिदेवता होंगे। वे अखण्ड सच्चिदानन्द, उनके आनन्दघन श्रीविग्रहमें इन्द्रिय प्रतीति इसलिए है कि उससे विश्वेन्द्रियोंके अधिदेवता व्यक्त होते हैं। जैसे उनके पद्मपलाशलोचन मेरे अधिष्ठान हैं। मैं उन नेत्रोंकी अभिव्यक्ति हूँ।

सूर्य एक ग्रह है। उन लीलामयने अपने प्राकट्य-कालमें इसे स्वगृही रखा। इसे चतुर्थेश—सुखेश बनाकर गौरव दिया। अन्यथा उन आनन्दकन्दके महासिन्धुका सीकर जगतको सुख देता है। उन रमाकान्तको द्वारिकाके स्वर्णसौध सूर्यकी सानुकूलतासे प्राप्त हुए? सूर्य तो इतना आकिञ्चन है उनके सम्मुख कि पुत्रीके पाणिग्रहीताके सामने भी जानेका साहस नहीं कर सका।

एक ही प्रमाद हुआ मुझसे। मैंने सभाजितकी आराधना देखी, यह भूल ही गया कि वह श्रीकृष्णकी पुरीमें रहता है। उसे स्यमन्तक देकर मैंने अपने जामाताको अपयश-भाजन ही तो बनाया।

वासुदेवको स्यमन्तक प्रिय होता तो देवी रुक्मिणीको सहस्र-सहस्र स्यमन्तक प्रकट

करनेमें दो क्षण लगते ? मैं इतना कृपण तो नहीं था कि अपने जामाताकी पौरिपर वैसी दस-पाँच सहस्र मणि-वृष्टि न कर दूँ। लेकिन उन लीलामयको तो अपनी एक और सहचरीको अपनाना था। सत्यभामा भी तो मेरी कन्या ही है। उस भूदेवीकी अंशोद्भवाको अपनानेकी यह लीला ; किन्तु प्रमाद इसमें कारण हुआ, यह ग्लानि तो मेरे मनसे मिटती नहीं।

मैं उन सर्वेश्वरेश्वरकी कोई सेवा कर नहीं सका। कोई सेवा उनकी करने योग्य नहीं हूँ। विश्वस्रष्टाने मुझे अपने रथसे उतरनेकी अनुमति नहीं दी है। मैं गगनसे उन त्रिभुवन सुन्दरके दर्शन कर लेता हूँ यही मेरा सौभाग्य।

सूर्य नेत्राधिदेवता है। सहस्र-सहस्र प्राणियोंके नेत्र श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं। सबके नेत्रोंमें स्थित मैं उन श्यामसुन्दरको देखता हूँ—यह महान भाग्य मुझे मिला है।

अब वे वासुदेव कुरुक्षेत्र आरहे हैं अपने पुरे परिवारके साथ। सूर्य-ग्रहणका यह काल—किसीको भी अपना अभिभव कभी प्रिय नहीं लगता। इसबार तो छाया ग्रह राहु मुझे पूर्णाच्छादित करने वाला है ; किन्तु मेरे वशमें हो, मुझे राहुसे प्रार्थना करनेका अधिकार हो तो मैं प्रत्येक अमाको ऐसा ग्रहण चाहूँगा। निखिल लोकेश्वर वासुदेव मेरे मंगलके निमित्त सपरिकर स्नान करेंगे। वे सर्वेश्वरेश्वर मेरा स्मरण करेंगे।

वे प्रतिदिन नियमित सन्ध्या करते हैं। गायत्री जप और अर्घ्यदान—विडम्बना ही है कि मुझे अपने जामाताका ही अर्घ्य प्रतिदिन स्वीकार करना पड़ता है और मैं उनकी कोई सेवा नहीं कर सकता हूँ।

वे आ रहे हैं। उन वासुदेवकी सब रानियाँ मेरी कन्याएँ ही तो हैं। वे सब आरहे हैं। आरहे हैं उनके पुत्र अपनी पत्नियोंके साथ। मेरे दौहित्रोंका यह परिवार आ रहा है। अब इस माधवमास*में यदि यह मार्तण्ड चण्डरश्मि न रहकर सुखातप होता है सम्पूर्ण जगतके लिए तो किसी पर कोई उपकार करेगा ? इसके स्नेह-भाजन ही तो आरहे हैं वहाँ खुले स्थानमें।

—+—

* वैशाख।

चन्द्रदेव—

वासुदेवका कुल पुरुष, वासुदेकी कुण्डलीमें लग्नमें स्थित उच्चका चन्द्र—इतना गौरव किसी अन्य ग्रहको, देवताको, देवेन्द्रको भी आज प्राप्त है ?

सर्वलोक महेश्वर श्रीकृष्णने शशिको सदासे स्नेह दिया है। क्षीराब्धिका मन्थन करके मुझे उन्होंने सागरसे प्रकट किया और अपनी नित्य प्रिया रमाका अग्रज बनाया। उन श्रीहरिके सम्बन्धके कारण ही मैं भगवान धूर्जटिका शिरोभूषण हो सका और इस द्वापरान्तमें तो वे परात्पर पुरुष मेरे वंशमें ही अवतीर्ण हो गये हैं।

क्षीराब्धि समुद्भव होनेसे शशि सुधाकर है। वे मेरे सर्वस्व, मुझे प्रकट करनेवाले अनन्तशायी ही तो अपने एक रूपमें आदित्य हैं। चन्द्र यदि उनसे प्रकाश प्राप्त करता है तो आश्चर्य क्या है। सभी तो उन परम प्रकाशकसे ही प्रकाश प्राप्त करते हैं।

चन्द्र मनका अधि देवता है और रसका अधिदेवता है। आनन्दघन परम पुरुषके मनसे अभिव्यक्त हुआ हूँ, यही मुझे आह्लादमय, रसमय प्रकट करनेके लिए पर्याप्त है। रसिक शेखर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन अपने वासुदेव रूपमें भी भुवन-मोहन हैं। रसस्वरूप वही हैं। उन रसराजके रसन्धिुका सीकर प्राप्त करके यह शशि सुधाकर हुआ है।

श्रीहरिने अपने इस पूर्णावतारमें भी मुझे सम्मानित किया। परम भावुक रसिकजनोंकी हृदय निधि वह श्रीनन्दनन्दनकी रासक्रीड़ा—उस रास-रजनिके स्मरणके साथ तो शारदीय पूर्ण ज्योत्स्नाकी स्मृति शाश्वत हो गयी है। धन्य हो गया मैं, अन्यथा इस कलङ्की चन्द्रको कौन स्मरण करता है।

वैसे शशि कलङ्की सही, क्षय-ग्रस्त सही ; किन्तु भगवान नीललोहितका भाल-भूषण है। भगवती पद्मजाका भाई है। अतः शेषशायीके इस श्यालकको नक्षत्रपति, निशिपति तो होना ही था। यह भगवान भास्करके समान अर्घ्यका पात्र हो गया। ब्राह्मण सगर्व कहते हैं—'सोम हमारा राजा है।'

यह गौरव जिन्होंने दिया, जिनके कारणमें रसिक भक्तोंका स्मरणीय बना, उनकी कोई सेवा करपाता—श्रीवासुदेवका पराक्रमेश होकर उनके लग्नमें उच्चका हूँ ;

किन्तु श्री, प्रतिभा, पराक्रम तो उनके कृपालेशसे प्राणी प्राप्त करता है। मैं उन्हें पराक्रम देता ? वे ही तो शक्तिके परमाश्रय हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र—उनके नामके अन्तमें मेरा नाम लगाकर लोग जो महिमा देते हैं, इससे अधिक मेरी कोई भी स्तुति सम्भव नहीं है। मेरी सम्पूर्ण शक्ति समस्त सानुकूलता उसे प्राप्त होती है जो श्रीकृष्णके नामके साथ मेरा नाम संयुक्त करता है। भले उसके मनमें श्रीकृष्ण चन्द्र कहते शशिका किञ्चित् भी स्मरण न होता हो। मैं तो अपनेको उसका ऋणी अनुभव करता हूँ।

वे लीलामय सपरिकर कुरुक्षेत्र आरहे हैं सूर्य-ग्रहण स्नान करने। सूर्यग्रहण मेरी ही छाया तो है। पृथ्वी और सूर्यके मध्य मैं आता हूँ तो राहु मेरी छायाका आश्रय लेकर सूर्यके प्रकाशको तिरोहित करता है। सत्ताशून्य-प्राय छायाग्रह राहु—मेरा स्वभाव शत्रु; किन्तु इस समय मुझे प्रिय हो गया है। इस ग्रहणके निमित्त वे सर्वलोकेश्वर मेरी छायाको भी गौरवान्वित करने कुरुक्षेत्र आरहे हैं।

ग्रहण-स्नान, ग्रहणकालमें संयम, आहार- निद्रादिका त्याग पार्थिव प्राणियोंके लिए आवश्यक है। ग्रहण उनके मनको, पित्त एवं कफको विकृत करता है। अप्राकृत चिन्मय विग्रह वासुदेव नित्यनिर्विकार, उनमें विकृति तो सम्भव नहीं है।

वे ग्रहण-स्नान करने आरहे हैं। दिनमें भी उनके दर्शनका इस अवसर पर मुझे सौभाग्य मिलेगा। ग्रहणके समय मैं देख सकूँगा उनको। अन्यथा दिनमें तो मुझे अन्तर्हित रहना ही पड़ता है।

चन्द्र रसका देवता है। रसरूप वासुदेवका प्रसादंश ही मुझमें रस है, अमृत है। इस ग्रहण स्नानके समय शशि सबके लिए समन्तकपञ्चक क्षेत्रका जल सुधास्निग्ध कर देगा। जलके माध्यमसे इसे भी तो वासुदेव मिलेंगे। उनका अङ्गस्पर्श मिलेगा जलमें इसे।

—:०:—

बुध—

अवश्य बुध बालग्रह है ; किन्तु बुद्धिका, यशका, विद्याका अधिदेवता भी है। वासुदेवके साथ सम्बन्ध होनेके कारण यह और सशक्त, सतेज हो गया है। सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर श्रीकृष्णसे असम्बद्ध होकर तो जीव शक्तिसे, प्रतिभासे, श्रीसे, यशसे, सभी सद्गुणोंसे, वञ्चित हो जाता है।

श्रीकृष्णके जन्माङ्गमें पञ्चममें उच्चका बुध है। इस तिथिने बुधको ही गौरवान्वित किया है। मैं भला उन चिद्घन, कालातीत, सर्वसमर्थको क्या देसकता था ? कुण्डली उसकी होती है जिसमें प्रसुप्त कुण्डलिनी हो। जो जन्म लेकर मरने वाला हो। जो पार्थिव देहधारी हो। पुरुषकी—जीवकी ही कोई कुण्डली नहीं होती तो पुरुषोत्तमकी कुण्डली होगी ? केवल देहकी कुण्डली होती है। श्रीकृष्ण तो देह नहीं हैं। उनका श्रीविग्रह पार्थिव नहीं है। वे तो चिन्मय वपु हैं। उनकी कुण्डली कैसी ?

उन परात्पर पुरुषने लीलापूर्वक नरवपु व्यक्त किया है। तब वे जो लीला करना चाहेंगे, करेंगे। प्रकृतिके—मायाके महाधीश्वर पर प्रकृतिके पाञ्चभौतिक पिण्ड ग्रह कोई प्रभाव डाल सकते हैं ?

मुझे कोई भ्रम कभी नहीं हुआ। मैं जानता हूँ कि पञ्चममें उच्चका बुध विद्या, प्रतिभा, सुयश, सन्तानदाता होता है ; किन्तु किसे ? प्रारब्धाधीन देहधारण करने वाले मनुष्यके लिए। यह प्रभाव बुधमें है, बुध यह सब देनेमें सक्षम होगया है, यह बात पुष्ट हुई है, प्रामाणिक बन गयी है वासुदेवके आविर्भाव कालकी कुण्डलीमें इसके पञ्चममें उच्चका होनेसे। बुध बालक ग्रह होनेपर भी सुदृढ़ प्रभाव हो गया है और शुभग्रह कहलाने योग्य हो गया है। अन्यथा बुध तो अन्धड़, झन्झा, वात्याचक्रका ही प्रवर्तक है।

बुध वैष्णव ग्रह है। यह पञ्चममें बलवान होकर श्रीहरिकी भक्ति देता है ; क्योंकि श्रीकृष्णने इसे अपने जन्मांगमें यह स्थान दिया है। यह इस स्थानपर अब जिस किसीकी भी कुण्डलीमें पड़ेगा, भले उच्चका या स्वगृही न हो, मित्रगृही या शुभदृष्ट हो तो भी उसके अन्तरमें श्रीहरिके चरणोंमें प्रेम देनेका पूरा प्रयत्न करेगा।

श्रीकृष्णने अपने प्राकट्यसे मेरे कुलको गौरव दिया। मेरे पुत्र पुरुरवाके वंशमें व्यक्त हुए वे। लेकिन वे मेरे आदरणीय हैं। मैं कैसे भूल सकता हूँ कि भगवती सिन्धुजा मेरी

पितृष्वसा हैं। इस प्रकार मेरी बुआके स्वामी वासुदेव—बुध सचमुच बालक है, इन वासुदेवका स्नेहभाजन बालक। इनके होते बुध सदा बालक ही रहना चाहता है।

मैं सेवा क्या करता? सेवा करने योग्य कहा हूँ मैं। मैं इन मयूरमुकुटीका स्नेहपात्र। इनका वात्सल्य बना रहे मुझ पर यही मेरी सदा-सदाकी आकांक्षा।

अब ये लीलामय आरहे हैं कुरुक्षेत्रमें ग्रहण महापर्व पर। सहस्र-सहस्र कवि, गायक, बन्दीजन इनका भुवन-मंगल सुयश वर्णन करेंगे। कलाकारोंकी कला पवित्र होगी श्रीकृष्णका उज्ज्वल यश अपना अवलम्बन बनाकर।

बुध नीचका हो, पापग्रह संग हो, पाप-कर्तरीमें हो तब भी कोई वासुदेवका वर्णन करना चाहे तो उसकी प्रतिभाको प्राञ्जल ही करता है। भले कलाकारकी कुण्डलीमें मेरी कोई स्थिति हो, वह जिनका वर्णन करना चाहता है, उनकी कुण्डलीमें तो बुध अत्यन्त प्रबल होकर बैठा है।

कुरुक्षेत्रमें कृष्णाश्रमिनी कलाको सुयश देकर सन्तोष होगा मुझे? मैं वहाँ प्रत्यक्ष भी तो उपस्थित हो सकता हूँ। अन्ततः वहाँ मेरी बुआ—पद्मसम्भवा महारानी रुक्मिणीजी भी तो आवेंगी। उनके अन्तःपुरमें कोई गोलमुखका चपल बालक उनकी पद-वन्दना करने पहुँच जाय—वे किसीको तिरस्कृत करना जानती हैं? उनसे आशीर्वाद मिलेगा, स्नेह मिलेगा, वात्सल्य मिलेगा, इसमें कोई सन्देह है किसीको?

श्रीकृष्णचन्द्र भले पीतपट धारण करते हों और महारानी रुक्मिणी नीलाम्बर धारिणी हों; किन्तु इनके भी अंगोंपर तो ये वस्त्र मुझे सदा शुक-पक्ष हरिदाभ ही दीखते हैं। मुझे हरा रंग प्रिय है। लगता है कि मुझ शिशुको प्रसन्न करनेके लिए स्नेहवश ही दोनों ऐसा करते हैं। मैं अवश्य कुरुक्षेत्रमें दोनोंके दर्शन करूँगा। प्रत्यक्ष मिलेंगे वे मुझे।

—o—

मंगल–

अवनिका अङ्क त्यागकर किसीका मंगल कैसा ? मंगलतो भूमिपुत्र है । प्राणीका वास्तविक मंगल भूमिपर आये बिना—भू देवीका आश्रय लिये बिना तो सम्भव नहीं है ।

कर्मलोक भूलोक । शेष समस्त लोक तो उपजीवी हैं धराके । वे सब एक प्रकारके उपनिवेश ही तो हैं पृथ्वीके । स्वर्ग हो या नरक, कर्मभूमिके कर्म ही तो जीवको विविध लोकोंमें ले जाते हैं ।

मैं स्वीकार करता हूँ कि भौम—भूमिपुत्र असुर भी होता है । मेरा अनुज ही था नरकासुर । भूदेवीका पुत्र भटक जाय, अपने पिता श्रीहरिसे विमुख हो जाय तो भले अपने प्रचण्ड पराक्रमसे सुरोंको पराजित करले, होगा वह नरक ही । श्रीहरि उसे अवश्य नष्ट कर देंगे । मार दिया श्रीकृष्णचन्द्रने नरकासुरको । उनका तो स्मरण नरक-नाशक है ।

मेरा अनुज नरक था और मैं श्रेष्ठ हूं, ऐसा गर्व मैं किस आधार पर करूँगा ? मंगल अशुभ ग्रह है, क्रूर है । युद्धको प्रेरक ग्रह है ; किन्तु संघर्षमें पड़कर विजय पाये बिना किसीका मंगल होता है । संघर्ष शत्रुओंसे ही होगा । शत्रु बाहरी भी हो सकते हैं और आन्तरिक—मनके भीतरके भी ; किन्तु उन्हें विजित करना अनिवार्य है या नहीं ? विजय जिसकी अनुकूलता पर अवलम्बित है, उसका नाम ऋषियोंने मंगल रखकर कोई भूलकी है ?

मैं भौम हूँ । भूदेवी मेरी माता हैं । मेरे पिता गरुड़ासन मङ्गलायतन हैं, अतः मैं मङ्गल हूं । अङ्गारक—अरुण लोचन तो मेरे स्वरूप सूचक नाम हैं । सघर्षका प्रेरक ग्रह अङ्गार वर्ण तो होगा ही ।

मयूरमुकुटी वासुदेवका धरापर प्राकट्य भूभार हरणके लिए ही हुआ है न ? भूभार बिना संघर्षके कैसे दूर होगा ? उनकी कुण्डलीके नवम स्थानमें उच्चका स्थिर होकर मैं यही तो सूचित करता हूँ कि ये परात्पर पुरुष अवतीर्ण हुए हैं संघर्षके लिए । संघर्ष उनका भाग्य है, उनका धर्म है और संघर्ष भी छुद्र नहीं, महत्तम । उच्चका संघर्ष ।

वे अजित हैं, उन्हें अपेक्षा नहीं है ; किन्तु जहाँ संघर्ष होगा, वहाँसे संघर्षका अधिदेवता अनुपस्थित कैसे रहेगा । अतः वे असुरोंसे संघर्ष करें, सुरोंसे करें अथवा

मानव नरेशोसे करें, भौमके तो वे परमादरणीय पिता हैं। पुत्र अपने पिताके पदोंका अनुसरण ही तो करेगा। वे जिसकी ओर भौहों पर दृष्टि डालते हैं, मंगलकी अङ्गार दृष्टि उस पर पहिले से।

भूदेवी ही तो भगवती सत्यभामाके रूपमें उनके अन्तःपुरमें हैं। भौम तो उनका पुत्र है, उनका स्नेह भाजन पुत्र। भाग्यवान हैं उस अन्तःपुरके मेरे दूसरे सब अनुज। उन्हें माता-पिताका सान्निध्य प्राप्त है। यह भाग्यहीन भौम ही है कि ग्रह बनकर अन्तरिक्षमें भटकता फिर रहा है। सन्तोष इतना कि यह उन्हीं पिताका विधान है। उन्हींकी सेवा है।

अब वे चिद्धन, नित्यनिर्विकार आरहे हैं सूर्य-ग्रहण-स्नान करने कुरुक्षेत्र। मेरी माता—मेरी सब माताएँ साथ आवेंगी। मेरे सब अनुज सपत्नीक आवेंगे उनके साथ। यह भौम ही ऐसा है कि इसके लिए उनके समीप कोई स्थान नहीं है?

ऐसा नहीं हो सकता। मंगल–युद्धकारी ग्रह मंगल सुरक्षा भी तो देता है। तब यह प्रहरी क्यों नहीं हो सकता? जिनका स्मरण, जिनका नाम ही भयानक भवाटवीके समस्त संकटोंसे प्राणीको सर्वथा सुरक्षित रखता है, उन्हें कोई अन्य सुरक्षा प्रदान करेगा? उन चक्रपाणिका महाचक्र कभी प्रमत्त होता है कि उन्हें किसी अन्य प्रहरीकी आवश्यकता होगी?

सेवा आवश्यकता देखकर तो नहीं हुआ करती। उन श्री और भूदेवीके स्वामीको कभी कोई आवश्यकता होने वाली है? इतनेसे ही समस्त सचराचरके उन परमसेव्यकी सेवा कोई छोड़ देगा? सेवा होती है अपनी श्रद्धासे। अपनेको परिपूत करनेके लिए, अपनी कृतार्थता को।

भौम क्षत्रिय है। यह सामान्य क्षत्रियके समान शस्त्रपाणि उनके शिविर द्वारपर उपस्थित रहेगा। वहाँ तो मेरे मेष-वाहनका प्रयोजन नहीं है और न वृश्चिक पीठ ही आवश्यक है। मंगल वहाँ धनुष्पाणि प्रहरी रहेगा। अन्ततः वृश्चिकादि उत्पीडक कीटोंसे यह सुरक्षा तो दे ही सकता है।

मेरे ज्ञानघन पिता देखकर प्रसन्न होंगे। उनके चन्द्रानन पर स्मित आवेगा। मुझे मेरी माताओंकी पद-धूलि प्राप्त होगी। निकटसे देखनेको मिलेंगे मुझे अपने अनुज।



शनि—

अशुभ ग्रह है शनि ; किन्तु अनुकूल होने पर यह अत्युच्च पद नहीं देता ? यदि उत्तम तृणाकर्षी अनुकूल नीलम मिल जाय, शनिका विपरीत प्रभाव भी अत्यन्त अनुकूल नहीं हो जाता ?

वासुदेवके जन्माङ्गमें तो उच्चका शनि है उनके शत्रु स्थानमें। वे कुछ न भी करें, उनका अचिन्त्य प्रभाव भी निष्क्रिय रहे, तो भी उनके शत्रु शनिकी दृष्टिसे सुरक्षित रहनेकी आशा कर सकते हैं ?

वे नित्य निर्विकार न भी होते, शनिके षष्टम उच्चस्थानीय रहते कोई रोग उनकी ओर देखने वाला था ? शनि उच्चका है, अपने अनुकूल स्थान पागया है उनके आविर्भाव कुण्डलीमें ; किन्तु बीचका होता, अत्यन्त प्रतिकूल स्थानमें भी होता तो कर क्या लेता ? उन मयूर मुकुटीसे उत्तम, विशाल दिव्य प्रभाव, सचराचराकर्षी नीलमणि सृष्टिमें सम्भव है ? शनि उनके प्रतिकूल प्रभाव प्रकट करनेमें समर्थ हो पाता ?

वासुदेव मेरे सेव्य हैं, मेरे स्नेह भाजन हैं। संयमिनीके स्वामी धर्मराजके समान ही तो यमुना मेरी भी सगी स्वसा है। पितासे मेरी भले न पटती हो, अपनी बहिन पर मेरा यमसे कम स्नेह है ? लोकमें, ग्रहमण्डलमें अपने बड़े भाईसे पिछड़ जाऊँगा ?

श्रीकृष्णचन्द्रका जो स्मरण करते हैं, जिनके अन्तरमें क्षणिक स्मृति भी उन नील सुन्दरकी आती है, उनका प्रतिकूल, साढ़ेसाती दशाको प्राप्त, अपनी महादशा या अन्तर्दशाका शनि भी उनके सानुकूल हो जाता है। केवल यही सेवा मैं अपने इन वनमालीकी कर सकता हूँ। अन्यथा उन सर्वसमर्थ, श्रीरमाकान्तको मुझ जैसे क्रूर, अशुभ, शूद्र ग्रहकी सेवाकी अपेक्षा है ? मेरे लिए कहाँ अवसर है कि मैं उनकी कोई सेवा कर सकूँ।

सूर्यपुत्र होकर भी शनि शूद्र हो गया। किसीको कोई उपालम्भ। नहीं अपने कर्मदोषसे, अपनी क्रूरतासे ही मैं ऐसा हो गया। लेकिन शूद्र होकर भी सेवा-वञ्चित। अपने परम श्रद्धाभाजन वासुदेवकी भी सेवाके अयोग्य बना दिया सृष्टि-कर्ताने मुझे। मैं विष दृष्टि हूँ। उन सजल जलद श्यामसुन्दरका दूर गगनसे भी दर्शनका अनधिकारी।

शूद्रग्रह कहकर संसार शनिका तिरस्कार करता है, उचित तिरस्कार करताहैं। यह

शूद्र सेवातो क्या करेगा, उत्पीडक न हो जाय, यही कुशल मानते हैं ज्योतिर्विद ; किन्तु यह दोष तो इसे किसीने नहीं दिया कि शनिमें अपनी भगिनीका प्रेम नहीं है। शनिवारको अश्वत्थका सिञ्चन, वहाँ दीप-दान, पूजन तथा आलिंगन उसका, शनिको सनुकूल क्यों कर देता है ? इसीलिए तो कि उस दिन अश्वत्थमें सिन्धुसुता निवास करती हैं और शनि कालिन्दीके नाते उन्हें भी बहिन ही मानता है।

शनि शूद्र ग्रह है। इसके अनुरूप होता कि यह इस समय कुरुक्षेत्रमें अपने शूद्ररूपमें उपस्थित होकर स्वच्छता करनेकी सेवा करता। सूर्य-ग्रहणके समय ग्रहण-खिन्न, हतप्रभ पिता अपने कुपुत्रकी यह सेवा देखकर प्रसन्न होते। कुछ तो उनका वात्सल्य जागता।

पिता न भी प्रसन्न होते, मैंने ही कब उनकी प्रसन्नताकी अपेक्षाकी है ; किन्तु सबको उत्पीडित करने वाले इस पापी ग्रहको कुछ तो पुण्य प्राप्त होता। लक्ष-लक्ष श्रद्धालु, धर्मात्मा तीर्थयात्री आवेंगे। उन सबके द्वारा जो तीर्थ स्थलमें मलिनता उत्पन्न होगी, उसे स्वच्छ करते रहनेमें मुझे कोई ग्लानि नहीं है। मैं कर सकता तो अवश्य करता। सेवाका कितना महान सुयोग था यह।

यह सेवा भी कर पाता तो अपने स्वार्थवश ही करता। पुण्य-पाप हम ग्रहोंको हुआ नहीं करता, यह जानता हूँ ; लेकिन इस अवसर पर कुरुक्षेत्र मेरी बहिन आवेगी, उसकी सबकी-सब सपत्नियाँ आवेंगी, उनके कुमार आवेंगे और आवेंगे मेरे परम श्रद्धा भाजन श्रीवासुदेव। मैं इन सबकी सेवा कर पाता ....।

मुझे सृष्टिकर्त्ताने यह सौभाग्य भी प्राप्त करने योग्य नहीं बनाया। मेरी दृष्टि वहाँ किसी पर भी पड़नी नहीं चाहिये। वहाँ असंख्या लोग आवेंगे। मेरी विष दृष्टि—मैं वहाँ जानेका अधिकारी नहीं हूँ।

यह कल्पान्तके समय होने वाले ग्रहणके समान खग्रास ग्रहण—आकाश दिनमें निशाके समान अन्धकाराच्छन्न हो उठेगा। सब ग्रह, नक्षत्र, तारक चमकने लगेंगे। शनि अपने पूरे प्रकाशसे चमकेगा। वासुदेव अपने इस श्यालकको गगनमें देखकर प्रसन्न होंगे। यमुना अपनी सपत्नियोंको, सबके कुमारोंको हाथ उठाकर दिखावेगी। 'वह मेरा भाई शनि।' यह सौभाग्य मुझे मिलेगा।

—:※:—

राहु—

अमृत पी लिया असुर स्वर्भानुने देवताओंकी पंक्तिमें बैठकर। माता सिंहिका छाया पकड़कर प्राणीको खींच लेनेवाली, उसके पुत्रके साथ छल नहीं किया जा सकता था। लेकिन सूर्य और चन्द्रने संकेत कर दिया और विष्णुने अपने चक्रसे स्वर्भानुकासिर काट डाला। अमृतपानसे अमर असुरको मारा नहीं जा सकता। सिर मैं और मेरा धड़ केतु। केतु न सोच सकता, बोल सकता, और मैं केवल सोच सकता हूँ, बोल सकता हूँ, कर नहीं सकता कुछ।

ब्रह्माको भय होगा कि सिर और धड़ मिलकर फिर जीवित न हो जायँ, उन्होंने हमें समानान्तर गति दे दी ग्रह बनानेके पश्चात्। हम दोनों कभी एकत्र नहीं हो सकते। हमारा अमरत्व नहीं मिटाया जा सकता था; किन्तु हमें स्थूल देह—ग्रहपिण्ड नहीं प्राप्त हुआ। हम छाया ग्रह बनाये गये। पृथ्वी और चन्द्रकी छाया ही हमारा शरीर। हम इस छायाके अधिष्ठाता। छाया पुत्रकी यह स्थिति कोई असंगत नहीं कहेगा।

पृथ्वीकी छाया चन्द्रको और चन्द्रकी छाया सूर्यको अच्छादित करेगी ही अनुकूल पर्व पाकर। हम उस समय चन्द्र या सूर्यके अधिदेवताओंको उत्पीडित करनेका अवसर पा जाते हैं। अत्यल्प कालका अवसर सही, अपनी शत्रुता तो हम असुर त्याग नहीं सकते।

मेरी माताको पवनपुत्रने मारदिया त्रेतामें समुद्र पार करते समय।※ रुद्रांश उन केशरी-कुमारसे मुझे भय लगता है। मैं उनके आराधकोंको पीड़ा देनेसे सदा बचता हूँ। उन महावीर तथा उनके उपासकोंसे दूर ही रहना अच्छा है।

श्रीहरिने अपने चक्रसे भले एक देहके दो खण्ड कर दिये; किन्तु उनकी अनुमति न होती, ब्रह्मा हमें ग्रह बना पाते? हमारा अमृत पान कोई अर्थ रखता था उनके चक्रके सम्मुख? जिस चक्रने दो खण्ड किये थे, वह सहस्र खण्ड करनेमें समर्थ नहीं था? पर श्रीहरि किसीके प्रति सचमुच कठोर नहीं हो पाते। उनके स्वभावमें कठोरता है ही नहीं। हमने छल किया, पर दण्ड भी उनका पुरस्कार नहीं है? कोई असुर भी क्या ग्रह बननेका कभी अधिकारी हो सकता था? विप्रवर्ग प्रत्येक पूजन में, यज्ञमें प्रारम्भ में ही नवग्रह-पूजन करते हैं। हम लोक पूज्य हो गये। देवता ग्रहोंके साथ पूजा प्राप्त करने लगे, यह उन हरिका ही तो अनुग्रह है।

※ रामचरित तृतीय खण्डमें यह कथा पूरी है।

अब इस द्वापरमें वही हरि श्रीद्वारिकाधीश हुए हैं। सुर प्रमाद कर सकते हैं। इन्द्रतो प्रमादी ही है। वह अपने इन परम सहायक, अपने उपकर्ता से भी उलझने--युद्ध करनेमें हिचकता नहीं। पराजयके अतिरिक्त उसे क्या मिलना था। कोई हिमालय पर सिर पटकेगा तो पर्वत टूटेगा ? लेकिन इन्द्र कृतघ्न होनेके साथ निर्लज्ज है। वह पराजित होकर ही सुपथ पकड़ता है।

हम असुर क्रूर सही, कृतघ्न हैं—ऐसा दोष हमें कभी किसीने नहीं लगाया। हम जैसे शत्रुता नहीं भूलते, किसीका उपकारभी भूला नहीं करते। मैं कैसे भूल सकता हूँ कि उन घनसुन्दरने ही मुझे ग्रह होनेका सम्मान प्रदान किया है। उनकी कोई सेवा नहीं कर पाता, यह तो मेरी विवशता है।

वे कमल-लोचन सपरिवार कुरुक्षेत्र आ रहे हैं ग्रहण-स्थान करने। ग्रहण तो लगेगा ही। मैं इसे रोक नहीं सकता। सृष्टिके विधानमें परिवर्तन सम्भव भी हो तो वह मेरे वशका तो है नहीं। सूर्य-ग्रहण होगा सूर्य पर चन्द्रकी छाया पड़नेसे। मैं तो उस छायाका अधिदेवता हूँ। मैं इस घटनाको रोक सकता—रोकता नहीं। वासुदेवकी तीर्थ-यात्रा, उनके सुहृद-मिलनमें बाधा नहीं बनता।

वे लोकनाथ चाहते हैं। कि सूर्यको कष्ट न हो—सूर्य उनके स्वसुर भी तो हैं, नहीं होगा सूर्यको कष्ट। भले खग्रास ग्रहण हो, राहु सूर्यको इस बार उत्पीडित नहीं करेगा।

ग्रहणका शुभाशुभ फल—खग्रास ग्रहणका फल भी उतना ही महान। यह फल वासुदेवके जो अनुकूल हैं, उनके अनुकूल रहेगा और जो प्रतिकूल हैं, उनके प्रतिकुल। यह नियम तो राहुने अब सदा-सदा को अपना लिया।

मैं असुर हूँ, ग्रहोंमें श्वपच हूँ और हाथ-पैर-धड़से रहित हूँ। कुरुक्षेत्र जाकर भी कोई सेवा नहीं कर सकता; किन्तु ग्रहणके समय यह छायाग्रह छायामें स्थित होकर भुवन सुन्दर वासुदेवके दर्शन तो कर ही सकता है। जलमें ग्रहणकी छाया देखकर वे कमल लोचन भी इसका स्मरण करेंगे।



अश्विनी कुमार—

विचित्र बात है कि किसीको यह स्मरण ही नहीं रहता कि हम दोनों सुरवैद्य भी भगवान भास्करके ही पुत्र हैं और संयमिनीके स्वामी धर्मराज हमारे भाई ही हैं। क्या हुआ कि हमारी माता संज्ञाने वड़वाका ※ रूप धारण करके हमें उत्पन्न किया। केवल इतने से—माताके रूप परिवर्तन मात्रसे ही तो हम कालिन्दीको बहिन कहनेके अधिकारसे वञ्चित नहीं किये जा सकते।

वासुदेवके साथ कल्पित सम्बन्ध भी व्यक्तिको परम पावन बना देता है और हम तो उनके सगे श्यालक हैं। हमारी सगी बहिन यमुना उनकी पट्टमहिषी हैं।

वे मयूर मुकुटी बलपूर्वक सुरोद्यानसे सुरतरु ले गये। उनकी उदारता कि उन्होंने इतने दीर्घकाल तक अमरावतीमें कल्पवृक्ष रहने दिया, अन्यथा वह तो उनका था ही। किसी औरने क्षीरोदधि-मन्थन करके उसे प्रकट किया था? इन्द्रकी मूढ़ता जो उनसे युद्ध करने गया।

उन्हें आवश्यकता नहीं है, होती तो वे अमृत कलश भी ले जाते। अमृत कलश तो गरुड़ ही ले जा चुके थे अमरावतीसे, तब इन्द्र रोक पाये थे विनता-नन्दनको? वे गरुड़ कहीं गये तो नहीं हैं। श्रीकृष्ण गरुड़ारूढ़ ही आये थे अमरावती, इसे भी जो न देखे वह सहस्राक्ष होकर भी अन्धा ही तो है।

उन्हें अमृतकी आवश्यकता होती— हम सुरवैद्य मर तो नहीं गये हैं। हमारी औषधियोंमें अमृताधिक शक्ति है, यह सिद्ध हो जाता; किन्तु अमृत तो उनकी दृष्टिसे, उनके संकल्पसे जीवन पाता है। उनके अन्तःपुरमें, उनकी पुरीमें, उनकी प्रजामें मृत्युका, रोगका, आधियों तकका प्रवेश नहीं है। अमृत तो वहाँके क्षुद्र कीट तकके लिए व्यर्थ द्रव है। कौन पूछेगा उसे द्वारिकामें?

हम सुर-वैद्य हैं। सुर अमृतपान करके अमर सही; किन्तु जब कोई असुर आक्रमण करता है, युद्धमें अमर आहत होते हैं और तब हमारी आवश्यकता होती है उन्हें। केवल अमरत्व किसीको स्थिर स्वास्थ्य एवं क्षत, व्रण रहित जीवन नहीं दिया करता।

※ घोड़ी।

द्वारिका तो विकारहीन पुरी है। जब तक श्री द्वारिकानाथ वहाँ हैं, वहाँ किसी विकारका ही प्रवेश नहीं। सुरोंको हमारी अपेक्षा है; किन्तु द्वारिकामें हमें सेवाका कोई अवसर अब तक नहीं मिला। मिलनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है। हम अपनी सगी बहिन, उसकी सपत्नियों, सन्तानोंकी भी कोई सेवा नहीं कर सके। कोई उपहार नहीं दे सकने योग्य हैं कहाँ?

अब वासुदेव सूर्य-ग्रहण पर सपरिवार कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उनके परिवारोंको तो क्या, उनके वाहनोंको भी श्रान्ति स्पर्श नहीं करती। वे कमल-लोचन सस्नेह जिन्हें देख लेंगे, जिनपर उनकी सुधास्रावी दृष्टि पड़ेगी, उनमें श्रान्ति रह जायगी?

सेवाका अवसर कुरुक्षेत्रमें भी नहीं है; किन्तु वह तो निकालना पड़ेगा। कुरुक्षेत्रमें हमारे परमाराध्य, परमादरणीय वासुदेव आ रहे हैं, हमारी बहिन और उसकी सपत्नियाँ आ रही हैं, उनके पुत्र-पौत्र आ रहे हैं। इस अवसर पर जो भी कुरुक्षेत्र आ रहे हैं, उन्हें उनके बिना जाने ही सुरवैद्योंकी सुश्रूषा उपलब्ध रहेगी।

ग्रहणके समय पदार्थोंमें आने वाली विकृति नहीं आवेगी। जलमें हमारी क्लान्ति-श्रान्ति-निवारिणी, बल-ओज-स्फूर्तिदायिनी औषधियोंका सार सम्मिलित रहेगा। वायु हमारे सर्वोत्तम शक्तिदायिनी सूक्ष्मगन्धा औषधियोंको सबके भीतर श्वासके द्वारा पहुँचाते रहेंगे। पृथ्वीका कण-कण दिव्यौषधियोंके रससे सिञ्चित रहेगा। कुरुक्षेत्रमें जो भी काष्ठ आवेगा, औषधि-परिसिक्त होगा। उसके जलानेसे सुरभि निकलेगी। उसके धूम्रसे नेत्र निर्मल एवं सतेज होंगे। वह श्वाससे शरीरमें जाकर विकृति-निवारण एवं बलदायी बनेगा।

हम दोनोंके लिए सेवाका अवसर है। हम सेवा करेंगे—अप्रमत्त सेवा करेंगे। कुरुक्षेत्र आने वाले प्रत्येक प्राणीकी सेवा करेंगे हम इस अवसर पर। कुरुक्षेत्रके इस महामेलाके हम अनिर्वाचित, अघोषित, स्वेच्छा-स्वास्थ्याधिकारी। हमारा सौभाग्य कि हमें सेवाका यह अवसर मिलेगा।

वासुदेव सपरिवार आवेंगे। हमें उनकी पद-रज प्राप्त होगी। हमें उनके स्वजनोंकी सेवा प्राप्त होगी। हमें उनका सान्निध्य मिलेगा। वे हमारे पूज्य हमारे अपने मिलेंगे हमें।



विश्वकर्मा—

अमरोंकी सेवा तो मेरी विवशता है। आवश्यकता अथवा विधानसे विवश व्यक्ति कहीं जाता है, किसीकी सेवा करता है तो इसमें सेव्यका तो कोई गौरव नहीं है। गौरव है उसका जिसकी सेवा, जिसका सामीप्य कोई श्रद्धा या प्रेमके कारण प्राप्त करना चाहता है।

इन्द्रने मेरे भाई तपस्वी विश्वरूपको निरपराध मार दिया। मेरे पिता त्वष्टाने उचित किया वृत्रको उत्पन्न करके। महान था मेरा भाई वृत्र। क्या हुआ जो उसने असुरोंका नेतृत्व वरण किया। सुरोंको और सुरेन्द्रको भी उसने अच्छी शिक्षा दी—ऐसी शिक्षा कि शक्रमें लज्जा होती तो फिर कभी उसे भूलता नहीं। लेकिन शक्र तो निर्लज्ज है।

महाभागवत वृत्र, उसे असुर कहने वाले भागवतापराधी हैं, और वह असुर भी था तो हुआ क्या ? असुर अमरोंसे हीन कहाँ हैं किस अर्थमें हैं ? सुर क्या कम भोग लोलुप, स्वार्थी अथवा नृशंस हैं ?

मैं सुरोंका सेवक हूँ, यह मेरी विवशता सृष्टिकर्ताके विधानसे विवश हूँ मैं। अन्यथा अमरावतीको सज्जित करनेमें मुझे कितनी रुचि है—मैं ही जानता हूँ।

मुझे सौभाग्य प्रदान किया वासुदेव ने। उन सर्वेश्वरेश्वरको द्वारिका-निर्माणके लिए विश्वकर्माकी आवश्यकता थी ? उनके भ्रू-संकेतसे महामाया अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि पलार्धमें कर देती हैं। द्वारिका निर्माणके लिए उन कमल-लोचनने मेरा स्मरण किया, अचिन्तित अनुग्रह उनका। विश्वकर्मा धन्य हो गया उनकी पुरीका निर्माण करके।

उन्होंने अपने प्रिय पाण्डवोंकी पुरी इन्द्रप्रस्थके निर्माणका अवसर दिया मुझे। उनका वात्सल्य—उन्होंने अपने इस सेवकको स्परण किया। उस समय तो दानवेन्द्रमय थे समीप ही खाण्डव वनमें। दानव महाशिल्पी मय—निर्माण कलामें मेरे एकमात्र प्रतिस्पर्धी और मुझमें साहस नहीं है कि मैं उनको अपनेसे तनिक भी कम कहूँ। अनेक विद्याओंमें वे मुझसे वहुत महान हैं। श्रीकृष्णचन्द्र सन्देश भेज देते, पुकार ही लेते तो मय किञ्चित विलम्ब करते ?

खाण्डव, दाहके पश्चात् मयने कितने दैन्यसे कोई सेवा मांगी थी वासुदेवसे ? उन्हें युधिष्ठिरकी राजसभा निर्माणका अवसर मिला। कितने प्रसन्न हुए थे दानवेन्द्र। उनके द्वारा निर्मित वह सभा-भवन—मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरे करोंमें उतनी कला, उतना कौशल नहीं है। मेरे द्वारा निर्मित पुरी उस सभा-भवनके सम्मुख भी हीन लगती है। मेरी स्पर्धामें जो ऐसा भवन बना सकते हैं, वे कितने प्रसन्न होते यदि उन्हें पूरा इन्द्रप्रस्थ-निर्माणका अवसर प्राप्त हुआ होता।

वासुदेवने इस सुरशिल्पीको अपना सेवक माना, इसे सौभाग्य दिया, इसे अपनाया। विश्वकर्माके वे नवधन सुन्दर ही स्वामी हैं। यह उन्हींका सेवक है। जन्म-जन्म तक यही उन्हींका सेवक रहना चाहता है।

वे वनमाली वासुदेव ग्रहण-स्नान करने कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उनके साथ उनका परिवार, स्वजन, परिजन पधार रहे हैं। व्रजके उनके अपने लोग आ रहे हैं उनके श्रीचरणोंमें अनुराग रखने वाले मुनिगण, नरपति तथा दूसरे लोग आ रहे हैं। सबको सुविधापूर्ण आवास चाहिये। तीर्थके उपयुक्त आवास चाहिये।

कुरुक्षेत्रमें स्वर्ण-सौध बनाये नहीं जा सकते। पहिलेसे प्रस्तुत भव्य भवन चौंकायेंगे तीर्थयत्रियोंको। तीर्थयात्री किसीके अतिथि नहीं हो सकते। नरपतिगण अपने वस्त्र शिविर नहीं भी ला सकते हैं। उनके तीर्थ-पुरोहित उनके आवासका प्रबन्ध करेंगे। मैं श्रीवासुदेवके तीर्थपुरोहितका प्रमुख शिल्पी तो बन ही सकता हूँ। दूसरे तीर्थपुरोहितोंसे भी निर्माण सेवाका दायित्व मिल सकता है मुझे।

ऋषि-मुनि, विप्रगण, दूसरे सामान्य जन, व्रजका समाज, वासुदेवके स्वजन, सब आ रहे हैं। सबकी रुचिके अनुकूल, सबकी सुविधाके अनुकूल आवास-निर्माणका अवसर मिला है मुझे।

विश्वकर्माकी कला केवल सुदृढ़ सौधोंमें ही व्यक्त नहीं हुआ करती। यह सुर शिल्पी वस्त्र एवं तृण कुटीरोंको भी भव्य बना सकता है, यह व्यक्त करनेका प्रथमावसर प्राप्त हुआ है इस बार।

मैंने अपने निपुणतम सेवक भेज दिये हैं कुरुक्षेत्र। मैं वहाँ स्वयं चल रहा हूँ। वहाँ मुझे वासुदेवकी सेवा पुनः प्राप्त होगी।

—÷—

पितृ-प्रधान अर्यमा----

अर्यमा पितृलोकका अधिपति है, इसका क्या अर्थ ? पितृलोक कोई भोग-लोक तो है नहीं। जन्मके उपयुक्त अवसरको प्राप्त करनेकी प्रतीक्षामें स्थित उन जीवोंका लोक, जिनके अपने कर्म संस्कार अभी भोगोन्मुख नहीं हुए हैं और जिनकी आसक्ति मर्त्यलोकसे आबद्ध है। जिनकी मानसिक क्षुधा-तृष्णाकी निवृत्ति उनके स्वत्वाधिकारी वंशजों पर निर्भर है।

इस प्रकार मेरा लोक एक प्रकारका प्रतीक्षालय है और मैं यहाँका अधिपति हूँ अर्थात् व्यवस्थापक हूँ। मेरे लोकमें केवल कर्मयोनिके प्राणियोंको—मनुष्योंको ही मरकर आना है। उनके वंशधर—स्वत्वाधिकारी उनके लिए जो श्राद्ध-तर्पण, पिण्ड-दानादि करते हैं, उनके निमित्त जो वापी-तड़ाग, उद्यान देवस्थान निर्माणादि करते हैं, पुराण पाठ, जप-तपादि करने हैं, वह कव्य* उनके पितरों तक पहुँचा देना अर्यमाका कार्य है। इस प्रकार अर्यमा कोई भोग-लोकका स्वामी नही है। मैं तो मनुष्योंका ही एक सेवक हूँ। उनके देह त्यागके पश्चात् प्रतीक्षारत रहने तकका–प्रतीक्षा लोकका—सेवक।

जानता हूँ कि मुझे केवल उन मनुष्योंकी सेवा प्राप्त होनी है जो मनुष्य होकर भी मनुष्यत्वको सार्थक नहीं कर पाते। जो मनुष्य जीवन पाकर भी आवगमनसे मुक्त नहीं होते। जो पुनः भोगयोनियोंमें लौटने वाले हैं, अथवा जिन्हें अपनी साधना पूर्ण करनेके लिए और जन्म ग्रहणकी कपेक्षा है।

भोगयोनिके भी जीव देहत्यागके पश्चात् मेरे यहाँ आ सकते हैं, यदि उनको दूसरे शरीरकी प्राप्तिका संयोग मिलनेमें विलम्ब हो ; किन्तु वे अल्पकाल रहते हैं मेरे यहाँ और यहाँ रहते हुए उन्हें भी भोग तो उनके मानव-देहके ही उत्तराधिकारियोंसे मिलना है। अतः उनकी स्मृति और ममता उनके पूर्व मानव-देहकी जाग जाती है। मेरे लिए वे भी मानव-देहसे आयेके समान ही रहते हैं।

मेरे यहा योगभ्रष्ट या ज्ञानके साधक ही नहीं आते तो श्रीवासुदेवके चरणानुरागी आवेंगे ? उन श्रीहरिकी शरण-ग्रहण करने वाला तो उसी क्षण कर्म-नियन्ताके शासनसे

---

* पितरोंका अन्न-आहार।

परिमाण पा जाता है। उसे मुझसे, धर्मराजसे प्रयोजन ? वह स्वर्ग भी पहुँचे तो देवराजका सम्मान्य अतिथि रहेगा। उसके स्वामी ही उसकी गतिके विधायक हैं।

वासुदेवकीं सेवा तो दूर, उनके किसी जनकी सेवा भी अर्यमाको कभी प्राप्त होने वाली नहीं। अर्यमा केवल सन्तोष कर सकता है कि उसके लोक आने वालोंमें भी कभी कोई वासुदेव-पद-पंकरुहका आश्रयण करेगा।

वासुदेव कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। सूर्य-ग्रहणका स्पर्श-स्नान करके वहाँ आये सब श्रद्धालु तीर्थयात्री जप, हवनादि करेंगे, मध्य-स्नान करके दान करेंगे और ग्रहका मोक्ष-स्नान करके पितृतर्पण करेंगे। मेरे लोकके प्रायः सभी पितरोंको अपना स्वधा भाग लेने कुरुक्षेत्र जाना है। अभी द्वापरान्त है धरापर। अभी तो कोई लुप्तपिंडोदक हुआ नहीं है। यह तो कलियुग आवेगा तब मेरे लोकमें भी तर्पण-श्राद्ध वञ्चित मानसिक क्षुधा-तृषा पीड़ित कंगाल बनेंगे पितृगण।

जब उत्तराधिकारी पैतृक धनका दुरुपयोग करते हैं, उसे अनाचार-अत्याचरमें व्यय करते हैं, तब उनके पापसे मेरे लोकसे पितर नरकोंमें पतित होते हैं। मुझे उन पतनोन्मुखोंको, उन तर्पण-श्राद्ध वञ्चित वुभुक्षितोंको देखकर दया आती हैं ; किन्तु अर्यमा कुछ कर तो नहीं सकता।

कलियुग आसन्न है। आसन्न है पितृलोकमें अकालका आगमन ; किन्तु अभी नहीं। जब तक वासुदेव धरापर हैं, तब तक नहीं। अभी तो मेरे लोकके सबके सब लोगोंको कुरुक्षेत्र पुकार रहा है। सबके वंशधर आ रहे हैं वहाँ।

सर्वकारण-कारण, आदि पुरुष वासुदेव ही पितामह हैं वैसे भी अभी उनके इस अवतारके पितामह शूरसेन जी विद्यामान हैं। अतः वासुदेवको तो श्राद्ध-पितृ तर्पण करना नहीं है ; किन्तु वे सूर्यको अर्ध्य तो देंगे ही और इस लाघन मासका सूर्य-मण्डललाधिष्ठता यह अर्यमा है।※ मुझे पुरुषोत्तम वासुदेवका अर्घ्य वहाँ कुरुक्षेत्रमें प्राप्त होगा।

राहुका कल्याण हो। उसके कारण यह ग्रहण होगा। मुझे उससे ग्रस्त होनेका भय नहीं है। ग्रहण-मुक्त होने पर कुरुक्षेत्रसे वासुदेवके करोंका अर्घ्य प्राप्त करूँगा। परम पुरुष मेरा स्मरण करेंगे।

※ श्रीमद्भागवत १२/११/३४—

—:०:—

पितृगण—

अपना कुल, अपना परिवार, अपनी सन्तान—शरीर छूट गया; किन्तु यह मोह छूटता नहीं है। जो सबसे प्रिय, सबसे निकट था, वह शरीर ही अपना नहीं हुआ और उस शरीरके कारण जो अपने बने थे, वे अब भी अपने बने रहेंगे— हायरी दुराशा !

अपना धन, अपना भवन, अपनी सम्पत्ति—अब भी यह अपना-अपना ! उस धन-भवन-सामग्री पर दूसरोंने अधिकार कर लिया। वे उसका उपयोग करनेमें हमारी रुचिकी-इच्छाकी किञ्चित् भी चिन्ता नहीं करते और तब भी उस सबका मोहा ! तब भी उसे अपना मानना—अज्ञानकी भी अपार महिमा है।

शरीर स्थूल नहीं है। स्थूल शरीरकी कोई आवश्यकता नहीं है; किन्तु मनकी लिप्सा नहीं मिटी। अब भी अमुक स्वाद, अमुक गन्ध चाहिए। अब भी मनकी क्षुधा-तृष्णा व्याकुल करती है। वासनाने विक्षिप्त बना रखा है।

पदार्थ तो किसीके हैं नहीं। भूमि, धन, आदि सर्वेश्वर वासुदेवके। उन्हें अपना मानकर परिग्रह किया, उनसे ममताकी तो वे दुःख नहीं देंगे ?

अब वे पदार्थ उत्तराधिकारियोंको प्राप्त हो गये। उसका वे कैसा उपयोग करेंगे, यह उनकी इच्छा; किन्तु उन पदार्थोंमें, उन उत्तराधिकारियोंमें ममत्त्व पदार्थोंके सदुपयोग-दुरुपयोगसे पाप-पुण्यका भागी यहाँ भी बना रहा है।

अब भी आशा लगी है कि वे उत्तराधिकारी पिण्डदान करेंगे, यव-तिल युक्त अञ्जलि देंगे। स्थूल देह गया ; किन्तु पदार्थके माध्यमसे तृप्ति प्राप्त करनेकी तृष्णा नहीं गयी। इस तृष्णाने व्याकुल एवं पराधीन बना रखा है। परमुखापेक्षी कर रखा है। पितृलोकमें रहकर भी पृथ्वीके स्वजनों पर ही दृष्टि लगी रहती है।

अब सूर्य-ग्रहण महापर्वमें अपने उत्तराधिकारी कुरुक्षेत्र आवेंगे। वे ग्रहण-स्नान करके तर्पण करेंगे—कितनी कंगाल वृत्ति, कैसी दयनीय स्थिति है हम सबकी !

कुरुक्षेत्रमें परम पुरुष वासुदेव भी पधारेंगे। जीवनमें उनके चारु-चरणोंका स्मरण नहीं हुआ—हुआ होता यहाँ इस प्रतीक्षा लोकमें क्यों पड़े होते ? अब इस आतिवाहिक देहसे किये कर्मोंका कोई फल नहीं। यह तो स्वप्न शरीर जैसा है और स्वप्नोपम हैं इसके कर्म।

वासुदेव तो चिद्घन हैं। वे आनन्दघन तो आदि पुरुष हैं—सबके मूल, सबके सच्चे पिता। हम सब उन्हींकी तो सन्तान हैं। हम अज्ञ, हमने उनका स्मरण नहीं किया ; किन्तु वे तो दयार्णव हैं।

हमारे स्वजनोंमें, उत्तराधिकारियोंमें कोई कुरुक्षेत्र न भी आवे, ऐसे तो शत-सहस्र लोग आवेंगे जो अज्ञात कुल, उच्छिन्नकुल पितरोंको भी अञ्जलि देंगे। उसमें हम भाग तो पा सकते हैं। वह भाग स्वीकार करने हमें कुरुक्षेत्रमें होना चाहिए।

वासुदेव जहाँ पादक्षेप करते हैं, वह भूमि तीर्थ होजाती है। वहाँ किया गया श्राद्ध तर्पण अक्षय तृप्ति देता है। कुरुक्षेत्रमें तो वे स्वयं उपस्थित रहेंगे! स्नान करेंगे वहाँके समन्तक क्षेत्रमें। उनके स्नानसे पावन जलसे हमारा कोई हमारा तर्पण कर देगा—कर ही देगा, अपना कोई न भी करेगा तो कोई दूरका सम्बन्धी, कोई उदारमना कर देगा। हमारी यह क्षुधा-पिपासा, यह मानसिक तृष्णा मिट जायगी। सदाके किए यह मिट जायगी और मिट जायगा यह भय कि लुप्तपिण्डोदक पितरको नरकोंमें गिरना पड़ेगा।

हम प्रत्यक्ष होकर उन पुरुषोत्तमका पाद-स्पर्श नहीं कर सकते ; किन्तु हम उनका दर्शन कर सकेंगे। उन भुवन सुन्दर आनन्दघनको समीपसे देखनेका सौभाग्य मिलेगा हमें।

कुरुक्षेत्रमें हमारे वंशधर वासुदेवसे मिलेंगे। उनकी वन्दना करेंगे और वे कमल-नयन उनका सत्कार करेंगे। उन्हें सस्मित देखेंगे। उनका स्पर्श करेंगे। हम अन्ततः श्राद्धान्न भी तो अधिकारी ब्राह्मण अथवा गौको मिलने पर उसे अपना प्रतिनिधि मानकर तृप्तिलाभ करते हैं। हमें तो प्रतिनिधिके माध्यमसे तृप्त होनेका स्वभाव प्राप्त है। अपने वंशधरोंसे अधिक उपयुक्त प्रतिनिधि हमको कहाँ प्राप्त होगा।

हम सब चलेंगे कुरुक्षेत्र। वहाँ हमें वासुदेव मिलेंगे। उनका दर्शन मिलेगा, उनका पादस्पर्श मिलेगा—प्रतिनिधिके माध्यमसे मिलेगा, किन्तु मिलेगा तो।

—※—



कुमार कार्तिकेय---

अमरोंका सेनापति होकर भी षड्मुख यह कृत्तिका-पुत्र अकेला है। माता-पिताका स्नेह मैंने नहीं पाया, यह कैसे कहूँ। वे तो मेरे लिए कैलाश त्याग कर श्रीशैल पर ब्रस गये ; किन्तु मैं अपने हठी स्वभावको तो छोड़ नहीं पाता हूँ।*

मैंने स्वयं कैलाश छोड़ा। पिताकी प्रति स्पर्धामें नवीन लिपि, नवीन भाषा बनायी, किन्तु माता-पिता पुत्रके अपराध पर कभी ध्यान देते हैं ? वे ध्यान ही देते तो उन देवाधिदेवकी किञ्चित् भी अवज्ञा करने वालेको सुर अपना सेनापति बनाते ?

परात्पर पुरुष, निखिल लोकेश्वर वासुदेव लीलामय हैं। लीला ही तो है उनकी कि सर्वसमर्थ होते हुए भी वे सन्तान प्राप्तिके लिए तप करने गये— एक नहीं दो बार गये और सविधि दीक्षा लेकर उन्होंने मेरे आशुतोष पिताकी आराधना की।**

मेरे पिता तो नित्य निर्विकार, योगियोंके परम गुरु हैं। जैसे वे कामारि हैं, मोह भी उनको स्पर्श नहीं करता ; किन्तु अम्बा वात्सल्यमयी है। जब मैं कैलाश त्यागकर दक्षिण भारत चला आया, तब अम्बा ही रूठे पुत्रको देखने आयीं। अम्बाके कारण ही पिता भी पधारे। मेरी इस बालचेष्टासे पिता रुष्ट नहीं हुए ; किन्तु श्रीहरि मुझसे उदासीन हो गये। इन हरि और हरकी परस्पर प्रीति कल्पनासे परे है। दोनों एक दूसरेके हृदय हैं। श्रीहरिकी तनिकसी भी अवज्ञा मेरे पिताको असह्य है और मेरे पिताकी अवज्ञा श्रीहरि क्षमा करना नहीं जानते। मैं पुत्र था, बालकके अपने स्वत्व, वात्सल्यके भरोसे मैं रूठा था। माता-पिताने उस पर ध्यान नहीं दिया ; किन्तु श्रीहरि इसे भी सह नहीं सके। उन्होंने रोष नहीं किया, यही बहुत हुआ; पर वे मुझसे उदासीन हो गये।

धर्मके उन परम प्रभुकी उदासीनता-उन परात्पर परम पुरुषके उदासीन हो जाने पर जीवकी अपनी कोई स्थिति है ? उसका कहीं कल्याण सम्भव है ?

माताने–मेरी वात्सल्यमयी माताने मुझ कुपुत्र पर अनुकम्पाकी। उपाय तो वही

---

* कथा 'शिवचरित' में है।

** श्रीद्वारिकाधीशमें कथाकी गयी है।

था, मदनने पिताकी अवज्ञाकी थी तो पिताने ही उसे भस्म करके पुनः श्रीकृष्णका पुत्र होनेका वरदान दे दिया। इस बार माताने मुझे यह अवसर दिया। श्रीवासुदेव जब पुत्र-प्राप्तिके लिए दूसरी बार गोकर्ण क्षेत्रमें तप करने लगे, माताने वरदान देते समय मुझे उनका पुत्र होनेका सौभाग्य दे दिया। साम्बके रूपमें मैं उनका पुत्र हूँ। साम्ब मेरे अंशोद्भव हैं।

मैं हरि और हर दोनोंका पुत्र हूं। दोनोंका वात्सल्य भाजन हूं। इतना सौभाग्य तो किसी भी लोकपालको प्राप्त नहीं है। सुरेन्द्र भी इस विषयमें मेरी स्पर्धा नहीं कर सकते।

श्रीवासुदेव सूर्य-ग्रहण स्नान करने कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। मेरी अम्बा श्रीगिरिराज नन्दिनी वहां जा रही हैं। मेरे पिता भगवान धूर्जटि पहुंच रहे हैं वहाँ। वहाँ मेरी जननी-देवी जाम्बवती आवेंगी। मेरी द्वारिकाकी सब माताएँ आवेंगी वहाँ। मेरे भाई आवेंगे—द्वारिकाके ही भाई नहीं; कैलासके भाई मंगलमूर्ति गणेश भी आवेंगे। मेरे अंशोद्भव साम्ब तो आवेंगे ही, मैं अपने इस षड़मुख रूपसे मयूर पर बैठा पहुंच जाऊँ तो?

नहीं, यह तो बहुत धृष्टता होगी। मैं अपने इस देवरूपसे पहुंच जाऊँ तो मेरा पूजन करेंगे वासुदेव। मेरा पूजन करेंगी मेरी सब माताएँ, इस रूपमें तो मैं उनके वात्सल्यको पानेकी आशा नहीं कर सकता।

मेरी पर्वतराज-नन्दिनी माता वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रके अन्तःपुरमें सामान्य सखी होकर गयी हैं महारानियोंकी। मेरे त्रिभुवन वन्दनीय पिता सामान्य योगी बनकर पधारे हैं और मैं देवता बनकर जाऊँगा?

आवश्यकता क्या है कि कार्तिक वहाँ किसी भी दूसरे वेशमें जाय? अब सुरोंको सेनापतिकी भी क्या आवश्यकता है? धरा पर चक्रपाणि गरुडासन जब स्वयं उपस्थित हैं, कोई भी असुर अमरावती पर आक्रमण करनेका साहस कैसे करेगा? अतः मैं पूर्ण रूपसे साम्बसे एक हो जाऊँ—श्रीद्वारिकानाथके धरापर रहने तक एक रहूं तो भी सुरपुरकी कोई हानि नहीं है। मुझे इस प्रकार अपनी सब माताओंका, अपने पिताका पूरा वात्सल्य मिलेगा। उनका सान्निध्य मिलेगा।



वीरभद्र–

वीरभद्र तो रूप-क्रोध-समुद्भव है। विनाश करना इसका स्वभाव है। वरदान भी दो किसी को तो उसके विपक्षका विनाश। यह दूसरी बात है कि विनाशमें भी निर्माण छिपा रहता है। मेरे प्रभु ही रुद्र हैं तो शिव भी हैं, किन्तु निर्माण अपने स्वभावमें नहीं है।

मेरा सहज स्वभाव है परम उग्र। मुझे अपने भूत-प्रेत-पिशाच, कुष्माण्ड, बैताल विनायक, योगिनी, चामुण्डा प्रिय हैं। कोमल कला, मृदुल आकृतिमें मेरी रुचि नहीं मृदुल हो तो अनन्त अपार हिम हो, जो कठोरतम को भी गला दे। विशाल वह भी सूखकर काष्ठ शेष रह जाय ऐसा शीत, ऐसी कोमलता मुझे कुछ रुचती है।

धू धू जलती चिताएँ और उसमें गूँजता उलूकोंका दिगन्त-भेदी भयानक धोष शृगालियों का फेत्कार, चिताओंकी चटख, शवोंके जलनकी चिरांयध अथवा कटे बिखरे नरमुण्ड, कवन्ध कूदते तड़पते, बिखरी अँतड़ियाँ, रक्त कर्दमसे ढकी मेदिनी वीरभद्र की विहारस्थली है। ऐसे स्थान पर मैं आनन्द पूर्वक अट्टहास कर सकता हूँ।

बहुत काल व्यतीत होगया, कल्प बीत गये जब मेरे प्रभुने मुझे दक्ष-यज्ञ ध्वंस की आज्ञा दी थी। उस समय थोड़ा आनन्द आया था। वह आनन्द–थोड़ा वैसाही आनन्द आया था त्रेता में जब श्रीरामने लंकामें धनुष चढ़ाया और नैकषेयों के शव खण्ड-खण्ड होकर गिरने लगे; किन्तु वीरभद्र वहाँ अलक्षित दर्शकही रह सकता था। त्रेता को भी व्यतीत हुए बहुत समय होगया।

मेरे स्वामी प्रलयङ्कर हैं, रुद्र हैं, यह सत्य होने पर भी वे स्वभावसे, स्वरूपसे शिव हैं। समाधिमें बैठे रहना उन्हें प्रिय है। वे समाधिमें स्थित होजाते हैं तो मुझे उनके दूसरे गणोंको भी निद्रा लेनेके अतिरिक्त कोई कार्यही नहीं रह जाता। हम सब तमोगुण प्रधान सही, किन्तु कब तक सोते रहेंगे।

प्रभु कहते हैं—'वीरभद्र ! तुम्हें त्रेता के समान ही अपना प्रिय दृश्य कुरुक्षेत्रमें इस द्वापरान्तमें भी देखनेको मिल जायेगा। पुरुषोत्तम वासुदेवने अवतार ग्रहण कर लिया है। वे भू-भार-हरणके आयोजनमें लग गये हैं।

—:—

मेरे आराध्य कुरुक्षेत्र गये हैं। इस सूर्य ग्रहणके समय वासुदेव अपने परिकरों-को लेकर कुरुक्षेत्र आरहे हैं। वासुदेव वहाँ स्नान करने आरहे हैं, किन्तु वीरभद्रको स्नान तो नहीं करना है। फिरभी कुरुक्षेत्रकी वह भूमि, वे परमपुरुष वासुदेव और भूभार भूत धराका राजाओंका समूह मुझे एक साथ देखनेको मिल जायेगा। उस भूमिमें उन सब नरेशोंकी सेना, रथ-गज अश्व और वे सब जब मारे जाँयगे—मैं कल्पना कर सकूँगा कि कैसा दृश्य देखनेको मिलेगा।

वीरभद्रको सुन्दर सुसज्ज शिविर देखनेमें कोई रुचि नहीं है। फूँकसे उड़ जायँ अथवा झुलस जायँ ऐसी तितली जैसी नारियोंका क्या देखना। लेकिन अद्भुत बात है कि श्रीकृष्ण को देखकर मेरे नेत्र भी वहाँसे हटना नहीं चाहते। श्री कृष्णका आकर्षण सचमुच अनन्त है, अद्वितीय है। वे आकर्षण के स्वरूप हैं।

श्रीकृष्ण मृदुलताकी सीमा, सुकुमारतम सौन्दर्यकी पराकाष्ठा और वीरभद्र प्रलय पयोधिका अट्टहास घोषी, प्रचण्ड प्रेतोंका प्रधान नायक, ध्वस्त होते टूटते गिरि शिखर जब धराकम्पमें महानाद करते हैं, जब ज्वालामुखीकी सर्वग्रासी लपटें, प्रज्वलित धावित द्रव दिशाओंको भस्म करता धावित होता है तब उन्मत नृत्य करने वाला वीरभद्र—लेकिन अतुलनीय हैं श्रीकृष्णका आकर्षण।

श्रीकृष्ण सम्मुख हों तो वीरभद्र काष्ठपुत्तलिकाके समान निस्पन्द बन जाता है। शैशवमें जबवे अधरोंपर वंशी रखते थे, उसके मादक स्वरमें मत्त मैंने अनेक बार मस्तक पटककर विशाल शिलाखण्ड चूर्ण कर दिये।

कुरुक्षेत्र आ रहे हैं वे मयूर - मुकुटी वासुदेव। कुरुक्षेत्रमें आगे वे महानाश उपस्थित करके वीरभद्रको एक मनोरञ्जन देने वाले हैं; किन्तु उन पद्मपलाश लोचनके सम्मुख जाकर कोई कल्पना सम्भव होगी? मन सक्रिय रह सकेगा?

मैं उनकी कोई सेवा कर सकूँगा? उन्हें देखते ही मेरा अंग जड़ हो जाता है। मैं अपने कर तक हिला नहीं पाता। एक शब्द बोल नहीं पाता, मैं सेवा क्या करूँगा? कैसे करूँगा; किन्तु कुरुक्षेत्र जाऊँगा। गगनमें अदृश्य रहकर सही, वासुदेवके दर्शन तो मिलेंगे मुझे। द्वारिकाके गगनमें भी उनका चक्र मुझे पहुँचने नहीं देता। कुरुक्षेत्रमें वे मिलेंगे। उनका दर्शन मिलेगा।

—:※:—

नन्दीश्वर–

अपने लिए इस समय कैलासमें कोई काम नहीं है। अम्बा—जगज्जननी भगवती पार्वती पहिले ही द्वारिका चली गयी थीं। उन्हें वहाँ महारानियोंका सख्य प्राप्त है। वे उनके साथ कुरुक्षेत्र आवेंगी। भगवान महेश्वर भी चले गये कुरुक्षेत्र। अब यह वानरमुख नन्दी यहाँ क्या करें ?

देव गणनायक नहीं हैं। कुरुक्षेत्रने तो उन्हें नहीं पुकारा था, किन्तु बासुदेवके आकर्षणने पुकारा लिया। लेकिन भैरव हैं गणों पर नियन्त्रण रखनेके लिए वे न भी हों, जब तक धरापर वासुदेव हैं, कोई भूत-प्रेत, डाकिनी-शाकिनी पृथ्वी पर उत्पात करनेका साहस नहीं करेगी। सबको वाणासुरके संग्राममें गरुड़ध्वजके शारङ्गसे छूटे शरोंने सीधा कर दिया है। अब मैं यहाँ क्या करूँ ?

भजन, ध्यान, समाधि—अपने नीलकण्ठ स्वामीके समाधिमें स्थित होने पर भी तो मैं यही करता हूँ। उन वृषभध्वजके पादारविन्दोंका ध्यान—इससे अधिक आनन्दप्रद स्थिति तो नन्दीके लिए दूसरी कोई कभी नहीं रही। कामरिके कृपापात्र इस जनको तो मनने चञ्जल होकर कभी कष्ट नहीं दिया।

आज स्थित भिन्न होगयी है। मेरे स्वामी समीप समाधि लगाये आसीन होते हैं; तो मेरा मन अप्रयत्न समाहित रहता है। किन्तु आज तो उनका महावृषभ भी यहाँ नहीं है। वह भी तो नन्दी है। उसने कहा—'नन्दी तो वृषभ है। वृषभासन नहीं हैं तो यह पर्वत पर क्यों रहे ? कुरुक्षेत्रमें व्रजेश्वर नन्दराय आरहे हैं। अन्ततः वे छकड़ों पर ही तो आवेंगे। उनके वृषभोंमें एक और जाकर खड़ा हो जायेगा तो क्या उपोषित रहेगा ? उनके वृषभोंके उच्छिष्ट तृण इसकी उदरपूर्तिको पर्याप्त हैं। इसका उचित स्थान कुरुक्षेत्र है। नन्दीको नन्द-वृषभों के मध्य रहना चाहिए।'

मैं भी तो नन्दी हूं। वृषभ न सही वानरमुख शिवगण ; किन्तु इस समय मेरा उचित स्थान कुरुक्षेत्र नहीं है ?

मेरे स्वामी सदाशिव सम्पूर्ण विद्याओंके आद्याचार्य हैं। उनके अनुग्रहसे, उनके श्रीचरणोंकी सेवाके प्रसादसे और उनकी सन्निधिसे मुझे अप्रयास अनेक विद्याएँ प्राप्त हुईं। लोककल्याणाकांक्षासे अम्बाने जब भी कोई प्रश्न किया, उनका प्रभुने उतर दिया तब और जब भी किसी जिज्ञासुको प्रभुने उपदेश किया तब भी यह अनुचर तो समीप

ही उपस्थित था। मुझें श्रवणका प्रभुने कभी अनधिकारी नहीं माना। मेरा वह श्रवण कब काम आवेगा ? उनमेंसे कोई विद्या मुझे कुरुक्षेत्रमें वासुदेवकी सन्निधि नहीं दिलावेगी ?

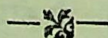
कोई विद्या—जीवका कोई सद्‌गुण, कोई श्रम, कोई योग्यता तो मेरे प्रभुके श्रीचरणोंकी सन्निधि नहीं देपाती, तब वासुदेवकी सन्निधि कैसे देसकेगी ? हरि और हर परस्पर अभिन्न हैं। दोनोंमें कोई अन्तर तो है नहीं। केवल वेष ही तो दोनोंका दो है।

मुझे अपने नीलकण्ठ प्रभुका वात्सल्य प्राप्त है, अतः वासुदेवका स्नेह मुझे अलभ्य नहीं होगा। वे अपनी ही अकारण करुणासे अपनाते हैं; किन्तु अपने धूर्जटि रूपमें जब इस जनको अपना चुके हैं, मयूर-मुकुटी रूपमें इसे उल्लास पूर्वक अपनावेंगे।

वे तो अपना लेंगे; पर मेरा ऐसे ही जाना उचित होगा ? वे लीलामय–उन्हें ग्रहण स्नानकी आवश्यकता है ? लेकिन जब वे लीला कर रहे हैं, लोकादर्श उपस्थित कर रहे हैं, मुझे उसमें व्यायात क्यों बनना चाहिए ?

मैं कुरुक्षेत्र ज्योतिर्विद बनकर जाऊँगा। ग्रह-नक्षत्रोंकी भाषा मेरे लिए अज्ञेय तो है नहीं। जानता हूं कि जिनकी भ्रूलताका संकेत अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करता है, ग्रह उनका भूत-भविष्य नहीं बतला सकते। समस्त ग्रहोंका भूत-भविष्य वह स्वयं हैं। वह नित्य वर्तमान-काल ही उनमें कल्पित होता है तो वहाँ भूत-भविष्य क्या ? लेकिन उन्हें लीला करनेकी धुन है तो अपने परमप्रिय उमाकान्तके अनुचरका कृतिमवेश उन्हें अवश्य प्रसन्न करेगा।

मैं वृद्ध ज्योतिर्विद बनकर जाऊँगा। दुर्बल खर्वकाय, लगभग वानरमुख मेरा यह रूप बहुत कम परिवर्तन चाहता है। ऐसे वृद्धको वासुदेवके अन्तःपुरमें भी प्रवेश प्राप्त हो जायगा और वे कमल लोचन भी सस्मित इसका स्वागत करेंगे। वे इसके वेशके अनुरुप भावसे इसे मिलेंगे—अवश्य मिलेंगे।



पक्षिराज गरुड़—

आञ्जनेयने मुझे गलित-गर्व बना दिया। बहुत गर्व था मुझे अपनी शक्ति और गति पर। इन्द्रका वज्र भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सका था और गतिमें पवनमेरी समता नहीं कर सकते; किन्तु पवनपुत्रने मुझे नन्हें कपोत शावकके समान पकड़कर फेंक दिया। वेगमें भी उन श्रीरामदूतकी तुलनामें मैं बहुत मन्द सिद्ध हुआ।※

अबमैं यह अभिमान कैसे कर सकता हूं कि मेरे आराध्य जब मेरा स्मरण करेंगे, मैं उनकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा। यह प्रमाद मैं बहुत कर चुका। मेरे परमोदार स्वामीने कभी ध्यान नहीं दिया। अपने जनकी त्रुटि वे कभी देखते नहीं। अनेकबार उन अनन्तासनको पैदल दौड़ना पड़ा है; किन्तु एक बार भी तो मुझे उन्होंने नहीं कहा— 'गरुड़! तुम अवसर पर ही अनुपस्थित मिलते हो।'

मुझे उपालम्भ तो नहीं दिया द्वारिकानाथ भगवान वासुदेवने भी। नर-नाट्य करते हुए श्रीसंकर्षण के साथ ये श्रीहरि मथुरासे पैदल जरासन्धके सम्मुखसे भागे और प्रवर्षण गिरि तक भागते गये। मैं अयोग्य सिद्ध हुआ। मैं अपने प्रमादवश अन्यत्र भटकता रहा और प्रभुको पैदल दौड़ना पड़ा। मैं तो उन्हें मिल चुका था गोमन्तक पर्वत पर वे पहुंचे थे तभी। मैं जब वे कुण्डिनपुर प्रथम बार गये थे तब उनकी सेवामें उपस्थित हो चुका था। मैं कैसे कह सकता हूं कि इस अवतारमें मैं अपने इन स्वामी को पहिचान नहीं सका। इतना बड़ा प्रमाद मैंने किया और मेरे उदार चक्रचूड़ामणि प्रभुने इसकी चर्चा तक नहीं की।

अब वे श्रीद्वारिकाधीश कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उन्हें मेरी आवश्यकता नहीं है। वे रथ द्वारा आवेंगे; किन्तु उन्हें मेरी आवश्यकता होती कब है? मैं नहीं होता तब उनका कोई कार्य रुकता है? वे तो अनुग्रह करते हैं मुझसे सेवा लेकर। वे गरुड़को गौरव देते हैं। उनको पीठ पर बैठा कर ही तो गरुड़ यज्ञेश-वाहन है। अन्यथा यह सर्प भक्षी-पक्षी—कोई इसका स्मरण करेगा? कोई इसे समीप भी आने देगा?

※ पुरी कथा 'आञ्जनेयकी आत्मकथा' में गयी है।

वे कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं। उनका प्रायः पूरा परिवार आरहा है। उनके परम प्रिय ब्रजके लोग आरहे हैं। त्रिभुवनमें कौन कह सकता है कि कहाँ, कब, कितने महानुभाव होंगे जो अपनी भावनासे भगवान वासुदेवको भी आकृष्ट कर लेंगे। उन भक्त-वत्सल को भी मिलनेको आतुर बना देंगे। उनमेंसे किसीको, कहीं से भी आमन्त्रित करना चाहें, अपने समीप बुलाना चाहें श्रीकृष्ण चन्द्र; यह क्या सम्भव नहीं है। तब गरुड़ सेवका अवसर प्राप्त कर लेगा। यह कहीं जाकर किसीको भी शीघ्र ही ला सकता है।

आवश्यकता हो या न हो, सेवकको स्वामीके समीप उपस्थित रहना चाहिये। ग्रहणके समय ऋषि, मुनि, देवता, राजगण सभी वहाँ कुरुक्षेत्र आवेंगे। किसीके लिए कोई आवश्यक वस्तु, कोई उपहार, कोई अर्चा-पूजा द्रव्य आवश्यक हो सकता है।

भगवान वासुदेव द्वारिकासे दूर रहेंगे। वहाँ कुछ द्वारिकासे मंगाना भी तो आवश्यक हो सकता है किसी क्षण। कल्पवृक्ष न भी हो, उनकी चरण-रेणु ही चिन्तामणि है; किन्तु गरुड़ समीप हो तो प्रभु इसे सेवाका सुअवसर दे सकते हैं।

कुरुक्षेत्र कोई महानगर नहीं है। वह विशाल भूमि—इस पर्वसे पूर्वतक वहाँ छोटे क्षुप, कंटक तरु, झाड़ियाँ थीं। कितना भी स्वच्छ किया उसे, भूमि में वहाँ सर्प, वृश्चिक तथा दूसरे उत्पीड़क जन्तु नहीं होंगे, कैसे कहा जा सकता है। गरुड़ समीप रहेगा तो इसके शरीरको स्पर्श करके चलने वाली वायु इन सब सरी-सृपोंको अपने बिलोंसे बाहर नहीं आने देगी। किसी भी तीर्थ यात्री को ये कष्ट नहीं दे सकेंगे। दूसरी कोई सेवा न भी मिले, तीर्थ यात्रियोंकी यह सेवा तो सुलभ है ही।

असंख्य मानव समुदाय आवेगा वहाँ; किन्तु मेरे लिए कुछ योजन दूरीका तो कोई अर्थ नहीं है। कहीं भी वनमें कोई महातरु अथवा शैल-शिखर मेरा रात्रि-विश्राम स्थल बन सकता है। गगनमें कुछ मास मैं उड़ता रहूँ तो भी मेरे पक्ष श्रान्त तो नहीं होते।

मेरे स्वामी कुरुक्षेत्र पहुँच रहे हैं। उनके स्वजन आरहे हैं वहाँ। उनके पावन पादारविन्दोंके प्रीति-पात्र पधार रहे हैं। अतः गरुड़ कुरुक्षेत्र ही इस समय रहेगा। यह भले गगनमें उड़ता रहे, स्वामीके संकेत पर दृष्टि लगाये रहेगा। उनके दर्शन मिलते रहेंगे इसे।



काक भुशुण्ड-

आराधना अपनी है बालरूपकी, अतः अयोध्या हो या नन्द-गोकुल मेरे आराध्य जब तक पाँच वर्षकी वयके होते हैं, मैं उनका उच्छिष्ट भोजी उनके साथ रहता हूँ। उनके आविर्भावके पश्चात् प्रांगणमें आनेसे पाँचके हो जाने तक। इसके पश्चात् तो हिमालयके नीलगिरि शिखरका अपना आश्रम ही मेरे लिए पर्याप्त है। काक क्या क्षेत्र-संन्यासी होगा ; किन्तु मेरी कहीं जानेकी रुचि ही नहीं होती।

मेरे आराध्य नित्य हैं। नित्य है उनका बालरूप। यह तो उनकी इच्छा है कि वे उस रूपको कब आविर्भूत एवं कब तिरोहित करते हैं। मेरे चित्तमें तो उनका यह रूप नित्य प्रत्यक्ष है। उनके गुण, चरित अनन्त हैं, अनन्त आनन्द है उनके स्मरण, चिन्तन वर्णनमें और मुझे इसका सम्पूर्ण सुयोग दे रखा है उन्होंने।

विश्वमें-देवलोकोंमें भी लोग शुक, सारिका, हंस पालते हैं। मयूर एवं कपोत पालते हैं। सुस्वर, सुरंग पक्षी पालना तो ठीक है ; किन्तु कुरूप, कर्कशस्वर चाण्डाल पक्षी कौएको तो मेरे पतित पावन प्रभु ही पाल सकते हैं।

उन अनन्त दयार्णवकी अहैतुकी दया ही तो मेरी जातिका पालन करती है। जिसे कोई देखना नहीं चाहता, जिसका सामीप्य किसीको स्वीकार नहीं, वह कौआ सर्वत्र है। मनुष्योंका जनपद ही नहीं, एकाकी झोपड़ा भी हो तो कौआ वहाँ होगा। हमारी सर्वत्र गति—उष्णतम प्रदेशोंसे लेकर हिमशिखरों तक हमारी वे कृपासिन्धु ही तो रक्षा करते हैं।

मेरे ऊपर तो मेरे उन सर्वस्वकी अहैतुकी विशेष कृपा है। उन्होंने मुझे अपना बना रखा है। एक कौएको अपना बना रखा है—पाल रखा है और ऐसा पाला है कि इसके आश्रमके चारों ओर एक योजन तक मायादेवी अपना प्रभाव नहीं डालतीं।

इस काकको गौरव दिया उन्होंने। साक्षात् श्रीहरिके वाहन गरुण इसके समीप शिष्यवत् विनम्र बनकर श्रीरामकथा श्रवण करने पधारे। यह मेरा प्रभाव तो नहीं है। यह तो मेरे स्वामीकी महिमा है कि उनका पाला कौआ भी पक्षिराज से श्रेष्ठ हो जाता है।

वे लीलामय—यह द्वापरान्तका उनका अवतार त्रेताके अवतारके समान मर्यादा-स्थापनार्थ तो नहीं है ; किन्तु इस अवतारमें भी लीलापुरुषोत्तम सूर्य-ग्रहण-स्नान करने

कुरुक्षेत्र पधार रहे हैं । उन्हें कुरुक्षेत्रको गौरव देना है ? सूर्य-ग्रहणको महत्ता देनी है ? अपने चरणाश्रितजनोंको, अपने परम प्रिय भक्तोंको सामीप्यका सुयोग देना है ?

मुझे तो यही लगता है कि ग्रहणको निमित्त बनाकर उन्हें अपने अनन्य आश्रितोंको सुयोग देना है अपने दर्शन-मिलनका। इस प्रकार जब प्रभु स्वयं सुयोग दे रहे हैं, मैं यहाँ हठ करके बना रहूँ, यह कैसे उचित होगा।

मेरा आराध्यरूप बालरूप है। वह लीला तो ब्रजमें हो चुकी ; किन्तु मैं उनके इस व्यक्त जगतको, विराट रूपको देखता हूँ तो उनके भुवन मनोहर श्रीद्वारिकाधीश रूपको देखनेमें कोई दोष है ?

वे कुरुक्षेत्र आरहे हैं, इसका अर्थ ही है कि त्रिभुवनके समस्त प्राणियोंको अपने दर्शनका आह्वान कर दिया है उन्होंने । अधिकारी-अनधिकारी चाहे जो इस अवसर पर आवे और उनके श्रीचरणोंकी सन्निधि प्राप्त करे। तब मैं इस सुयोगको क्यों छोड़ दूँ ।

कुरुक्षेत्रमें असंख्य मानव आवेंगे । काकको तो किसी भीड़से कोई उद्वेग नहीं हुआ करता । मानव-मेला तो काक-महोत्सव है। मनुष्य एकत्र होंगे तो काकको अप्रयास प्रचुर आहार प्राप्त होगा। हमारी जातिके सदस्य भी मानव मेलेको अपना मेला ही माना करते हैं ।

हमें कहीं भी रहनेमें कोई कठिनाई तो है नहीं। एक शुष्क वृक्षपर भी पर्याप्त अधिक काक रात्रि-विश्राम कर सकते हैं । कुरुक्षेत्रमें तो बहुत वृक्ष हैं । वे न भी होते तो आगतोंके शिवर-शिखर हमें रात्रिमें बैठनेको पर्याप्त हैं ।

ग्रहणके समय-सूर्यग्रहणके समय हम कौओंको भी मनुष्योंके समान स्नान तो करना ही रहता है। इस अवसर पर मैं कुरुक्षेत्रमें स्नान कर लूँगा । मेरे स्वामी मुझे भली प्रकार पहिचानते हैं। अपने आश्रितोंको वे भूला नहीं करते । इस काकको कुरुक्षेत्रमें भरपेट उनका उच्छिष्ट प्रसाद अवश्य मिलता रहेगा ।

—+—

हनुमान—

आकल्पान्त अमरत्व दिया आराध्यने इस अञ्जना-तनयको। इसलिए दिया कि यह उनके चरित-महामृताब्धिके श्रवणका सुयोग पाता रहे।

रामदास हनुमान। रामदूत हनुमान। हनुमानमें अपना क्या है ? हनुमानके अपने व्यक्तित्वका क्या अर्थ है ? दासमें अपना कुछ होता है ? दूतका अपना कोई व्यक्तित्व है ? स्वामीकी सेवा, स्वामीके सन्देशका वहन–यही दूतका स्वरूप। हनुमान कुछ है तो वह श्रीरघुनाथका संकल्प, श्रीसीतानाथकी शक्तिसे सञ्चालित उन मर्यादा पुरुषोत्तमका साकार संदेश है।

मेरे स्वामीने मुझे दो ही कार्य दिये हैं—उनका स्मरण करने वाले, उनके नामका जप करने वालोंकी रक्षा, सहायता करता रहूँ और जहाँ उनके चरितका, गुणका गान हो, जहाँ उनके नामका संकीर्तन हो, वहाँ उपस्थित रहकर उसका श्रवण करूँ।

अपने स्वामीका नाम, गुण, लीला-श्रवण हनुमानका व्यसन है। मुझे मेरी अम्बा श्रीजनक-नन्दिनीने आशीर्वाद देकर यह सिद्धि, यह शक्ति दी है कि मैं एक साथ सहस्र-सहस्र स्थानोंमें सहस्र-सहस्र व्यक्त अथवा अव्यक्त रूपोंमें उपस्थित रह सकता हूं। प्रभुके नाम-गुण-सुयश-श्रवणका मेरा व्यसन और उनके सेवकोंके रक्षण-कर्तव्यका निर्वाह अम्बाकी इसी आशीर्वाद-शक्तिसे ही मेरे लिए सहज सम्भव हो गया है।

कुरुक्षत्र तो मुझे जाना ही था। यदि द्वारिकासे मेरे वे नवधन सुन्दर स्वामी न पधारते होते, तो भी जाना था। पृथ्वीके लाख-लाख मानव तथा दिव्य लोकोंके सुर-मुनि-महर्षिवृन्द वहाँ आयेंगे। वे तीर्थ-स्थान, दानमें कितना समय व्यतीत करेंगे ? उन्हें वहाँ अनेक दिनों तक रहना है। तीर्थमें तो पामर पुरुष भी प्रमाद, भोग एवं लौकिकचर्चा-से बचना चाहते हैं। ऋषि-मुनि, विप्रगण, श्रद्धालुजन वहाँ स्थान-स्थान पर भगवत्कथा, कीर्तन ही तो करेंगे। ऐसे स्थान पर, ऐसे समय हनुमान अनुपस्थित रहे, यह सम्भव हो सकता है ?

जहाँ भी मेरे आराध्यका गुण-वर्णन, कीर्तन होता है, वहाँ मुझे उपस्थित रहना है, अतः मुझे कुरुक्षेत्र तो जाना ही है और अनेक रूपोंसे अनेक शिविरोंमें मुझे वहाँ रहना है ; किन्तु मुझे मुख्य रूपसे—विशेष रूपसे वहाँ जाकर द्वारिकाके शिविरमें रहना है।

मेरे मर्यादा पुरुषोत्तम ही तो उस शिविरके सर्वस्व हैं। क्या हुआ कि वे इस द्वापरान्तमें पृथ्वी पर प्रत्यक्ष पधारे हैं तो मयूरपिच्छ लगाते हैं मुकुटमें। लोग कहते हैं कि वे मथुरा आये तब से चतुर्भुज हैं; किन्तु अपने इस कपि-पुत्रके सम्मुख तो सदा द्विभुज ही रहते हैं। मैंने तो उन्हें चतुर्भुज नहीं देखा। होंगे वे चक्रपाणि; किन्तु मैंने तो उन्हें सदा शारङ्गधन्वा ही देखा है। वे कुरुक्षेत्र आरहे हैं तो मैं उनके पादपद्मोंसे दूर रहूँगा?

अयोध्यामें मेरे स्वामीने अपने सिंहासनके पादपीठके समीप मेरे लिए स्थान सुरक्षित कर दिया था और द्वारिकामें भी वह स्थान मुझसे छीना तो गया नहीं है। मैं कुरुक्षेत्रमें भी उनके दक्षिण पदके पास बैठ जाऊँगा तो वे मुझे स्नेहपूर्वक देखेंगे ही; किन्तु कुरुक्षेत्रमें राजसभा तो नहीं होगी। राजसभा तो द्वारिकाकी भी मुझे रुचती नहीं। वहाँ सिंहासन पर वृद्ध उग्रसेन बैठते हैं। मेरे आराध्य उनके पार्श्वमें भृत्यकी भाँति खड़े हों, यह मुझसे नहीं देखा जाता।

कुरुक्षेत्रमें मुनिगण आवेंगे, देवता आवेंगे, नरपतिवृन्द आवेगा और मेरे लीलामय उन सबका स्वागत करेंगे। सबका सत्कार करनेमें व्यस्त रहेंगे। वे स्वयं सिंहासन पर ही जब नहीं बैठेंगे तब उनके पादपीठ के समीप मेरे बैठनेको अवकाश कहाँ है।

पाठपीठके समीप इस कपिको बैठनेको अवकाश हो या न हो, उनके समीप, उनके स्वजनोंके समीप, उनके अन्तःपुरमें तो इस वानरके यथेच्छ विचरण पर कोई प्रतिबन्ध कभी लग नहीं सकता।

एक नन्हसा स्वर्णिमरोमा कपि उनके कुमारोंके समीप बना रहेगा, इधर से उधर कूदता-फुदकता रहेगा तो कुमारोंका मनोरंजन नहीं होगा? अन्तःपुरकी महारानियाँ मुझे सहज वातसल्य देंगी। अन्ततः वे मेरी अम्बाकी दासियाँ-सखियाँ ही तो हैं। मैं तो उन सबका स्नेहभाजन शिशु हूँ।

मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा। द्वारिकाके शिविरमें और उस शिविरके पार्श्वमें स्थापित श्रीव्रजपतिके शिविरमें कूदता-दौड़ता रहूँगा। मुझे वे सब मिलेंगे। मुझे सबका स्नेह मिलेगा। मुझे सबका प्रसाद प्राप्त होगा।



तीर्थ देवता—

अब हमारा देवत्व सफल होगा। तीर्थ देवता भी तो एक प्रकारका ग्राम देवता ही है। स्थान देवता, स्थान (ग्राम) कालिकाकी पूजा होती है ; किन्तु होती है स्वार्थ-वश अथवा भय वश। ऐसा देवत्व भी देवत्व है ? स्वार्थ अथवा भयवश तो मनुष्य प्रेत भी पूजते ही हैं। हमारी पूजा इसीलिए तो कि हम असन्तुष्ट न हों और हमारे आश्रित जनपदमें आधि-व्याधि प्रवेश न पावें ?

अब भगवान वासुदेव पधारेंगे इस कुरुक्षेत्रमें। सेवकके आवासमें स्वामी आजायँ, उनकी अनुकम्पा। वे अतिथि तो नहीं कहे जायँगे। जिनके रोम कूपमें ही निखिल ब्रह्माण्ड निहित हैं, उन सर्व लोकेश्वरेश्वरको अतिथि कहाँ होना है ? वे आवेंगे—हम सेवकों पर अनुकम्पा करके आवेंगे।

हम तो स्थान देवता हैं, उनके अत्यन्त क्षुद्र सेवक—त्रिदेव भी उनके अंशांश ही हैं। वे धरणीका भार दूर करनेको अवतरित हुए। धरणीका भार हमारा ही भार नहीं है ? सीधे शब्दोंमें वे हम सेवकोंका भार मिटाकर हमें स्वस्थ, सक्षम करने पधारे हैं। हमारी व्यथा, हमारी व्यस्तता, हमारी चिन्ता दूर करने आये हैं।

हम क्षेत्र-देवता—हमारी तो बहुत अल्प क्षमता है। जैसे किसी राज्यमें ग्रामके चौकीदारकी स्थिति होती है, वैसी ही हमारी स्थिति है। कितना भी श्रमशील, सेवा-परायण चौकीदार हो, नरेशके पदों तक वह कैसे पहुँच सकता है ? और वे भगवान वासुदेव तो सम्राटोंके भी सम्राट, निखिल लोकेश्वरेश्वर हैं।

हमारा इतना ही सौभाग्य, इतना ही गौरव अल्प नहीं है कि हम उनके सेवक हैं, क्षुद्रतम सही ; किन्तु उनके सेवक हैं और अब वे परम प्रभु हमारे इस क्षेत्रमें पाधर रहे हैं। हमें अपनी प्रत्यक्ष सन्निधि देने, अपनी सेवाका प्रत्यक्ष सुअवसर देने पधार रहे हैं। वे आ रहे हैं तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी पधारेंगे ही। सब लोकपाल, सब दिक्पाल पधारेंगे। हमसे सब श्रेष्ठ हैं। सब हमारे सेव्य हैं ;

किन्तु इस समय जब सर्वेश्वर पधार रहे हैं, सबको हमारे प्रति विनम्र रहना है। सबको हमारे साथ अत्यन्त शिष्ट व्यवहार करना है।

इस कुरुक्षेत्रका क्षेत्र-देवता कौन ? इस समय इस विवादमें हम क्यों पड़ें ? यह विवाद तो कभी सुलझने वाला नहीं है। यह क्षेत्र कुरुका है। यहाँ राजा कुरुने धर्मकी खेतीकी, अतः यह धर्मका क्षेत्र। श्रीहरिने कुरुके अंगोंका वपन किया, अतः यह उन चक्रपाणिका क्षेत्र। भगवान धूर्जटि यहाँ स्थाण्वीश्वर होकर आ बैठे, अतः उन वृषभध्वजका क्षेत्र और भार्गव परशुरामजीने क्षत्रिय-शोणितके ह्रद यहाँ स्थापित किये, इसे यज्ञ भूमि बनाया, अतः उन भार्गवका क्षेत्र। भगवती नृमुण्ड मालिनी भद्र कालिका का यह क्षेत्र ; क्योंकि यहाँ वे अपना खप्पर रक्तसे भरनेकी क्रीड़ा करती हैं—करती रहेंगी।

इन सबका यह क्षेत्र–हमको इससे क्या अन्तर पड़ता है ? हम तो इन सबके ही सेवक हैं। हम ग्राम देवता, ग्राम कालिका, ग्राम नाग—हम तो सबके ही आज्ञाकारी हैं ; किन्तु इस अवसर पर ये सब जिनकी सेवामें समुद्यत यहाँ आ गये हैं, वही मयूर-मुकुटी इस क्षेत्रके सच्चे अधीश्वर हैं, यह भी क्या किसी विवादका विषय रह जाता है ?

हम सब उनके श्रीचरणोंमें प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं हो सकते—यहाँ भी नहीं हो सकते ; किन्तु उनकी चरण रज हमें प्राप्त होती रहेगी। हमें इस अवसर पर पूजाकी कहाँ अपेक्षा है। उनका स्नानशेष जल ही हमारा तर्पण है। उनका उच्छिष्ट ही हमारा नैवेद्य है।

इस अवसर पर हम सम्पूर्ण क्षेत्रको सतर्क निरुपद्रव रखेंगे। इस समय यहाँ अस्वच्छता-अमंगल, मानसिक दुर्भावनाका भी प्रवेश क्षमा नहीं किया सकता।

एक ही संकोच—बहुत बड़ा संकोच कि आगतोंमें अधिकांश हमारी पूजा करेंगे। उन सर्वेशके सम्मुख उनके इन क्षुद्रतप सेवकोंकी पूजा ? लेकिन अल्पज्ञ, अल्पस्वार्थ अविवेकी जन मान नहीं सकते। हम उन्हें रोकनेकी स्थितिमें नहीं हैं। हम ऐसी कोई पूजा स्वीकार नहीं करेंगे, वरदान देनेका तो प्रश्न ही नहीं ; किन्तु वे लीलामय—हम जानते हैं कि ऐसी प्रत्येक पूजाको-हमारी पूजाको उनका आशीर्वाद प्राप्त होना है, वह सफल होगी और हमें सुयश देगी। ऐसे वे परमोदार, वे हमारे स्वामी आ रहे हैं। हमें उनका दर्शन प्राप्त होगा।

—o—

गन्धर्वगण—

'अहोभाग्य गन्धर्वराज तुम्बरूका।' गन्धर्वोंका समूह एकत्र हो गया था और सबको कुरुक्षेत्र जाना था। सबकी चर्चाके विषय भगवान वासुदेव थे—'देवर्षि नारद उन्हें अपना सखा मानते हैं। देवर्षिके साथ वीणा लेकर वे श्रीहरिका गुणगान करते सभी लोकोंमें जानेमें समर्थ हो गये हैं और अनेक बार द्वारिकाकी सुधर्मा सभामें उपस्थित हो जाते हैं। वे कुरुक्षेत्र आवेंगे और भगवान वासुदेवका सुयश सबके सम्मुख, ऋषियों और नृपगणोंके मध्य सुनानेका सम्मान प्राप्त करेंगे।'

'यह सौभाग्य तो हमारे गन्धर्व श्रेष्ठ चित्ररथको भी प्राप्त होगा ही।' दूसरे गन्धर्वने कहा—'उन धनञ्जय सखाको श्रीकृष्णचन्द्रका सौहार्द्र सहज सुलभ है।'

'चित्ररथजी धन्य हैं।' एक समवेत स्वर उठा—'वे पूर्णपुरुष अपने आश्रितोंके सेवकोंको सबसे अधिक प्रीति-प्रदान करते हैं। उनका अपना-पराया कोई नहीं; किन्तु वे भक्तवत्सल तो अपने भक्तोंके जो भक्त हैं, उन्हें अपना प्राण ही मानते हैं। अर्जुनका सख्य प्राप्त कर लेना चित्ररथका महत्तम पुरुषार्थ। उनके साथ स्पृहा न कोई सुरकर सकते, न ऋषि-महर्षि।'

'हम सबको ऐसा कोई सौभान्य तो प्राप्त नहीं है; किन्तु हम भी तो परम्परासे उन सर्वेश्वरके ही सुयश गायक हैं।' गन्धर्वोंमें कोई हतोत्साह नहीं था—'उनका गुण-गान ही वाणी-प्राप्त करनेका परम फल और हमें तो स्वर-संगीतका बोध मिला है। इस कलाको उनके श्रीचरणोंमें समर्पित किये बिना तो यह निष्फल ही मानी जायगी।'

'गायकका सर्वत्र स्वागत होता है। हम भले उपदेव जातिके हैं; किन्तु हमारी कलाने तो हमें ब्रह्मलोक तक प्रवेश दे रखा है।' एकने गौरव भरे स्वरने कहा—'कुरुक्षेत्रमें हमारे प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध तो है नहीं।'

'जहाँ स्वयं सृष्टिकर्ता एवं भगवान भूतनाथ सामान्य मानव बनकर उपस्थित होना चाहते हैं, वहाँ हम उपदेवताओंका ऐसे ही पहुँच जाना शोभा देगा?' एकने शंकाकी—'इसे शिष्टता माना जायगा?'

'लेकिन हम लोग कामरूप हैं, हमें सामान्य मानव गायक बननेमें कोई कठिनाई है?' दूसरे ने कहा—'वहाँ शत शत सूत, मागध, वन्दी, गायक, नट-नर्तक आवेंगे।

सभीको भगवान वासुदेवके सम्मुख प्रदर्शित करके अपनी कला सार्थक करनी है। उनके साथ वादक-गायकोंका एक यूथ हमारा भी उपस्थित हो जायगा।'

'वादक, गायक और नृत्याङ्गनाओंका एक सम्मिलित यूथ।' दूसरेने प्रस्तावमें संशोधन कर दिया—'किन्नराधिपने प्रार्थनाकी है कि हम उन्हें अपने साथ ले लें।'

'हमें स्वीकार करना चाहिए कि स्वर सौष्ठव किन्नरोंका हमसे श्रेष्ठ है।' एकका विचार था—'किन्नर यदि अपने वास्तविक रूपमें ही साथ चलें तो उनकी अद्‌भुताकृति कुरुक्षेत्रमें आये श्रद्धालु समूहका अधिक मनोरञ्जन करेगी। श्रीकृष्णचन्द्र, उनके तनय एवं महारानियाँ प्रसन्न होंगी उनके संगीत एवं हमारे वाद्यका सम्मिलित आयोजन देखकर।'

'नृत्याङ्गनाएँ ?' एक शङ्का आयी—'हम गन्धर्व नृत्यमें किसीसे भी हीन अथवा अल्पज्ञ नहीं हैं। हमारी कन्याओंका नृत्य अप्सराओंसे अनुत्तम है, यह कभी किसीने नहीं कहा।'

'लेकिन अप्सराएँ क्या स्वर्गमें बैठी रहेंगी ?' किसीने सहास्य कहा—'हममें किसीने उनसे भले पूछा न हो, उनका प्रस्ताव नहीं, पूरा समूह ही आता हो तो आश्चर्य नहीं।'

'गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराकलाकी त्रिवेणी हमारा समूह उपस्थित करेगा, निश्चय हो गया—'गन्धर्व, किन्नर दोनोंका संगीत, दोनोंके वाद्य अपना चरम नैपुण्य उपस्थित करेंगे।'

'हमारे युवक, हमारी कन्याएँ और अप्सराओंका यूथ सम्मिलित नृत्य करेगा। प्रस्तावका उत्तरार्ध भी निश्चित हो गया—'निश्चय ही किन्नरियाँ ही इस यूथके साथ नृत्यमें योगदान करेंगी।'

'स्वर्गमें, ब्रह्मलोकमें भी जो संगीत-नृत्य सुदुर्लभ है, वह सम्मिलित संगीत-नृत्य हम उपस्थित करेंगे कुरुक्षेत्रमें' गन्धर्वोंमें उत्साह उमड़ा। उन्होंने वाद्य उठाये—'निखिल लोकनायकके सम्मुख अपनी कल्याणमयी कला सार्थक करनेका सुयोग हमें मिलेगा।'

—×—

अप्सरा----

'विश्वेश्वरेश्वर वासुदेव उस कुलमें अवतीर्ण हुए, जिस कुलको मैं अपना कह सकती हूँ ।' रम्भाने अप्सराओंकी गोष्ठीमें तनिक हँसते हुए कहा ।

'हम अप्सराओंका कुल क्या ? हम तो स्वर्ग आने वाले प्रत्येककी हैं ; किन्तु....' तनिक रुककर मेनका बोली--'कभी-कभी जब किसीके भी शापके कारण हमें धरापर जाना पड़ता है—आज सोचती हूँ तो लगता है कि अपने इस विलासी जीवनके कारण जो शाप लगता है हमें, उससे बड़ा वरदान कोई सम्भव नहीं । हम मर्त्य धरापर जाकर मानवको अपना बनानेका अवसर पाती हैं । मानव पत्नी, मानव-जननी—जो नर नारायणके सखा हैं, उनकी माताका गौरव मिलता है हमें । आज जब मैं सोचती हूँ कि मैं भरत कुलकी जननी हूँ--मेरा मस्तक गौरवसे उठ जाता है ।'

'बहिन ! तुमने नरका स्मरण कराके मुझे अपने पिताका स्मरण करा दिया ।' उर्वशी भोली बालिकाके समान चपल हो उठी—'मैं उन तपोनिरत भगवान नारायणके उरुसे उत्पन्न हुई । नर उनके सखा हैं । मैं उन्हें पितृव्य कह सकती हूँ ।'

'अब मेरे जनक जिनके अंश हैं, वे स्वयं द्वारिकामें अवतीर्ण हुए हैं । वे कुरुक्षेत्र आ रहे हैं ।' उर्वशीने ही कहा । वैसे ही उल्लास पूर्वक कहा, जैसे छोटी बालिकाके समान ताली बजाकर कूदती नाचती दौड़ जाने वाली हो—'अब मेरे पद अमरावतीमें रुक नहीं पारहे हैं । उनके सखा भी धरा पर ही हैं । वे मध्यम पाण्डव भी पधारेंगे कुरुक्षेत्र । आप सब मुझे अनुमति दें । मैं उनके दर्शनको आतुर हूँ ।'

'हम तो अप्सरा हैं । अप्सरा किसीकी न माता होती, न बहिन । यह सृष्टिकर्ताका विधान है । पुण्यात्मा मानव यदि पथसे भटक जाय, वासना उसे दिग्भ्रान्त करदे, अपने नित्य सखा नारायणके चारु-चरण छोड़कर वह सुखेच्छु बने तो देहके त्यागके अनन्तर स्वर्ग आवे । अप्सरा उसकी उपभोग्या है ।' तिलोत्तमाके स्वरमें कोई खेद नहीं था—'लेकिन आज अनुमतिकी बात क्यों ? हममें कोई ऐसी भाग्यहीना नहीं जो कुरुक्षेत्र जानेको उत्सुक न हो । हम सब साथ चलेंगी ।'

'हम सब साथ चलेंगी ।' एक साथ सबने कहा—'हममें जब-जब कोई एकाकिनी धरापर गयी है, उसने कौनसा सुकृत्य किया है । किसी तपस्वी, साधकको हमने प्रलुब्ध करके पथच्युत करनेका पाप ही तो किया है । आज हममेंसे कोई एकाकिनी नहीं जायगी ।'

'धराके लिए हमसे आज कोई भय नहीं है ।' मेनका हँसी—'धन्य है भारत धरा ! महेन्द्र बार-बार हमें भेजकर भी पराजित ही होते हैं । वहाँका साधक पथच्युत भी होता है तो पुनः द्विगुण प्रदीप्त होकर उठता है और उसकी गुरुच्युति भी जगतीको उज्ज्वल आलोक, पुनीत प्रसाद अर्पित करती है ।'

'धराको भय हो या न हो, तुम्हें आज कुरुक्षेत्रमें महर्षि विश्वामित्रसे हम सब अकेली नहीं मिलने देंगी ।' सब खिलखिला उठीं—'न रम्भाको और न उर्वशीको । तुम सब तीर्थमें पर्वकालमें किसी तापसके समीप नहीं जाओगी ।'

'आज कौनसा सुरेन्द्रको भय है । होता भी तो कोई हममें आज उनका आदेश सुनती ?' रम्भा कह रही थी—'मयूर मुकुटीके धरापर रहते किसी जटिल तापसकी ओर हममें कोई दृष्टि उठा भी सकती है ?'

'तुम पार्थको ही प्रभावित नहीं कर सकीं' एक ने व्यंग किया—'अर्जुनके वे सखा तुम्हारी ओर देखेंगे ?'

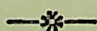
'बहिन, वे श्रीकान्त हैं । हममें कोई इतनी अज्ञ नहीं कि उनका आकर्षण पानेकी दुराशा करे ।' रम्भाने श्रद्धाभरित स्वरमें कहा—'हम तो अप्सराएँ ही हैं । अमरावतीकी अधीश्वरी शची भी द्वारिकाके अन्तःपुरकी दासियोंके सम्मुख अपनेको कुरूप अनुभव करती हैं और कुरुक्षेत्रमें तो व्रजकी गोपियाँ भी आरही हैं ।'

'हम चलेंगी । हम नृत्याङ्गनाएँ हैं । हमारा सामुहिक नृत्य उनके सम्मुख, उनकी सेवामें समर्पित होकर धन्य होगा ।' उर्वशी ने सोल्लास कहा—'वे रसराज सस्नेह देखेंगे हमें और हम उन वनमालीका दर्शन कर सकेंगी, किन्तु ··· ।

'किन्तु क्या ?' पूरा समूह मानो किसी अज्ञात आशंकासे आक्रोश कर उठा—किन्तु क्या ? हम चलेंगी । सुरपतिका निषेध आज नहीं सुनेंगी हम ।'

'सुरेन्द्रमें साहस है निषेध करनेका ?' उर्वशी हँसी—'कल्पवृक्षका हरण भूला होगा उन्हें ? मैं तो कह रही थी कि कहीं हमारे नृत्यको गन्धर्वोंके वाद्यका सुयोग मिल पाता ।'

'वे विश्वावसु आरहे हैं—निश्चय आमन्त्रित ही करने आरहे हैं ।' मेनका उठ खड़ी हुई—'मैं चली । चलो सब ! कमललोचन हमें मिलेंगे । धन्य होगा हमारा नृत्य ।'



षष्ठम खण्ड

[व्रजजन]

महर्षि शाण्डिल्य–

आराध्यकी अनुकम्पा—मैं व्रजके गोपोंका पुरोहित बना। मेरे आशुतोष प्रभु अवढर दानी हैं ; किन्तु मुझ पर तो उन्होंने असीम कृपाकी । जो उन वाञ्छाकल्पतरुसे जैसी इच्छा करता है, उसकी अभिलाषा वे गङ्गाधर पूर्ण कर देते हैं ; पर मैं तो विरोधकर रहा था। सात्वत-संहिता पाञ्चरात्रका प्रचारक, हिमगिरिके एकान्तका तपस्वी पौरोहित्यकी बात सुनकर आकुल हो, अस्वाभाविक क्या है ? वह पुरोहित पद भी न विप्रोंका, न किसी धर्मात्मा नरेशका । पौरोहित्य दिया जा रहा था मुझे गोपोंका। मैं उस समय कैसे समझता कि मुझपर वे मेरे शशाङ्कशेखर कैसी कृपाकर रहे हैं।

भगवान वृशभध्वज आज्ञा न देते, सृष्टिकर्ताका संकोच मैं नहीं मानता । यह शाण्डिल्य पद्मसम्भव ब्रह्माको भी शाप दे सकता था, ऐसी धृष्टताके लिए ; किन्तु धूर्जटि प्रभु मेरे गुरु हैं, आराध्य हैं । उनकी आज्ञाको मैं अस्वीकार नहीं कर सकता ।

अब समझता हूँ कि मैं कितना अज्ञानी था । कितना बचपन—वे वृषभध्वज मुझे सुर-मुनि दुर्लभ सम्मान दे रहे थे और मैं समझता था कि आज्ञा देकर मुझे अत्यन्त हेयपद—गोप-पौरोहित्य करनेको विवश किया गया है ।

मेरा भ्रम व्रजमें पहुँचते ही निवृत्त हो गया था। उस दिव्यधरा पर पहुँचा, गोपराजको देखा और लगा कि मुझे तो ऐसा पौरोहित्य दिया गया है जो सुरगुरु स्वप्नमें भी पानेकी कल्पना नहीं कर सकते ।

मेरा पौरोहित्य—उसका गौरव मैंने तब भी नहीं जाना था । परात्परपूर्ण पुरुष, सर्वेश्वरेश्वर पुरुषोत्तम मेरे यजमान नन्दरायके पुत्र होकर अवतीर्ण होंगे—मैं कैसे सोच सकता था ? किसीकी शक्ति—सर्वज्ञता उनका स्पर्श कहाँ कर पाती है ।

मैं श्रीनन्दनन्दनका कुलगुरु, उनका संस्कारकर्ता, उनका पुरोहित—भगवान ब्रह्मा और मेरे आराध्य भगवान नीलकण्ठ भी जिनकी पद-वन्दना करते हैं, जिनके श्रीचरणोंका हृदयमें संयतचित्त ध्यान करते हैं—वे वनमाली, मयूरमुकुटी, कमलनयन शैशवसे ही इस शाण्डिल्यके पैरों पर मस्तक रखने लगे थे ।

महर्षि गर्ग यदुकुलके पुरोहित हैं। मथुरा वासुदेवके आने पर पौरोहित्य गर्गाचार्यको प्राप्त हो गया और द्वारिकाके भी वही पुरोहित हैं, यह तो सारा संसार जानता है ;

किन्तु वासदेव मेरे श्रीनन्दनन्दनके अंश ही तो हैं। मेरे श्यामसुन्दर तो ब्रजको त्यागकर एक पद भी कहीं नहीं जाते।

यह अद्भुत लीला उन लीलामयकी, वे मेरे आश्रममें नियमित रूपसे प्रतिदिन गो-चारणको जाते समय सखाओंके साथ मुझे प्रणाम करने आते हैं और संसार कहता है कि वे ब्रजमें हैं ही नहीं। वे मथुरा आये और वहाँ से द्वारिका पहुँच गये। वे अब वासुदेव हैं—भगवान वासुदेव और आचार्य गर्ग उनके पुरोहित हैं।

पता नहीं क्यों श्रीब्रजराज भी लोगोंकी इन बातोंमें आगये हैं। वे यह भी नहीं देखते कि उनका लाल नित्य सायं उनकी गोदमें आ बैठता है गोचारण से लौट कर। गोपियाँ, ब्रजरानी यशोदा, गोपकुमार, गोप बालिकाएँ अत्यन्त भोली हैं। श्रद्धालु हैं। इन सबको प्रत्यक्षकी अपेक्षा श्रुति पर श्रद्धा है। ये जो स्वयं देखते हैं, उससे भी अधिक लोगोंकी बातों पर विश्वास करने लगे हैं।

कल्पान्तके समय होने वाले सूर्यग्रहणके समान ग्रहण होने वाला है। कुरुक्षेत्र पावनतीर्थ है—ऐसा पावन तो नहीं, जैसा ब्रज है; किन्तु मेरे ये सब यजमान चल रहे हैं तो मुझे भी इनके साथ चलनेमें आपत्ति नहीं है। ग्रहण-स्नान हो जायेगा। और महर्षि गर्गाचार्य मिल जायँगे। दिव्यलोकोंके तपोधन पधारेंगे, उनका सत्संग प्राप्त होगा।

श्रीनन्दरायको उनके परमप्रिय मित्र, भाई वसुदेवजी मिल जायँगे। ब्रजरानी यशोदा बहुत दिनों पीछे रोहिणीसे और इस बार देवकीजी से भी मिल सकेंगी।

वासुदेव मिलेंगे। श्रीनन्दराय से, यशोदाजी से, गोपकुमारों से, गोपबालिकाओं से वासुदेव मिलेंगे—कैसे मिलेंगे, यह देखनेका अवसर मिलेगा मुझे। वे अपनेको श्रीनन्दनन्दनसे कैसे अभिन्न प्रकट करते हैं?

इस शाण्डिल्यसे भी तो वासुदेव मिलेंगे। गर्गाचार्यजीकी उपस्थितिमें ही मिलेंगे और महर्षि गर्ग देखेंगे कि मयूरमुकुटी अपने वास्तविक कुलगुरुके सम्मुख प्रणत है।



मुनिगण—

अनादि अविद्या, मोहित जीव जब कभी अपने जन्म-जन्मके पुण्योदय—प्रसाद-वश भगवत् पादार बिन्दकी ओर उन्मुख होता है, उसे श्रीहरिकी अहैतुकी कृपाकी अनुभूति अवश्य होती है।

यह उन कृपापारावारकी अकारण कृपा ही तो है कि हम सबको नन्द-ब्रजमें निवास-प्राप्त हुआ। जब कि ब्रजके आस-पासका ही नहीं, दूर-दूर तकका प्रदेश कंसके आतङ्कसे ग्रस्त था, उसके असुर अनुचर तपस्वियोंके आश्रम अग्निदीप्त कर रहे थे, उपवन-उद्यान काट रहे थे, जलाशय नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे, वनोंमें भी मुनियोंका जीवन एवं संयम सुरक्षित नहीं था, हम मथुराके समीप सुरक्षित रहे।

हमारी सुरक्षाका भी प्रश्न नहीं था। हमें तो कंसके आतङ्ककी केवल कभी-कभी चर्चामात्र सुननेको मिलती थी। ब्रजमें तो ब्रजराजका अत्यन्त क्रीड़ाप्रिय चपल लाडला था। असुर-ध्वन्स उसकी परमप्रिय क्रीड़ा। कंसके जो अनुचर दिग्भ्रान्त होकर नन्द ब्रज पहुँचे, उन्हें फिर कहाँ लौटना था। श्रीनन्दनन्दनके समीप पहुँच कर जीव कहीं संसारमें लौटा करता है।

हम महर्षि शाण्डिल्यकी छायामें निश्चिन्त बने रहे। हमें तो वह चिन्मय भूमि मिली थी जो याचना करने पर भी सृष्टिकर्ताको प्राप्त नहीं हुई। महः, जन, तप और सत्य लोकके भी तपस्वी ऋषि-मुनिगण हमारे सौभाग्यकी स्पर्धा नहीं कर पाते। नन्दनन्दन हमारे अपने। हमें चाहे जब उनके भुवन मोहनमुखको देखनेकी सुविधा।

कंसके आतङ्कका अन्त हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा पहुँचे और उनका भू-भार-हरण कार्य प्रारम्भ हो गया। कालयवन उनके विरोध-वाडवमें भस्म हो गया। व्यर्थ हो गया बार-बारका जरासन्धका महान युद्धोद्योग। वह तो केवल भू-भारभूत सेनाको संग्रह करके संहार करानेका निमित्त बना।

सत्रह बार जिसे पराजय दी, उसके भयसे राम-श्याम भागे? उन लीलामयको अपना नित्यधाम द्वारावती सनाथ करना था, अतः वे रणछोड़ बने। अन्यथा मगधराज तो सब सहायकोंकी सेना लेकर कुण्डिनपुर भी पहुँचा था। श्रीकृष्णचन्द्र तक पहुँच भी नहीं सका वह। रुक्मिणी देवी उन मयूरमुकुटीकी थीं, अपना भाग लेकर वे शृगालोंके मध्यसे केशरीके समान चले आये। जरासन्ध और उसके सहायक तो सामान्य यादवोंके सम्मुखसे भी भाग खड़े हुए थे।

भू-भारहरण, धर्म स्थापन करके वे वनमाली सुरोंकी, श्रुतिकी सुरक्षा ही कर रहे हैं। यह स्वयं हमारी, हमारे साधनोंकी, हमारी परम्पराकी रक्षा है, यह हम सब जानते है। वे हमारी ही सेवा कर रहे हैं ; किन्तु उनका वियोग—उनसे सान्निध्यसे वञ्चित हो जाना कितना दारुण है।

श्रीनन्दनन्दन अब वासुदेव कहे जाते हैं ; किन्तु—किन्तु हमारे प्राणोंमें जो वे श्रीब्रजराज कुमार बसे हैं। हम सब चाहे जब द्वारिका चले आते—हमारे लिए द्वारिकामें स्थानका अभाव था ? हम अपरिग्रही, स्थान या तृण-कुटी हमको कहीं रोकनेमें समर्थ है ? किन्तु ब्रजभूमि कहीं ऐसे छोड़ी जाती है ?

श्रीनन्दराय, ब्रजरानी यशोदा, गोप-गोपियाँ, गोपकुमार और महर्षि शाण्डिल्य तक जिस सुयोगकी प्राप्ति कामना नहीं करते, हम इन सबको छोड़कर उसे पाने जासकते थे ? ब्रजभूमि वैसे भी सुरोंको सुदुर्लभ है और इस समय महर्षि तथा गोपराजका यह सान्निध्य—भले द्वारिकामें साक्षात् गरुड़ासन विराजमान हैं ; किन्तु ब्रजभूमिकी तुलना उनका नित्यधाम वैकुण्ठ भी कर सकेगा ?

हममें कोई ऐसा नहीं जो ब्रज-सीमाके बाहर श्रीद्वारिका भी दर्शन चाहता हो ; किन्तु इस समय सूर्य-ग्रहणने एक सुयोग दे दिया है। हम तो अपने कुलपति महर्षि शाण्डिल्येके पदानुगामी हैं। महर्षिने कुरुक्षेत्र चलनेका निश्चय किया है तो हम सब चलेंगे ही।

महर्षिका असीम वात्सल्य है ब्रजराज श्रीनन्दराय पर। गोपों, गोपियों, गोप-कुमारोंके साथ ब्रजराज कुरुक्षेत्र चल रहे हैं। उनकी यह यात्रा स्वाभाविक है। इतने दीर्घकाल पर उन्हें अपने हृदय सर्वस्व उस नीलसुन्दरका साक्षात्कार होगा। उसे अङ्कमें लगा सकेंगे वे। गोप-गोपियोंमें यह सुयोग कोई कैसे छोड़ देगा।

ब्रजराज चल रहे हैं तो महर्षिने भी स्वीकृति दे दी। उन्हें भी तो अपने यजमानको देखनेकी उत्सुकता है। महर्षिकी यात्राने अब हम सबको अवसर दे दिया है। वहाँ कुरुक्षेत्रमें योग-यज्ञ, जप-तप, ध्यान-ज्ञानका मूर्तिमान परमफल वे कमललोचन हमें प्रत्यक्ष मिलेंगे।



भगवती पूर्णमासी—

अचिन्त्य, अवितर्क्य शक्ति हैं देवी योगमाया। उनकी अनुकम्पा कि मुझे वृन्दावनका निवास प्राप्त हुआ। श्रीनन्दराय तो जैसे साक्षात् विश्वास एवं विनम्रता हैं और व्रजरानी यशोदा मूर्तिमती श्रद्धा तथा सेवा।

महर्षि शाण्डिल्य प्रथम दिनसे-जिस दिन मैं पहिले व्रज पहुँची थी, उस दिनसे मुझे अपनी सगी स्वसा मानते हैं। वे तो मुझे अपनी ज्येष्ठ बहिनके समान सम्मान देते हैं। मैंने बहुत चाहा कि कमसे कम अनुजा मानलें; किन्तु इसे वे स्वीकार ही नहीं करना चाहते।

मैं कौन हूं, यह जिज्ञासा कभी तो नन्द व्रजमें मुझसे किसीने नहीं की। एक परिव्रजनशीला वृद्धा तापसी—लेकिन भोले व्रजवासियोंने, व्रजराजने और उनके समर्थ कुलगुरु तकने सहज मानलिया कि मैं स्वयं योगमाया हूं। भगवती योगमाया—मैं उनकी अंशोद्भवा हूं, यह सर्वज्ञ महर्षिने भी नहीं कहा।

मधुमङ्गल मेरा पुत्र है, व्रजमें सब यही समझते हैं। मैं दूसरा कुछ कह भी नहीं पाती। मैं कहती हूं—'यह मेरा आश्रय है, पालक है, तो सब गोपियाँ हँस पड़ती हैं। विनोदी मधुमङ्गल 'हाँ' करके भी विनोदमें तथ्य उड़ा देता है। मैं कैसे यह कहूं कि इस श्रीनन्द तनयके नित्य सखाको आगे करके, इसका आश्रय लेकर ही मैं व्रजमें आयी।

सबसे विचित्र हैं श्रीराधा। ये सर्वेश्वरी स्वयं नन्दनन्दनसे नित्य अभिन्न, उनकी आह्लादिनी, महाभावरूपा—ये ऐसी भोली बन गयी हैं कि कुछ सीमा नहीं। ये मुझसे पूछती हैं कि अपने प्राण-सर्वस्वको कैसे प्राप्त करेंगी? ये योगमायाकी आराधना करती हैं। ये मेरे अङ्कमें मुख छिपाकर रुदन करती हैं।

भगवती योगमाया इनकी चरण-वन्दनांही कर सकती हैं। मैं इनसे क्या कहूं? इनके मयूर-मुकुटी सर्वस्व इनसे पृथक हों तो इन्हें कोई उनकी प्राप्तिका उपाय बतलावे। इनकी पद-रज पाये बिना उनके निकुञ्जकी दूरसे भी छाया नहीं मिलती और ये उनको पानेका मार्ग पूछती हैं।

मैं व्रजमें आयी—नन्दनन्दन और श्रीकीर्तिकुमारीका आकर्षण ही तो ले आया। मधुमङ्गल अपने नित्य सखाका—वह उनके साथ होगया और श्रीवृषभानुनन्दिनीने

मुझे अपना लिया। मुझे माताका स्थान, सम्मान, श्रद्धा दी। ये नन्हीं बालिका थीं तबसे मेरे अङ्कमें आकर बैठने लगीं। मुझसे रूठने-ठुनकने लगीं। कीर्तिरानीको जो सुख नहीं मिला वह दिया इन्होंने मुझे।

श्री राधा मेरे समीप आकर तो अब भी वैसी ही नन्हीं बालिका हो जाती हैं; किन्तु अब वह मचलना कहाँ। अब तो इन्होंने वियोगिनीका बाना अपना लिया है। इनका और यशोदा नन्दनका वियोग – चन्द्र और ज्योत्स्नाका वियोग तो सम्भव भी है; किन्तु राधा कृष्णका वियोग सम्भव कैसे है? दो तत्त्व हों तो उनमें वियोग हो। ये तो एक ही दो रूप हैं।

नट नागर लीलामय है। वह नित्य वृन्दावनमें रहकर भी वासुदेव बना द्वारिका जा बसा है। उसे जगतीको बहुत कुछ देना है। उसकी इस अभिन्नाको संसारकी परमपावन श्रीकृष्ण प्रेमकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करनी है। यही समर्थ है श्याम-वियोग का यह कल्पनातीत स्वरूप साकार करने में।

यह क्षण-क्षण सूखती, कण-कण छीजती अङ्कमें मुख दुबकाकर सिसकने, सिहरने स्वेद गलित होने लगती है तो लगता है कि हृदय फट जायगा। इससे कैसे पूछूं कि तेरी यह ढीली वेणी किसने गूँथी है? तेरे केश पुष्प सज्जा करते समय किसके स्वेदसे आर्द्र हुए हैं? तेरी कपोल पल्ली पर बना कुसुम-पत्रक इतना क्यों फैला-बिखरा है? किसके कम्पित करोंकी यह कृति है? कुछ पूछ नहीं पाती हूं। कुछ कह नहीं पाती हूं। इसकी मूर्छा, इसका रुदन सहा नहीं जाता है।

अब यह तनिक प्रसन्न हुई है। अब कहती है—'कुरुक्षेत्रमें वे कमल-लोचन मिलेंगे।'

इससे वह वनमाली कभी पृथक हुआ है? लेकिन अच्छा है, कुरुक्षेत्रमें सूर्य-ग्रहण स्नान करके द्वारिकासे वह वासुदेव आवेगा। अपनी सब रानियोंको लेकर आवेगा। व्रजकी ये गोपबालिका यें उससे मिल सकेंगी। वह मिलेगा इन सबसे। ये उसकी रानियोंसे मिलेंगी और उनकी रानियाँ भी देखलेंगी कि सौन्दर्य, सौकुमार्य, शील क्या होता है। श्रीकृष्ण प्रेम साकार हो तो कैसा होता है।

मेरी यह राधा-मेरी सर्वस्व, मेरी बच्ची मिलेगी श्रीकृष्णसे। यह प्रसन्न होगी। मैं इस माननी को मिलते देखूँगी। इसके मिलन सुखका दर्शन मिलेगा मुझे।

—×—

श्रीनन्दराय—

वसुदेवजी कितने शीलवान हैं। उनके ६ पुत्र जो देवकीसे उत्पन्न हुए, कंसने मार दिये। तब तक तो उनके कोई पुत्र नहीं था। अपने पुत्रकी रक्षाका प्रयत्न तो क्रूर पशु भी करते हैं। उन्होंने अपना पुत्र चुपचाप मेरे यहाँ पहुँचा दिया तो इसमें दोष क्या उनका ? अन्ततः उन्होंने मुझे अपना माना- इतना विश्वसनीय माना कि ज्ञात होने पर भी मैं उनका रहस्य प्रकट नहीं करूँगा, तब तो ऐसा किया।

मेरी कन्या वे उठा लेगये—न भी लेगये होते तो उसे मैं रखपाता ? वह मानवी तो नहीं थी। वह देवी—चाहे जब वह अष्टभुजा होकर देवलोक चली जाती। हम गोपोंके घर टिकती वह ? यह अच्छा हुआ कि वे उसे लेगये। एक का ही वियोग रात-दिन तिल-तिल भस्म कर रहा है, वह कुछ काल रह कर जाती तो उससे भी मोह हो जाता। उसका भी वियोग होता तो व्रजमें कोई जीवित रह पाता ? उसका मुख देखे बिना ही हम रह गये, यह कुशल हुई।

सन्तान तो मेरे भाग्यमें ही नहीं थी। यह तो वसुदेवजीने मुझे पुत्रवान बनाया और वे मथुरामें बोल नहीं पारहे थे। उन्होंने अपने मुखसे यह स्पष्ट नहीं कहा कि कृष्णचन्द्र उनका है। वे उसी कन्याकी ग्लानिमें गड़े जाते थे। अरे कहीं कोई देवी किसीकी कन्या होती है। वह तो अपने किसी प्रयोजनसे मेरे यहाँ प्रकट हो गयी थी बालिका बनकर और हममें किसीको पता दिये बिना ही अपने दिव्यधाम चली गयी।

वसुदेवजीने तो मुझे पुत्रवान बनाया। उनके एक नहीं, दोनों पुत्रोंका मैं बाबा बना। दाऊ और श्याम दोनों मेरे—मथुरा और द्वारिकामें भी तो कोई नहीं कहता कि दोनोंमें कोई मेरा नहीं है।

नीलमणि मेरा नहीं है, यह जिस दिन मेरा हृदय मानेगा, एक क्षण भी नन्द जीवित रह सकेगा ? क्या हुआ कि वह मथुरा चला गया। अन्ततः वे बेचारे यादव कब तक यन्त्रणा भोगते रहते ? वसुदेवजी जैसे सत्पुरुष कारागार-काटनेके लिए हैं ? देवी देवकीको कितने दारुण कष्ट भोगने पड़े। स्वयं महाराजा उग्रसेन तक बन्दी थे। श्यामसुन्दर अग्रजके साथ मथुरा गये तो इन सबकी विपत्ति दूर हुई। वह इनको सुव्यवस्थित बसाये बिना कैसे लौट आता ?

कितने दिन वह शान्तिसे मथुरा बैठ सका ? गुरुगृहसे लौटा तो मगधराजके आक्रमण आरम्भ हो गये। जो उसीके आश्रित थे, जिनको उसीने कष्टमुक्त किया

था, उन्हें जरासन्ध जैसे नृशंसकी दया पर छोड़ देता ? जरासन्ध नरमेंधमें बलि देनेके लिए नरेशोंको बन्दी बनाये हैं, यह जानकर भी कोई उस पर विश्वास करेगा ?

जरासन्धके आक्रमण तो वार्षिक विपत्ति बन चुके थे। इससे छुटकारेके लिए उसने उचित उपाय किया। समुद्रके मध्य दुर्गम दुर्ग द्वारिकामें यादव सुरक्षित होगये लेकिन वहाँ भी क्या कन्हाईको निश्चिन्तता प्राप्त हुई ? जरासन्ध जैसा विकट व्याघ्र घात लगाये बैठा ही है, दूसरे भी अनेक हैं। शाल्व, पौण्ड्रक, दन्तवक जैसे जाने कितने द्वारिका पर दांत लगाये निगल लेनेका अवसर देख रहे हैं।

मेरे राम-श्याम युग-युग जीवित रहें। वे स्वजनोंके रक्षा-कवच बने अक्षय सुयश प्राप्त करें। हम गोपोंका क्या है, हम किसी प्रकार जीवनके दिन काट ही रहे हैं; किन्तु नन्द इतना स्वार्थी तो नहीं है कि अपने प्राण प्रिय सखा, भाई वसुदेवजीको, उनके स्वजनोंको विपत्ति-वह्निमें झोंककर कन्हाईको व्रजमें आनेको कहेगा।

यादव सुरक्षित रहें, सुखी-सम्पन्न रहें यह पहिली बात। मेरे श्यामकी ओर कोई अंगुली न उठे कि उसने अपने आश्रितोंकी, अपने शरणागतोंकी उपेक्षाकी। उसके सुयशकी सुरभिसे दिगदिगन्त सुरभित रहे। उसकी कीर्ति कौमुदी कल्पान्त तक समस्त जगतीको उज्ज्वल किये रहे। वह सुखी रहे, सानन्द रहे। उसके कमलमुख पर कभी कोई चिन्ताका चिन्ह न देखे। वह तो व्रजका है। कहीं रहे, वह रहेगा नन्दपुत्र ही।

कितना भोला, कितना स्नेहशील है श्याम। वह सुनले कि उसके वियोगमें उसके बाबा, उसकी मैया, उसके सखा नहीं रहे, क्या दशा होगी उसकी ? नहीं, हम सबको जीवित रहना है, प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह सुनेगा कि हम उसके लिए दुःखी हैं तो उसके विशालदृगोंसे अश्रु झरेगा। उसे रुदन नहीं करना चाहिए। उसके पद्मपलाश दृगोंमें अश्रुकी कल्पना भी मेरे लिए असह्य है।

मथुरा निकट थी; किन्तु अपने श्यामसे मिलनेके लिए तो मुझे ब्रह्मलोक भी दूर नहीं लगेगा, द्वारिका तो भूतल पर ही है और भारतवषमें ही है। दिनमें दो बार मैं मथुरा जा सकता था—नहीं गया, मेरे जानेसे मेरे कृष्णको संकोच होता। उसके कार्यमें बाधा पड़ती। वह मुझे देखकर कोई कार्य स्मरण कर नहीं सकता। मैं सम्मुख होऊँ तो मेरी गोदमें बैठा रहेगा या मेरे सत्कारमें जुटा रहेगा। उसे संकोचमें डालने उसके कार्यमें बाधक बनने मैं कैसे जाता ?

मैं तो प्रतीक्षा कर ही रहा था। व्रजके सब प्रतीक्षा कर रहे थे। हम प्रलय पर्यन्त प्रतीक्षा करते रहते। उसको आनेको कहा है, वह आवेगा—आये बिना रह नहीं सकता ; किन्तु यह सूर्य ग्रहण आने वाला है। इस अवसर पर वह कुरुक्षेत्र आवेगा। अपने परिवारके साथ आवेगा। वसुदेवजी आवेंगे।

देशके विभिन्न प्रदेशोंके कोटि-कोटि मानव वहाँ तीर्थमें आवेंगे। मेरे व्रजके लोग भी पहुँचें तो कृष्णको संकोच नहीं होगा। वहाँ हमें वसुदेवजी मिलेंगे, देवी रोहिणीके दर्शन होंगे। महाराज उग्रसेन मिलेंगे। मेरे राम-श्याम मिलेंगे मुझे।

—:※:—

व्रजेश्वरी यशोदा--

अब मेरा नीलमणि मिलेगा मुझे। मुझ कंगालिनी का धन। मैंने उसे पाकर खो दिया। उसे खोकर तो मैं जैसे अन्धी होगयी। मेरे हाथ-पैर किसी में हिलनेकी शक्ति नहीं रही। वही तो मेरा प्राण, मेरा जीवन है।

महर कहते हैं कि मुझे रोना नहीं चाहिए। मुझे दुःख नहीं होना चाहिए। वे कहते तो ठीक ही हैं कि मुझे खिन्न, दुर्बल देखेगा मेरा नीलमणि तो उसके कमल लोचन भर आवेंगे। वह दुःखी हो जायगा। वह तो नन्हा था तब भी मुझे तनिक उदास नहीं देख पाता था। उसका म्लानमुख, उसके नेत्रोंमें अश्रुकी बात सोचते ही लगता है हृदय फट जायगा।

मैं मर गयी होती, कबकी मर-खप चुकी होती। मेरा नीलमणि मथरासे नहीं लौटा, यह सुनकर भी यह पाषणी यशोदा जीवित रही—क्या करती ? महरने बचा लिया। अच्छा किया समय पर सचेत कर दिया। सचमुच वह ब्रज आता—आता ही, घर छोड़कर बाहर कब तक भटकेगा ; किन्तु सुनता कि उसके वियोगमें उसकीमैया हृदय फटसेने मर गयी तो फूट फूटकर रोता नहीं ? अच्छा हुआ कि महरने मुझे बचा लिया। उसे रुदन नहीं करना चाहिए।

वह रोयेगा—निश्चय रोयेगा यदि मुझे दुर्बल, दीना, खिन्न-वदना देखेगा। वह कितना स्नेह पूर्ण है। उसे रुदन नहीं करना चाहिए। मैं प्रसन्न रहनेका प्रयत्न

करूँगी। मैं वहुत बहुत खाती रहूँगी—भले गलेमें न उतरता हो, बलपूर्वक खाती रहूँगी। मैं सुसज्ज रहूंगी—शृङ्गार करूँगी। मेरे नीलमणिको उदास नहीं होना चाहिए अपनी इस मैया को देखकर।

महरने मुझे बचा लिया। मुझे ही नहीं, पूरे ब्रजको बचा लिया। मैं अबला उनके जैसा धैर्य कहाँसे लाऊँ; पर वे ठीक कहते हैं कि ब्रजके बालक-बालिकायें मेरे ही अङ्कमें तो तनिक आश्वासन पाती हैं। मैं व्याकुल रहूं तो उनको धैर्य कौन बँधावे।

बालक जीवित रह सकते थे? जीवित रह सकती थीं बालिकायें यदि यह भाग्य-हीन मर जाती? कितने भोले, कितने सुकुमार हैं सब। मुझे उनके करोंसे मुखमें ग्रास लेना पड़ता है—इसलिए मुखमें लेना पड़ता है कि वे भी कुछ मुखमें डाल सकें।

मेरा नीलमणि ही कितना भोला है। उसे यादवोंने बहका दिया कि वह वासुदेव है और वह उनकी रक्षामें, उनके पालनमें व्यस्त हो गया। सुना कि द्वारिकामें सबने मिलकर उसके बहुतसे विवाह कर दिये हैं। मेरी वे सब पुत्रवधुएँ भी तो मिलेंगी मुझे।

कोई कितना भी बहका ले, नीलमणि अपने बाबाको, अपनी मैयाको भूल सकता है? यादव उसे ब्रज आने नहीं देते। उसे एक न एक अटपटे कामोंमें उलझाये रहते हैं। दूसरा कुछ न हो तो उसका कोई नया विवाह कर देते हैं। उसे तो बहुत नन्हा था तब से विवाह करनें की ललक थी। अब कौनसा बड़ा हो गया होगा। नया विवाह—वह इतना भोला है कि इसी सबमें द्वारिका उलझा है।

यादवोंने उसके इतने विवाह कर दिये। अब अपनी उन पुत्रवधुओंको मैं पति-विमुक्ता तो नहीं बना सकती; किन्तु ब्रजकी-बरसानेकी ये भोली बालिकाएँ? ये तो दूसरे किसीका नाम भी सुनना नहीं चाहतीं। इनके हिलते अधर रात-दिन उसीका नाम जपते हैं, मैं माँ होकर क्या इतना भी नहीं जानूँगी। क्या होगा इन सबों का? क्या होगी मेरी नवनीत जैसी सुकुमारी वधू कीर्तिकुमारीका?

जीजी रोहिणी मिलेंगी। मिलेंगी देवकी रानी। अब वही माता सही नील-मणिकी। मैं अञ्चल फैलाकर उनके चरणोंमें भिक्षा माँगूँगी कि ब्रजकी इन बालि-काओंको भी अपने लालके अन्तःपुरमें थोड़ा स्थान दे दें। वे इस दुःखियाकी इतनी याचना स्वीकार नहीं करेंगी?

कितनी बड़ी होगी द्वारिका? सुना है कि वहुत बड़ा नगर है। रोहिणी जीजीसे अनुरोध करूँगी। उन्होंने मेरा अनुरोध कभी टाला नहीं है। उनसे कहूंगी—वे अपने स्वामीसे कहकर महाराज उग्रसेनसे अनुमति लें। अन्ततः द्वारिकामें भी तो गायें होंगी।

गोपगण—

'ब्रजका कोई युवराज नहीं है' । सोचते ही लगता है कि हृदय फट जायगा । श्रीनन्द राय सदासे परमोदार हैं, किन्तु इतनी उदारता—ऐसी भी कोई करता है कि अपना पुत्र ही दे दिया मथुरा वालों को । वसुदेवने कहा और इन्होंने मान लिया । पुत्र भी कैसा, त्रिभुवन में जिसकी तुलना नहीं । कोई देवता भी जिसके समकक्ष न हो सके ।

हम भले व्रजराज का विरोध न कर सकें, किन्तु कन्हाई हमारा नहीं है, यह हम मान नहीं सकते । वह हमारा है और सदा हमारा रहेगा । क्या हुआ कि वह यादवोंकी सुरक्षामें उलझ गया है । उसका स्वभाव ही है—शैशव से उसका स्वभाव है दूसरों की विपत्ति अपने सिर लेकर उसे मिटा देना । हमारी ही कितनी-कितनी विपत्तियाँ उसने अपने सिर लीं और जैसे चुटकी बजाते उन्हें फूँक कर उड़ा दिया ।

यादव दुःखी थे—बहुत अधिक संकटमें थे । कंसने अधिकांशको मथुरासे निर्वासित कर दिया था । जो मथुरामें रह गये थे, और जो कहीं जा छिपे थे सबके प्राण संकट में थे । कंसके राक्षस कब क्या करेंगे, कुछ ठिकाना नहीं था । महाराज उग्रसेन जैसे देव पुरुष बन्दीगृह में । वसुदेव-देवकी का वह दारुण किसी क्षण वध कर सकता था ।

हमारा कन्हाई किसीको विपत्ति में देख नहीं सकता । उसने कंस के प्रधान-प्रधान राक्षस यहीं मार दिये थे । उस दिन मल्लशालामें कंसका भी उसने कचूमरकर दिया।

कृष्ण बच्चा था तबसे अत्यन्त बुद्धिमान है । बड़ी दूरकी सोच लेता है । उसी का विचार ठीक था, कंस को मार देनेसे ही यादवोंकी विपत्ति टल नहीं गयी थी । राम-श्याम रुक न गये होते, जरासन्धकी टक्कर वहाँ दूसरा कोई झेलले सकता था !

जिद्दी जरासन्धका ज्वर तो वार्षिक बन गया । प्रतिवर्ष वह चढ़ाई करने लगा अन्ततः सुरक्षाका कोई सुदृढ़ उपाय तो करना ही था । कृष्णने उचित निर्णय किया । वह सदा संकटमें सबके लिए मार्ग निकाल लेता है । द्वारिका यादवों का निरापद आश्रय बन गया अब जरासन्ध जैसा कोई दुष्ट वहाँ सहसा नहीं पहुंच सकता सेना लेकर ।

अब भी द्वारिकाके शत्रु समाप्त नहीं हुए । साथ ही एक उलझन और हो गयी । कृष्ण को विवाह करने की धुन बचपन से है । तनिकसा था तब से जो लड़की दीखी उसी से विबाह करने को उद्यत हो जाता था । उस जैसा भुवन-सुन्दर वर मिले तो इन्द्र भी अपनी कन्या दे देगा । राजाओं ने उसे जामाता बनाया तो क्या आश्चर्य ।

उसने कहा है कि वह आवेगा। वह हमारा है, अतः हमारे मध्य तो आवेगा ही, किन्तु उसकी ये जो बहुत सी रानियाँ हो गयी हैं ? वे हमारे ब्रजराज कंगाल तो हैं नहीं। क्या अभाव है हमारे व्रज में। हम कन्हाई की सब रानियों को, उसके सब बेटे-पोतोंको ले आवेंगे। हमारा व्रज और विशाल बन जायगा। यह ब्रज तो है ही हमारे व्रजराज-कुमार का। इसमें उसके कुलका विस्तार बढ़े; इससे अधिक उत्तम क्या होगा।

एक ही बात—कृष्णको कोई कार्य अपूर्ण छोड़ना नहीं आता। पता नहीं उसका यादवों की सुरक्षा का कार्य अब भी पूर्ण हुआ या नहीं। अब भी यादवों के शत्रु तो बहुत हैं और उनका भाग्य सुनिश्चित है। हमारे कन्हाई का विरोध करके कभी कोई सकुशल रहा है ?

हम गोप किसी से दुर्बल तो नहीं हैं। हमें भी शस्त्र सम्हालना आता है और अच्छा आता है। कृष्ण केवल यह बतादें कि किन-किन का उत्पात ठण्डा कर देना है तो हम उन सबको देखलेंगे, किन्तु वह ऐसा करेगा ! बहुत बच्चा था तब भी उसने ऐसा नहीं किया। कंस के भेजे असुरों को वह स्वयं सम्हालता रहा। समीप खड़े सखाओं तकको तो उसने समय दिया नहीं।

हमारा कमललोचन कृष्णचन्द्र—उसे अपनोंका श्रम सह्य नहीं। अपनों को किसी संकट की चिन्ता नहीं हो, इससे पहिले दौड़ पड़ता है। किसीको भी—किसी अपने को शत्रु के प्रतिकार में हाथ भी उठाने नहीं दिया कभी उसने ! अब क्या उसका स्वभाव कहीं चला गया है।

हम उसे संकोचमें नहीं डाल सकते। उसका उदास-सचिन्त मुख देखा नहीं जायगा अन्यथा उसे हाथ पकड़ कर ले आते। वह कहीं हमें ना कर सकता है, किन्तु वह सुखी रहे, प्रसन्न रहे। हमारा इतना ही सौभाग्य कि वह हमें कुरुक्षेत्र में मिलेगा। दाऊके साथ उसका चन्द्रमुख देख सकेंगे।

—+—

वृद्धा गोपियाँ–

'वृषभानुने उचित ही निर्णय किया कि वे, उनकी पत्नी अथवा उनके कोई भाई कुरुक्षेत्र नहीं जायँगे।' वृद्धाओंका समूह एकत्र हुआ तो उनमें कुरुक्षेत्रके ग्रहण-स्नान की चर्चा चल पड़ी।

'नन्दराय तो इतने भोले, इतनी सीधे हैं कि उन्हें संसारके किसी व्यवहारका पता नहीं रहता। वे तो एक ही बात जानते हैं कि दूसरोंको देते रहो। सुख सुविधा, सम्पत्ति देते रहो दूसरोंको।' एक स्वर गद्गद हो गया—'इसीसे तो नारायणने उन्हें ऐसा पुत्र दिया जो देवलोकमें भी दुर्लभ है।'

'हमारे व्रजराज इतने भोले कि वरसानेका भी सेवक, सम्बन्धी आजाय तो उसे भेंट देने लगते हैं।' एकने कहा—'ऐसी ही हैं नन्दरानी। उन्हें भी लुटाना ही प्रिय है। दोनोंने जैसे देना ही जाना है। उचित उपहार लेते भी दोनों ऐसे झिझकते, संकोच करते हैं जैसे उनको ऋण दिया जारहा हो।'

'अब इसी अवसर की बात देखलो। नन्दरायकी चले तो वे पूरे व्रजको साथ लेजायँ। वे तो नन्दग्राम, वरसाने ही नहीं, आसपासके सभी गोपोंको निमन्त्रण देते फिर रहे हैं कि सब उनके साथ चलो। सबकी व्यवस्था, सबका व्यय वे स्वयं करेंगे। व्रजके सब गोपोंके घरोंकी रक्षा, गायोंकी सेवा भी वे सम्हाल लेंगे।'

'नन्दरायने तो यहाँ तक कहा सुनते हैं कि सेवकोंमेंसे भी सबको जाना चाहिए। वे अकेले रहेंगे व्रजमें और सबकी गायें सम्हाल लेंगे। यह भी कोई सुनने योग्य बात है कि सबके सब गोप और सेवक भी ग्रहण-स्नान करने चले जायँ। सब श्यामसुन्दर का श्रीमुखदर्शन करें और व्रजराज यहाँ अकेले गायें चरावें।'

'वृषभानुजीने उचित ही निर्णय किया कि वे और उनके कोई भाई नहीं जायँगे। वरसानेसे केवल बालक और बालिकाएँ जायँगी। वे सब व्रजपतिके अपने ही हैं। उन्हें यात्रामें नन्दराय सम्हाले रहें और यहाँ व्रजके गोष्ठोंकी, गायोंकी देखभाल, रक्षा वृषभानुजी करेंगे।'

'यात्रामें संकोच शिष्टाचारका निर्वाह हो नहीं पाता।' एक वृद्धाने कहा–'वृषभानुजी ही सबकी व्यवस्था करें यात्रामें, यह नन्दराय मानने वाले नहीं थे और वृषभानुजी, उनके भाई, सेवक नन्दरायका कोई पदार्थ कैसे स्वीकार करते ?'

'मार्गमें तो किसी प्रकार यह सब चल भी जाता ; किन्तु कुरुक्षेत्र पहुँच कर ?' यह समस्या अबतक किसीके ध्यानमें नहीं थी—'वहां पहुँचकर दाऊ और कृष्ण मिलेंगे । वे द्वारिकानाथ हैं। राजाओंके मुकुटमणि हैं । वे व्रजके लोगोंको कुरुक्षेत्रमें रहने देंगे ? वे दोनों आग्रह करने लगेंगे तो वृषभानुजीसे अस्वीकार करते बनेगा ? तीर्थमें वैसे ही कोई किसीका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहता । वृषभानुजी और बरसानेके लोग वहाँ जाकर राम-श्यामका सत्कार ग्रहण करते ? अस्वीकार भी कैसे करते ?'

'बरसानेकी बालिकाएँ—बेचारी कीर्ति कुमारी और उसकी सखियाँ, दैवने उन्हें यहाँ नन्दराय और यशोदारानी का वात्सल्य नहीं प्राप्त होने दिया, इस यात्राके बहाने तो उन्हें व्रजराजकी छायामें रहनेका सौभाग्य-सन्तोष मिलना चाहिए । वृषभानुजी साथ चलकर अपनी दुःखिया पुत्रियोंको इस सौभाग्यसे कैसे वञ्चित करदेते ।'

'बरसानेके बालकोंके लिए जैसा वृषभानुजीका भवन, वैसा नन्दगृह । वे अपनी बहिनोंके साथ नन्दराय और यशोदाके समीप अधिक प्रसन्न रहेंगे । अधिक सुखी-स्वतन्त्र रहेंगे । इन उदास, दुःखी बालकोंको भी तो प्रसन्नता प्राप्त होनी चाहिए ।'

'वृषभानुजी साथ चलते तो श्यामसुन्दर संकोच करता । वह बरसानेकी बालिकाओंको अपने शिविरमें, अपने अन्तःपुरमें लेजानेको कैसे कह पाता ? उसके सखा भी उसीके समीप कैसे रह पाते ? उन्हें भी बार-बार पितासे अनुमति लेनी पड़ती । अब कुछ दिन तो बेचारी बालिकाएँ अपने उस सर्वस्वका सान्निध्य पावेंगी ।'

'हम सबको अब कितने दिन जीवित रहना है । वृषभानुजी साथ रहते तो हमें ही कितना संकोच करना पड़ता । सूर्य-ग्रहणका स्नान तो एक निमित्त आगया, नहीं तो पता नहीं अपने उस कमल-लोचन वनमाली श्यामका मुख देखनेको मिलता भी या नहीं मिलता

'वह सदाका चपल और स्नेहपूर्ण । दाऊ और वह हमारे अंकमें ही आ बैठते थे । कन्हाई तो चाहे जब आञ्चलमें मुख छिपाकर दूध पीनेकी चेष्टा करता था । वे दोनों दौड़े आवेंगे और गोदमें बैठेंगे । वे मिलेंगे । ऐसे समय कोई संकोच करना होता – वृषभानुजी युग-युग जीवें–उनका निर्णय उचित है ।'

वृद्धाओंकी चर्चा कैसे विरामले । उनका एक ही चिन्तन—राम-श्याम मिलेंगे उन्हें ।



सेवक—

विधाता किसी भी जीवपर जितनी कृपा कर सकता है, उससे भी अधिक कृपा उसने हम सब पर की। ब्रजका वास मिला और श्रीब्रजराजकी सेवा मिली। जन्म-जन्म हम सेवक ही होकर उत्पन्न हों और अपने इन्हीं श्रीनन्दरायके सेवक हों। हमको दूसरा कुछ कभी नहीं चाहिए।

सब कहते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं और हम सब तो शूद्र हैं, किन्तु कोई देवता, ऋषि-मुनि हमको तो श्रेष्ठ नहीं लगता। हो श्रेष्ठ वह, पर हमें न देवत्व चाहिए, न ऋषि-महर्षि होना। अपने ब्रजराजकी सेवा छूट जाय, कोई पद प्राप्त हो; वह तो कठोर दण्ड होगा। हम इस सेवाको छोड़नेकी कल्पना भी नहीं कर पाते।

हम सेवक हैं, यह तो ठीक है; किन्तु व्रजराजने तो हमें सगे अनुजोंके समान ही सदा रखा है। स्मरण ही नहीं आता कि उन्होंने कभी कोई आज्ञा दी हो। उपालम्भ भला वे किसीको क्या देंगे, वे तो इसीमें व्यस्त रहते हैं कि हममें-से किसीको अधिक श्रम न पड़े। वे देखते ही रहते हैं कि हमारी दृष्टि बचाकर कौनसा कार्य कब स्वयं करलें।

कार्य हमें कम से कम करना पड़े और सुविधा-सामिग्री सबसे पहले मिले, सबसे अच्छी मिले। हमारी ब्रजरानी तो लगता है कि हमारी सगी माता हैं। उनकी चले तो वे अपने कुसुम कोमल कुमारसे भी पहले हमें कलेऊ करा दिया करें।

हममें कोई नहीं जिसपर अनेकबार व्रजेश्वरी क्रुद्ध न हुई हों। व्रजराज क्रोध करना नहीं जानते; किन्तु मैया यशोदा—तनिक देर करदो कलेऊ करनेमें, तनिक भोजनको बिलम्बसे पहुंचो, स्वेदसे भीगे शरीरको देखलें अथवा लगे कि शरीरकी उपेक्षा करके वर्षा-आँधीमें निकले हो तो सुनो उनकी प्रताड़ना। वे डाँटेंगी और रुदन करने लगेंगी। उनके चरणोंमें मस्तक रखकर क्षमा मांगनी पड़ती है और तब वे खिलावेंगी-जी भरकर खिलावेंगी।

श्रीव्रजराजकुमार—महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि इन स्याम सुन्दरकी चरण-रज भी दुर्लभ हैं ऋषि-मुनियोंको; किन्तु हमको तो कितना-कितना सुख दिया इन्होंने। कितनी मधुर चपलता इनकी। पिता, चाचा, ताऊको भी जो उनका संसर्ग कठिनाईसे मिलता था, हमको सुलभ था।

'चाचा !' कृष्णचन्द्रने कभी किसीका नाम नहीं लिया। किसीको चाचा और किसीको ताऊ ही कहा सदा। दौड़ते ही आते थे और कभी पीछेसे कण्ठमें भुजायें डालकर पीठपर झूल जाते थे, कभी दोनों नेत्र बन्द करते थे, कभी कन्धेपर आ बैठते थे।

'चाचा ! वह पुष्प तोड़ दे।' फिर कुछ सुनना नहीं उन्हें। चाहे हाथ गोबर सने हों, चाहे गोबरका टोकरा सरपर हो, पहले उनका काम करदो। वे सुनने-समझने को उद्यत नहीं।

हम सब उन्हें खिझानेको टालते थे और वे मचलते थे। हमारे श्मश्रु खींचते थे। कभी पगड़ी ले भागते और अपने मस्तकपर लपेटते और कभी अपना ही पटुका हमारे ही सिरपर लपेटने लगते थे।

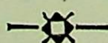
कितना सुख, कितना आनन्द था व्रजमें। दैवसे देखा नहीं गया वह। अक्रूरजी आये और हमारे राम-श्यामको ले गये। अब क्या व्रज देखने योग्य रहा है। दावाग्नि-में दग्ध तरु-लताओंके समान गोप-गोपियाँ। हृदय फट जाता है जब व्रजराज कुछ करते देखकर भरे नेत्र कहते हैं—'भैया अब यह श्रम क्यों करते हो ? किसके लिये कष्ट उठाते हो ?'

व्रजेश्वरी मैयाके सम्मुख जाते नहीं बनता। गये बिना चलता भी नहीं। न जाओ, बिलम्ब कर दो ढूँढ़ती गोष्ठमें आ पहुँचेंगी और भरे स्वर कहेंगी—'अब तो समयपर कलेऊ कर लिया करो। अब कहाँ नीलमणि है कि तुम्हें बुलाने भेज दूँ उसे।'

मैयाके मुखमें दाना नहीं जाता। पितासे स्नेहमय व्रजपति सूखते जारहे हैं और हमको समयपर कलेऊ-भोजन—व्रजमें अब सुख भोग करनेको हमीं बचे हैं। पर करें क्या ? मैया दुःखी न हों, इसलिए कलेऊ, भोजन सब करना पड़ता है।

अब यह ग्रहण आनेवाला है। कुरुक्षेत्र स्नानके नाम पर व्रजमें सबमें उत्साह आ गया है। हम सेवकोंका सौभाग्य जागा है। कभी मैया और व्रजेन्द्र भी कुछ करनेको कह देते हैं।

कुरुक्षेत्रमें हमको अपने व्रजेन्द्र, अपनी यह मैया प्रसन्न देखनेको मिलेगी। मिलेंगे हमारे दाऊ-श्याम और उनकी सेवा मिलेगी।



मधुमंगल—

'वासुदेव ब्रह्मण्यदेव हैं' द्वारिकामें उनके अन्तः पुरमें भी ब्राह्मणोंका अबाध प्रवेश है।' पता नहीं लोग ऐसी कितनी बातें मुझसे कहते हैं। मैं इन सब बातोंका क्या करूँ? होनेको तो मगधराज जरासन्ध भी ब्राह्मणोंका परम भक्त है। कर्णका नाम भी दानियोंकी गणनामें प्रथम लिया जाता है; किन्तु मधुमङ्गल कोई भिक्षुक ब्राह्मण है?

मधुमङ्गल सखा है नन्दनन्दनका। मेरा वासुदेवसे परिचय? सुना है कि वे चतुर्भुज हैं। मुझे पूजा करनेका व्यसन होता तो मैं द्वारिका चला गया होता। मुझे न चतुर्भुजकी पूजा करनी और न चतुर्भुजकी पूजा लेनी।

मधुमङ्गल ब्राह्मण है और अब कङ्गाल हो गया है; किन्तु इस कृष्ण-कङ्गालको कोई इसका कन्हाई दे देगा? कोई देता हो तो यह भिक्षुक किसीके द्वारपर भी झोली फैलाने दौड़ जाय। माँगनेमें मुझे कभी लज्जा नहीं थी; परन्तु मधुमङ्गलको कोई मुट्ठी भर कङ्कड़-पत्थर देगा तो उसका उपयोग? मुझे तो चमकते पत्थरोंको रत्न कहनेमात्रसे गले-बाँधनेका व्यसन नहीं।

मेरा व्रज बना रहे, बने रहें गोप-गोपी और मेरे सखा गोपकुमार। सानन्द रहें व्रजकी गायें। मधुमङ्गलकी ही क्षुधा मर गयी तो कोई क्या करे, अन्यथा व्रजके प्रत्येक घरमें मेरे लिए मोदक, नवनीतके भाण्ड अब भी भरे धरे हैं। अब भी—जब प्रत्येक श्यामसुन्दरके वियोग-दावानलमें दग्ध हों रहा है, इस पेट्ट ब्राह्मणको आहार देनेके लिए अत्यन्त लालायित है।

'लाला, नेक माखन डाल जा मुखमें।' जिधर निकल जाऊँ, यही अनुरोध सुननेको मिलेगा। इसी भयसे मैंने गोपोंके घर जाना त्याग दिया है। किसी पर्व-उत्सव पर भी नन्द सदन जानेका साहस नहीं कर पाता।

'तुम भी तपस्वी बन गये?' महर्षि शाण्डिल्य तक जब भरे नेत्र, गद्-गद् कण्ठ कहते हैं, तब सूझता नहीं कि किस काननके कोनेमें, किस कुञ्जमें जा छिपूँ।

कन्हाईने मनुहार करके, खिझाकर जिसे अपने छीकेका मोदक खिलाया है, जिसके मुखमें अपने करोंसे बार-बार भरा है, उसके कण्ठमें अब और मोदक उतरेगा।

व्रज-नवयुवराज नवनीत-चोर बनता था इस हत भाग्य ब्राह्मण सखा के लिए। वह स्वयं कितना खाता था किसीका माखन चुराकर ? ऐसा नवनीत अधिक इस मधुमङ्गलके ही उदरमें जाता था, यह बात भी क्या ब्रजमें किसीसे छिपी है ?

दूसरोंकी तो दूर, श्री कीर्तिकुमारीकी भी दहेंड़ी छीन लाता वह चपल और मेरे सम्मुख रखकर कहता—'तुझे सबकी सब दही खानी पड़ेगी।' मेरे इस अभागे उदर पर उसने कितना-कितना दधिलेप अपने करोंसे किया है।

नन्दनन्दनने इतना खिलाया है—हँसाकर, चिढ़ाकर बलात् मुखमें डालकर इतना खिलाया है कि मधुमङ्गलकी क्षुधा सदा-सदाको तृप्त हो चुकी है। अब वह सुकुमार चपल कमल लोचन नहीं हैं, वह मुखमें नहीं देता तो सब पदार्थ विष जैसे कटु लगते हैं।

वह नहीं है ? यही बात समझमें नहीं आती। महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं, माता पौर्णमासी भी कहती हैं कि मधुमङ्गल योग सिद्ध है; किन्तु इस नटखट नन्दलालके समीप आकर तो मेरी बुद्धि साथ ही नहीं देती। वह यहाँ व्रजमें नहीं है तो प्रतिदिन मुझे वनमें सखाओंके मध्य बैठा कर कोई दूसरा ठूस ठूस कर खिलाता है ? कोई और है जो मेरे उदर पर दधि-लेप करता या भारी कपिका चित्र बनाता है ?

श्री नन्दराय बाबा प्रायः गोष्ठमें ही छिपे रहते हैं। भुवन-वन्दनीया मैया यशोदा सूखकर कंकाल होती जारही है। प्रफुल्ल पंकजसे सखा अब देखे नहीं जाते और बरसानेकी बालिकाओंके नेत्रोंके अश्रु सूखनेका नाम नहीं लेते।

यह हमारा नन्दनकानन विनिन्दक वृन्दावन चाहे जब करीर, खेजड़ीके कण्टक तरुओंसे भर उठता है। चाहे जब शृगाल दौड़ने बोलने लगते हैं इसमें और ये गायें। ये वृषभ तृण चरना रोककर क्रन्दन करते किसीको ढूंढ़ते दिशाहीन दौड़ने लगते हैं ? तब सचमुच कन्हाई व्रजमें नहीं ?

कन्हाई व्रजमें नहीं है और मधुमङ्गल जीवित है ? फट नहीं जाता इसका हृदय। यह गोवधनकी शिला पर सिर नहीं पटक सकता, इतना कापुरुष होगया ? इतने प्रिय होगये इस अधम ब्राह्मणा बालकको अपने प्राण कि यह कालिन्दीमें कूद नहीं सका।

लेकिन—लेंकिन जब मैं मूर्छित होने लगता हूं, जब मैं मरणोद्यत होता हूं, कौन मेरे मस्तक पर पीछेसे धप्प मार कर खिलखिलाता है ? कौन मेरी चुटिया खीचकर नूपुरकी रुनझुन करता कुञ्जमें जा छिपता है ? यह स्पर्श, यह हास्य-ध्वनि,

यह नूपुर क्वणन भी क्या कोई और पासकता है ? प्राणोंमें बसी यह अंग-सुरभि क्या विस्मृत हो जानेकी वस्तु है ? मधुमङ्गलको क्या इसमें भी भ्रम सम्भव है ?

यह सब क्या है ? योग सिद्ध मधुमङ्गलकी बुद्धि मारी गयी ? मैं उन्मत्त हो गया ? मैं जागते-चलते फिरते स्वप्न देखने लगा ? यह सब क्या हो रहा है ?

अब कुरुक्षेत्रमें दाऊ दादाके साथ वह नटखट मयूरमुकुटी मिलेगा। उसीसे पूछूँगा कि यह क्या माया है। दादाके समीप वह झूठ नहीं बोल सकेगा। इस अपने ब्राह्मण सखासे भुजा फैलाकर मिलेगा वह।



अर्जुन—

वासुदेव—भगवान वासुदेवसे किसी वनदासी गोपकुमारका क्या परिचय ? कोई राजाधिराज क्यों स्मरण करेगा कि कोई नगण्य गोपबालक उसकी गायें चराता, घेरता है। मैं क्यों जा रहा हूँ कुरुक्षेत्र ? मुझे वहाँ किससे मिलनेकी आशा है ?

पिता जारहे हैं, ब्रजेश्वर बाबा जारहे हैं, ब्रजेश्वरी मैया जारही हैं, सखा जारहे हैं, तब मुझे भी जाना चाहिए। तब वहाँ अपना ही मयूरमुकुटी कन्हाई नहीं मिलेगा, ऐसा कैसे कहा जासकता है।

सुना कि वहाँ भी उसने अपना एक सखा अर्जुन बना लिया है। कोई हस्तिनापुरका राजकुमार है, उस पाण्डुपुत्र अर्जुनसे सख्य कर लिया है कृष्णचन्द्रने। कृष्ण द्वारिकाधीश हुआ तो उसे सखा भी तो राजकुमार ही चाहिए ; किन्तु अर्जुन क्यों ? उसे अब भी अपना यह अर्जुन स्मरण आता है ? मेरे नाम साम्यके कारण उसने अर्जुनको सखा बनाया है ?

दाऊ द्वारिकासे आया था। वह तो तनिक भी नहीं बदला द्वारिका रहकर। मुझे पता ही नहीं लगा कि दाऊ दादा अब हमारा वही गायें चरानेवाला दादा नहीं है। वह तो वैसे ही भुजा फैलाये मिलता था। वैसे ही मुझसे कहता था—'अर्जुन ! तू गायोंके पीछे दौड़ता-भागता थक गया है। अब तू बैठकर विश्राम कर, मैं गायें लौटा लाता हूँ।'

मुझे हँसी आगयी—'दादा ! तू गायें लौटा तो ला सकता है ; किन्तु तुझसे और कन्हाईसे कभी गायें तृणकी दिशामें हाँकी जा पाती हैं ?'

दाऊ भी हँसने लगा—'यह काम तो तू ही कर सकता है ।'

दाऊ और कन्हाई गायोंके समीप पहुँच जायँ तो तृण चरती गायें भी चरना त्यागकर इनके समीप दौड़ आवेंगी । इन दोनोंको छोड़कर जाना ही नहीं चाहेंगी । ये लकुट भी उठावें तो उस लकुटको भी सूंघने लगेंगी । इन दोनोंसे कहीं गायें चराया जा सकता है । ये तो एक ही सहायता कर सकते हैं कि दूर गयी गायोंको उनका नाम लेकर पुकार लें तो वे दौड़ी आवेंगी ।

दाऊ नहीं बदला तो कन्हाई बदल गया होगा ? दाऊ तो पहिले भी बहुत गम्भीर था । पहिले भी पाँच बार पुकारो तो एक बार हाँ-हूँ करता था ; किन्तु अत्यन्त चपल कन्हाई बदल सकता है ?

कन्हाई जब दौड़ा आता था और कण्ठमें भुजाएँ डालकर झूल पड़ता था । कभी पीठ पर लद जाता था । कभी कन्धे पर ही आ बैठता था । हमारा वह कन्हाई द्वारिका जाकर बदल गया होगा ?

अब वह बड़ा हो गया है ; किन्तु दाऊ भी तो बड़ा हो गया है और कन्हाई मुझसे तो छोटा ही है । लेकिन यहाँ भी तो मैं उससे कम ही बोलता था । क्या हुआ कि वह मेरा भाई है, मुझे उसकी चपलतासे, नटखटपनसे दूर रहना ही अच्छा लगता था ।

मेरा स्वभाव भी तो नहीं बदला है । मैं अब भी वैसा ही संकोची हूँ । दाऊने उलाहना भी दिया था—'अर्जुन ! मैं इतनी दूरसे आया हूँ और तू दूर-दूर रहता है ।'

'दादा ! मैं तेरी गायें ही तो चराता हूँ । तू कोई आज्ञा तो देता नहीं ।' मुझे दाऊ दादाकी ही नहीं, कन्हाईकी बात मान लेनेमें भी कभी आपत्ति नहीं हुई । ये दोनों ही क्यों, कोई गोप सखा कहे सो चुपचाप कर देना ; किन्तु मुझसे बहुत बोला नहीं जाता । किसीसे झगड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता । फिर ये सहस्र-सहस्र गायें हैं, इन्हें सम्हालना, चराना भी तो रहता है । मैं तनिक भी उपेक्षा करूँ तो गायें इधर-उधर भाग जायँगी, बिखर जायँगी और सखाओंको दौड़ना पड़ेगा । दूसरे सखा दौड़ेंगे तो श्याम चुप नहीं बैठ सकेगा । उसके खेलमें बाधा पड़ेगी । वह सुकुमार दौड़ेगा ।

कन्हाई खेलता रहे, नाचता रहे या वंशी बजाता रहे और दाऊ बैठा रहे । मुझे चुपचाप दूरसे यह देखते रहनेमें ही आनन्द आता रहा है ।

अब कुरुक्षेत्रमें वह राजाओंसे, ऋषियोंसे घिरा बैठेगा, लोग उसकी स्तुति करेंगे तो कैसा लगेगा मुझे ? वह मुझे नाचता, खेलता बहुत अच्छा लगता है ; किन्तु सिंहासन पर गुमसुम बैठा ?

उसे स्मरण आवेगा कि उसका एक गायोंके चराने-घेरनेमें ही लगा रहने वाला भाई था और वह भी आया हो सकता है ? वह तो दौड़कर उसके पास नहीं जा सकता । मेरा संकोची स्वभाव यह मुझे नहीं करने देगा । तब वह मुझे पूछेगा ?

'अर्जुन कहाँ है ?' वह पूछेगा—निश्चय पूछेगा और यदि उत्तरमें कोई सखा अथवा बाबाने कह दिया—'वह नहीं आया' तो उसके कमललोचन भर नहीं आवेंगे ? उसे उदास नहीं होना चाहिए ।

'अर्जुन !' वह दौड़ता पुकारता, ढूँढ़ता आवे और खिन्न हो जाय, ऐसा तो नहीं होना चाहिए । वह दौड़ता ही आवेगा । अङ्कमाल देगा और फिर हाथ पकड़कर खींचेगा ।

कुरुक्षेत्रमें लाखों लोग आवेंगे । द्वारिकाके सब आवेंगे । कन्हाई वैसे ही चपल है । उसे पता नहीं किन-किनका परिचय देनेकी धुन रहेगी वह अपनी धुनके आगे कहाँ किसीकी सुनता है । वह हाथ पकड़ कर खींचेगा और बोलता जायगा, बोलता जायगा । परिचय देता जायगा । वह—बोलेगा-वही बोलेगा और मैं चुपचाप सुनूँगा ।

—×—

विशाल-

अब तो कन्हाई बालक नहीं है कि दौड़ता हुआ आवेगा और मेरे कन्धे पर बैठ जायेगा। गोपियाँ मुझे चिढ़ाती थीं कि मैं ब्रजराजकुमार का घोड़ा हूं और वह बहुत छोटा था तब भी मेरी पीठ पर बैठा बैठा ही चिढ़ाने वाली को घूसा दिखाता था "मेरा दादा है।"

सचमुच कहीं मैं उसका घोड़ा हो पाता। अब द्वारिकामें उसके पास क्या घोड़ों का अभाव है। अब उसे कैसे स्मरण आवेगा कि ब्रज में उसका एक बड़ा-भाई है जो उसका घोड़ा बनकर बहुत सन्तुष्ट रहता था। वह भले गोपियों को धमकाता था ; किन्तु मुझें तो किसी चिढ़ाने वाली पर कभी क्रोध नहीं आया।

'मुझे वह फूल लेना है, मुझे वह फल लेना है, कन्हाई सीधे आकर मेरे कन्धे पर बैठ जाता था। मेरे तो वह कन्धे पर ही बैठता था। अपने हाथ से फूल या फल तोड़ने की उसको हठ मैं समझ सकता था। वह अपने लिए कदाचित ही कभी कुछ चाहता था। फूल भले किसी दूसरे सखाकी अलकों में लगा दे, फल तो प्रायः मेरे ही मुखमें देता था।।

कन्हाई दधि-माखन की चोरी अथवा छीना झपटी क्या अपने लिए करता था ? कितना कम जाता था उसके मुख में। वह तो बाँटने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। सबको बांटता फिरता था। पदार्थ तो बांटता ही था, आनन्द बांटता फिरता था।

कितना दही -माखन उसने अपने करों से खिलाया। कितना मेरी पीठ और कन्धों पर गिराया उसने। गोप कहते हैं, गोपियां कहती हैं कि मैं दुर्बल हो गया हूं। कन्हाई नहीं है और विशाल जीवित है, यह उसी मयूरमुकुटी के खिलाये माखन की शक्ति है।

मैं मथुरामें उसके सामने ही मर जाता। मर जाता तो अच्छा होता, इस प्रकार क्षण क्षण उसके वियोगकी ज्वालामें तो नहीं जलना पड़ता। लेकिन आज मुझे क्या हो गया है ? मैं अपनी बात क्यों सोचने लगा हूं ? मैंने तो अपने लिए कभी कुछ नहीं चाहा। मैं मथुरामें मर कैसे सकता था। मैं मर जाता तो कृष्णको कितना दुःख होता है।

विशाल को इसका यह विशाल शरीर विधाता ने व्यर्थ तो नहीं दिया है। उसका उपयोग है — कन्हाई के लिए उपयोग है। प्रतिदिन ही तो उसे मेरा प्रयोजन पड़ता था। छीके पर से दधि नवनीत उतारना हो अथवा वृक्ष पर से फल तोड़ना हो, वह दौड़ता आता था और- मेरे कन्धे पर चढ़ जाता था। वैसे भी चाहे जब मेरे कन्धे पर आकर बैठता था। कन्धे पर बैठकर कितनी बार झुककर मेरे कण्ठ में भुजा डालीये हैं उसने कितनी बार दोनों करों से मेरे सिरको पकड़ा है। कितनी बार कन्धे पर बैठकर मेरी अलकों में कुसुम सजाये हैं।

वह फिर भी तो ब्रज आवेगा। उसने कहा है आने को तो आवेगा ही। यहाँ आते ही उसे मेरा प्रयोजन पड़ेगा। वह 'विशाल दादा " पुकारता आवेगा और मेरे कन्धे पर कूद कर बैठ जायगा।

दूसरा कोई कुछ क्षण न दीखे तो चल भी सकता है। दूसरे सखा कहीं छिप भी सकते हैं किन्तु मेरा आकार छिपाया जाने योग्य तो नहीं है। मैं नहीं हूं, यह कन्हाई को दूर से दिखलाई पड़ जायगा और वह "विशाल दादा' कहाँ हैं ?

मैं अपने जन्मनक्षत्र के दिन वन नहीं जाता था तो वह दूसरे दिन कितने उलाहने देता था। उसे लगता था कि वन में क्रीड़ा की उसकी सब योजनायें मेरे बिना अधूरी रहती हैं। खेल में जब भी सखाओं के दो दल बनाने की बात आती, वह दौड़कर मेरा हाथ पकड़ता था — " मैं विशाल दादा को लूंगा '

'विशाल तो मेरा है ही।' दाऊ ठीक ही तो कहता था। मैं कन्हाई का- सदा सदा का, सदा-सदाका कन्हाई का। कन्हाई का मेरे बिना कभी चल भी सकता है ; किन्तु विशाल तो कन्हाई के बिना व्यर्थ है निष्प्रयोजन है। विशाल जीवित ही है इसलिए कि श्यामब्रज में आवेगा और यहाँ आते ही उसे विशाल की आवश्यकता होगी।

कुरुक्षेत्र में कोई आवश्यकता मेरी नहीं। मुझे कोई रुचि ग्रहण -स्नान में नहीं सच तो यह है कि मेरी अपनी कोई रुचि भी कभी थी यही मुझे पता नहीं है। मेरी रुचि इतनी कि कन्हाई मेरे इस विशाल तनको अपने मनके अनुसार अपने उपयोग में लेता रहे। कोई सम्भावना नहीं कि कुरुक्षेत्र में मैं उसके किसी काम आ सकूंगा। अब वह राजा है। राजाओं के -मुनिमण्डल के मध्य तो वह दौड़कर विशाल के कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। वहां उसके पास घोडे हैं, रथ हैं, गज हैं। तब मैं कुरुक्षेत्र क्यों चल रहा हूं ?

कुरुक्षेत्र कोई नहीं जाता तो मैं वहाँ जाने की बात भी नहीं सोचता। गोप जाते, गोपियां जातीं, गोप बालिकायें जातीं तो भी मैं जाने का नाम नहीं लेता, किन्तु सखा जा रहे हैं — सब सखा जा रहे हैं तो विशाल को जाना ही चाहिए।

कृष्ण सखाओं की ओर देखेगा तो उसे पहले यह उच्चकाय विशाल दीखेगा। यह न जाय तो पहिले श्याम चौंकेगा — 'विशाल दादा कहाँ है?'

मैं उसका स्वभाव जानता हूँ। मैं न दीखूं तो वह केवल मेरी चर्चा करेगा फिर तो सब का ही मिलन निरानन्द हो जायगा। मेरा कन्हाई मेरे लिए चिन्ता करे, यह मैं सह नहीं सकता।

मेरे नेत्र धन्य होंगे। सबसे पहले मैं देख सकूंगा उसे। सबसे पहिले उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ेगी। वह प्रसन्न होगा, हंसता दौड़ता मिलेगा मुझसे।



ऋषभ —

अब तो पश्चातापके अतिरिक्त कुछ शेष नहीं है। मैं बड़ा धर्मात्मा बनता था। कन्हाईकी माखन चोरी, दधिकी छीना झपटी, दूसरे सब उसके ऊधमोंका विरोध करता रहा था। अब वह चला गया तो मेरे सब धर्म-कर्म व्यर्थ होकर रह गये।

मुझे दाऊ दादा अच्छा लगता था; किन्तु दाऊको ही क्या मैं कभी समझ सका ? कन्हाई तो दाऊका प्राण है। दाऊ दादाने अपने छोटे भाईका कभी विरोध नहीं किया। उसे कभी कहीं रोका नहीं। मैं ही मूर्ख था, मेरी समझमें ही नहीं आता था कि दाऊ कृष्ण पर कभी क्यों नहीं खीझता। उसे क्यों नहीं डाँटता। उसे इतनी चपलता क्यों करने देता है।

'ऋषभ भोला है।' गोपियाँ ही नहीं, गोप कुमारियाँ तक कहती थीं। मैं कहाँ यह समझ पाता था कि सबके लिये मेरा अज्ञान, मेरी बुद्धिहीनता दयनीय होगयी है।

इतनी सीधी बात मैं समझ नहीं पाता था कि कन्हाई पनघटपर घड़े फोड़े अथवा वनमें मार्ग रोककर दहेड़ियाँ, कोई गोपकुमारीको जल भरनेको न दूसरा घाट मिलता था और न दूसरी ओर दही बेचने जाना था। सब उसी ओर आती थीं, जिधर हमारी गायें चरती दीखती थीं। मैं तो उनपर भी खीझता था कि वे दूसरी ओरसे क्यों निकल नहीं जाया करतीं।

'हमारा मन होगा उधरसे जायेंगी।' बालिकायें यह कहकर मुझे झिड़क देती थीं तो मुझे वे मूर्खा और हठी लगती थीं। उनकी हठ—'सारा वन हमारा है।'

अब श्याम नहीं रहा तब समझ सका—बहुत देरमें समझ सका कि व्रजमें सबका वही जीवन सर्वस्व था। वह घूम करता था गोपियोंको; हम सबको प्रसन्न करने—आनन्द देनेके लिए।

अब वह वनमाली नहीं है, जैसे व्रजमें प्राणहीन शव घूमते हैं। यह विश्वका श्रेष्ठतम सुन्दरतम गोपावास श्मशान हो रहा है। गोप, गोपियाँ, बालिकायें जैसे चितामें-से अधजले भटकते प्रेत हों। किसीकी ओर अब देखा नहीं जाता।

खेलमें मैं सदा दाऊ दादाके साथ रहता था। मुझे लगता था कि कन्हाई नटखट है और सदा हारता रहता है। हारकर भी उसका झगड़ना मुझे रुचता नहीं था। लेकिन दूसरोंको तो समझना दूर रहा, मैंने अपने ही मनको कभी समझा ? जिस

दिना कन्हाई नहीं आता था गोचरणके लिए, मेरा मन किसी भी खेलमें लगता था ? जिस दिन अपने जन्म-नक्षत्रके कारण मैं वनमें नहीं आ पाता था, कितना भारी लगता था वह दिन ? उसके क्षण काटे नहीं कटते थे और अब जब वह कमललोचन नहीं है, मुझे जीवित रहना पड़ रहा है। औरोंके समान मुझे भी जीवित रहना पड़ रहा है, इसलिए जीवित रहना पड़ रहा है कि वह आवेगा एक दिन यहाँ। मैं कैसे जीवित हूं, मैं भी कह नहीं सकता हूं।

श्यामसुन्दर—हमारा श्यामसुन्दर हमें मिलेगा कुरुक्षेत्रमें। वह कितना भी राजराजेश्वर हो गया हो, अन्ततः मेरा भाई है। मेरा छोटा भाई है। मैं उससे मिलकर जब कहूंगा—'मेरे कनू ! मैंने बहुत-बहुत तुझसे झगड़ा किया, बार-बार तुझसे रूठा। मैं बुद्धिहीन हूं। तू जानता है कि सब ऋषभको भोला कहते हैं। तू क्षमा करदे मुझे।' तब क्या वह अपने इस भाईको क्षमा भी नहीं कर सकेगा ?

लेकिन सचमुच मैं अब भी मूर्ख ही हूं। कन्हाईसे भी क्षमा माँगनी पड़ती है ? मैं तो बड़ा भाई हूं, किसी गोप कुमारकी भी कोई त्रुटि कभी वह देख सका है ? वह तो झगड़नेपर भी साथ ही लगा रहता था।

'तू उसके पास मत जा ! वह तुझे डाँटता है। तुझसे लड़ता है।' भद्रने एक बार कहा था कृष्णसे।

'अरे नहीं, वह बहुत अच्छा है।' भद्रके कण्ठमें भुजायें डालकर मनुहार करता मोहन बोला था—'कोई थोड़ा डाँटने वाला भी चाहिए। वह अपना है, मुझसे स्नेह करता है, तभी तो मुझे डाँटता है। जैसे मैया डाँटती है और तू क्या नहीं डाँटता ?'

सबसे बड़ी बात यह कि वह वनमाली जब हँसता दौड़ा आवेगा, भुजा फैलाकर मिलेगा, मुझे उससे कुछ कहते बनेगा ? मुझे यह सब स्मरण रहेगा ? वह मिलेगा—कुरुक्षेत्रमें मेरा वह सखा, मेरा प्राणप्रिय भाई, मेरा सर्वस्व मिलेगा मुझे। उससे मुझे कुछ कहना नहीं—बस वह मुझे मिलेगा।



वरूथप—

अपारसुख, असीम सौभाग्य दिया था श्यामने मुझे। अन्ततः एक सामान्य गोपकुमार ही तो हूँ मैं; किन्तु ब्रजराजकुमारने तो मुझे ऐसा बना रखा था, जैसे वह नहीं, ब्रजका युवराज मैं ही हूँ।

श्रीव्रजेश्वरी मुझसे अनुनय करती थीं कि गायें मैं दूर न ले जाऊँ। श्रीव्रजराज अनुरोध करते थे, 'गायें सायंकाल शीघ्र लौटा लाना।'

गोप-गोपियाँ सब जैसे मेरे ही सेवक हों। कितने प्यार-दुलारसे मुझसे गोपियाँ पूछती थीं—'लाला वरूथप! आज गायें किधर ले जायगा?'

दूसरी तो दूर, ललिता ही नहीं, श्रीराधा तक बड़े आदरसे मुझसे बोलती थीं। सबकी सब बालिकाएँ चाहती थीं कि मैं चुपचाप उन्हें बतला दूँ कि वनमें आज किधर जाना है।

मैं कितनी उपेक्षा करता था सबकी। वरूथप कितना अहंकारी हो गया था। किसीको दो शब्दमें उत्तर देना भी जैसे उसपर अनुग्रह करना था। मैं अपने गर्वमें अकड़ा रहता था। बड़ोंकी भी मैंने उपेक्षाकी और इतने पर भी किसीने कभी टोका नहीं। कभी किसीने उलाहना नहीं दिया।

यह सब वरूथपका सम्मान था? किसी सामान्य गोपबालकमें इतना प्रभाव? यह तो ब्रजयुवराजका प्रभाव था। श्यामने वरूथपको सिर चढ़ा रखा था तो दूसरा कोई क्या कर सकता था। सखाको सम्मान देना उस नीलसुन्दरको ही आता था।

महर्षि शाण्डिल्यसे सुना कि 'हरि गर्वहारी हैं। किसीका भी गर्व वे रहने नहीं देते।' लेकिन हमारे ब्रजका यह हरि—इसने तो किसी सखाका मानभङ्ग कभी नहीं किया। मैं इतना गर्विष्ठ हो गया था; परन्तु इसने एक भी अवसर नहीं दिया कि कोई मेरी उपेक्षा कर सके।

मैं जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनीसे कह देता था, केवल उनसे ही सीधे-सरल मुखसे कहता था—'लाली! इस कन्हाई पर मेरा कोई वश नहीं। मैं गायें यमुनातट ले जाना चाहता हूँ तो यह गिरिराजके शिखरकी ओर भागता है और यह जिधर जायगा, गायोंको इसके पीछे जानेसे रोका नहीं जा सकता। यह कब किधर चल देगा, दो

क्षण पहिले भी सोचा नहीं जासकता।' यही उत्तर मैं दूसरोंको भी तो दे सकता था; किन्तु दूसरोंसे मैं अपने गर्वमें स्पष्ट कहता ही नहीं था कुछ।

कृष्णचन्द्र यों ही तो चाहे जिधर नहीं चल देता था। उसकी यह मनमानी ही तो वरूथपको गौरव देती थी। इसीके कारण तो मैं कह देता था—'पता नहीं किधर गायें जायँगी। जिधर हरा तृण मिलेगा उधर जायँगी।' कन्हाई गौरव देता था मुझे, यह मैं तब कहाँ अनुभव कर पाता था।

सचमुच उस कमललोचन पर किसीका वश नहीं था; परन्तु कितना प्रेमपूर्ण था वह। उस पर क्या शासन किया जा सकता है। मेरे तनिक रुष्ट या उदासीन होते ही वह मनुहारें करने लगता था।

अब वह मयूरमुकुटी नहीं है तो वरूथप किसके सहारे, किसपर गर्व करेगा। व्रजमें अब गर्व करनेको रह भी क्या गया है। अब तो यहाँ केवल कंकाल हैं—प्राणहीन-प्राय असहाय कंकाल। इन पर कोई क्या गर्व दिखलायेगा।

हमारा यही व्रज था जहाँ सुरपति भी अपनी-सी करके मुँहकी खा गया। जहाँ सृष्टिकर्ता तक सिर टेक गया। जहाँ कंसके त्रिभुवन जयी असुर आये गर्जना करते और सदाको इस भूमिमें सो गये। वरूथपका गर्व वरूथपका गौरव अक्षुण्ण था इस धरामें। अब जब इसका वह युवराज—इसका प्राण ही नहीं रहा, वरूथप किसीको क्या मुख दिखावे।

गोप सखाओंका अग्रणी वरूथप अब बन नहीं रह पाता—घर भी नहीं रह पाता। इसके स्वर पर हुंकार करने वाली गायें—वृषभ तक जब इसे ऐसे सूंघते हों जैसे पहिचानते न हों, यह कैसे किसीके सामने जाय। दिनमें किसी कुञ्जमें और रात्रिमें एकान्त कक्षमें मुख छिपाये रहनेके अतिरिक्त रह क्या गया है।

अब वही हमारा कन्हाई कुरुक्षेत्र आरहा है। मै उससे कुछ नहीं कह सकूँगा, जानता हूँ; किन्तु उसे भी तो जानता हूँ। वह सदा अपनोंको सम्मान देने वाला—वह क्या कुरुक्षेत्रमें हिचक जायगा?

'दादा वरूथप! हम कहाँ स्नान करेंगे? जानता हूँ कि वह ऐसा ही कुछ पूछेगा। वरूथपका गौरव, सम्मान श्याम और वह आवेगा—वह मिलेगा तो वरूथपको सब मिल गया।

--※--

देवप्रस्थ—

वासुदेव भगवान हो गया अपना कन्हाई दादा ? यहाँ तो वह मेरी यह बात मानता ही नहीं था कि वही सबसे बड़ा देवता है। मैं जब कहता था, तभी संसकर कह देता था—'देवता तो तू है। तू देव है न।'

देव तो मेरा नाम है; किन्तु श्यामने सखाओंको साथ लेकर सचमुच मुझे देव बना रखा था। सब मिलकर चाहे जब मुझे पुष्प-पल्लव आदिसे सजा देते थे। कृष्णको मेरे अंगों पर धातुचित्र बनानेमें आनन्द आता था। वह कहता था — 'मैं देवता की पूजा कर रहा हूं।'

मैं उससे छोटा हूं। बाबा-मैया सब कहते हैं कि छोटे को बड़े भाईको बात काटनी नहीं चाहिए। कन्हाई कहता था कि मैं देव हूँ तो मैं देव था। वह सब सखाओंको जो कहता था, सब उसकी बात मान लेते थे। सबने मुझे देव बना रखा था। मैं उनका देव, उनसे छोटा देव।

'मैं तुझ से छोटा हूं।' मैं जब कहता था, वह हंस जाता था — 'हाँ' छोटा तो है, पर क्या हुआ इससे ?'

'मैं छोटा देव हूं तो तू बड़ा देव है और दाऊ दादा तो सबसे बड़ा।'

'दाऊ दादा तो सबसे बड़ा है ही' लेकिन कन्हाई कहता था — 'तू देव है। देवता सदा बड़ा नहीं होता, छोटा भी होता है।'

'बाबा! कन्हाई कहता है कि मैं देव हूं।' मैंने व्रजराज बाबा से कहा।

बाबा तो बहुत सीधे हैं। जो कोई कुछ कहे, उसी की बात मान लेते हैं। बोले— 'नीलमणि ठीक तो कहता है, तू देव तो है ही।'

'यह मुझसे बड़ा है तो बड़ा देव है।' मैंने अपनी बात कही।

'तुम सब देवता हो, सब बड़े देवता हो।' बाबा हंसने लगे। उनसे भला कोई क्या न्याय करायेगा।

मेरी बात बड़े गोपोंने, गोपियोंने भी उस दिन मानी जब हम सबने गिरिराज गोवर्धन की पूजा की। गोवर्धनने प्रत्यक्ष होकर पूजा ली उस दिन। मैंने

देखते ही कहा—'यह चार हाथ वाला देवता दूसरा कोई नहीं है। यह अपना कृष्ण ही गोवर्धन बना है। इसे बहुत रूप बनाने आते हैं।,

पता नहीं क्यों मेरे बाबा, दाऊ सब मेरा मुख देखने लगे। मैया ने मेरे मुख पर हाथ धर दिया — 'ऐसा नहीं कहा करते। देवता का अपमान होगा तो वह रूठेगा ?'

लेकिन जब कन्हाई ने गिरिराज उठा लिया, सब कहने लगे —'लाला; तेरी ही बात सच्ची है। यह नन्दनन्दन ही गिरिराज बना होगा। यह बहुत बड़ा देवता अवश्य होना चाहिए।'

अब तो द्वारिका में भगवान वासुदेव हो गया है। उसके अब चार हाथ प्रगट रहने लगे हैं। अब कोई कैसे कहेगा कि वह देवता नहीं है। लेकिन क्या वह मैयाके बाबाके ,सखाओंके सामने चार हाथका देवता बन कर आवेगा ?

उसे बहुत रूप बनाने आते हैं। वह दो हाथ का बन जायगा जब हम ब्रजके लोग कुरुक्षेत्र पहुंचेंगे और सबको बहका लेगा। सब उसकी बातों में आ जाते हैं। वह सबको अपने मतका बना लेनेमें बहुत चतुर है।

मैं तो उसका छोटा भाई हूं। उसीका बनाया देव हूं। वह नही रहा तो देवप्रस्थ कैसा देवता है। देवता तो पूजा करने वाला ही बनाता है। पूजा करने वाला कोई न हो तो देवता केवल शिलामात्र। लेकिन इस देवके भाग्यमें शिला होकर भी रहजाना नहीं है। रात-दिन जलते रहना बनगया इसका भाग्य। इसे देव ही बनाना था तो फिर पत्थर ही क्यों नहीं बनाया।

मैं कुरुक्षेत्र में उससे पूछूंगा — 'तू तो बड़ा देवता है, भगवान वासुदेव है। मैं साधारण गोपबालक, मुझे देव बनाना था तो शिला बना देना तेरे वश में नहीं था ? तूने क्यों मुझे बालक ही रहने दिया ? क्यों इतना स्नेह दिया ? इतना लाड़ तूने क्यों किया इस छोटे भाईका कि इसे देव बनाकर पूजता — सजाता रहा ?'

मैं पूछूंगा उससे— 'मैंने तो कभी तेरा बिरोध नहीं किया। मैं कभी तुझसे झगड़ा या रूठा नहीं। तू जो कहता, करता गया, मैं चुपचाप मानता रहा, यही क्या मेरा अपराध है ? तू मुझे छोड़कर क्यों आया ?

लेकिन अब भी मैं उससे झगड़ सकूँगा ? वह आवेगा और दोनों भुजाओंमें भरकर कहेगा —'मेरा देव' तब मैं उसे फिर सजाने-पूजा करनेसे रोक सकूंगा ? वह तो मिलेगा और सजावेगा।

तेजस्वी—

असुर बुरे होते हैं—बहुत बुरे। मैं पहले ही कहता था कि सब राक्षसोंको मार देना चाहिए। इन असुरोंके उत्पातके कारण ही दाऊ दादा और कन्हाईको ब्रजसे जाना पड़ा। अब भी वे इनके उत्पातोंके कारण उलझे हैं और यहाँ लौट नहीं सके। पता नहीं पृथ्वीपर कितने असुर हैं।

गोप मेरी बात नहीं सुनते। सब मेरी बात हँसकर टाल देते हैं। मैं आयुमें कन्हाईसे भी छोटा हूं; इसीलिए कोई मेरी बातपर ध्यान ही नहीं देता। लेकिन दाऊ दादा या श्याम तो ऐसे मेरी बात नहीं टालते थे।

मैं कहता हूं—'सब गोप मेरे साथ-साथ चलो लाठी लेकर। हम सब गोप-बालक भी चलेंगे। सब असुरोंको मार देंगे। तब हमारे राम-श्याम ब्रज लौट आवेंगे।'

'असुर कहाँ रहते हैं? कितने हैं? सब एक साथ रहते हैं, या अलग-अलग कितनी दूर रहते हैं सब?' कोई गोप बतलाता नहीं। मैंने तो मथुरासे आगे देखा नहीं हैं। गोप भी सब कहते हैं कि वे भी मथुरा तक ही जानते हैं।

दाऊ दादा आया था तब मैंने पूछा था। वह कहता था कि 'असुर बहुत हैं। सब एक साथ नहीं रहते, दूर-दूर रहते हैं। गोप सब कहीं नहीं जा सकते।'

द्वारिका भी बहुत दूर है। हम सब वहाँ भी नहीं जा पाते हैं। दाऊ दादा तो रथमें बैठकर आया था।

लेकिन ऐसे कब तक चलेगा? ब्रजके लोग कन्हाईके बिना कब तक जीवित रहेंगे? हम सब मर-खप गये तो दाऊ-श्याम यहाँ लौटकर कितने दुःखी होंगे। हम उन दोनोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी प्रतीक्षामें किसी प्रकार प्राण बचाये हैं; किन्तु यह प्रतीक्षा कब तक चलती रहेगी?

मैंने कितना कहा था दाऊ दादासे कि जैसे तू मथुराके लोगोंको द्वारिका ले गया, ब्रजके भी सब लोगोंको वहीं ले चल। हम तो गोप हैं। हमें राज भवन नहीं चाहिए; अपने नगरके बाहर कहीं वनमें हम सबको रहनेको स्थान दे देना। हमारी गायें वहाँ चर लेंगी और हम अपने झोपड़े स्वयं बना लेंगे। तुझे और तेरे नगरके लोगोंको कोई कष्ट नहीं देंगे।

हम सब उलटे द्वारिकाकी रक्षा ही करते नगरके बाहर रहकर। द्वारिकाके लोगोंको हम दूध, दही, माखन जितना वे चाहते, बराबर देते रहते। हम और हमारी

गायें वहाँ रह कर जी जातीं। ये गायें, बछड़े, वृषभ दिन-रात रोते रहते हैं यहाँ। इनकी ओर देखा नहीं जाता। इनको और हम सबको दो-चार दिनमें भी अपने राम-श्यामका मुख देखनेको तो वहाँ मिल जाया करता।

दाऊ दादा भी ठीक कहता था--'कोई अपनी जन्मभूमि उजाड़ा नहीं करता। ब्रज उजड़ गया तो कन्हाई कहाँ आवेगा ? ये गिरिराज, ये यमुना, यह बृन्दावन उस समुद्री द्वीप में कहाँ। यह धरती तो तीनों लोकोंमें दुर्लभ है।'

ब्रज छोड़कर धरतीके छोर तक ये लाख-लाख गायें कैसे जा सकती हैं। इनके लिए मार्गमें जल, तृण कहाँसे उपलब्ध होगा। बहुत लम्बी यात्रा पशु नहीं कर सकते। यदि मार्गके कष्टसे गायें मर जायँ—गोपोंकी जीविका, गोपोंकी प्राण तो गायें ही हैं। ये न रहें तो गोप जाति बची रहेगी ?

गायोंकी रक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। मार्गमें सुना कि बहुत बड़ा मरुस्थल है, जहाँ जल भी नहीं मिलता। पता नहीं कितने असुर घात लगाये कहाँ-कहाँ छिपे होंगे। ब्रजको तो कन्हाईने सर्वथा निरापद बना दिया। मथुराके कंस और उसके असुरोंको मार दिया। अब कोई राक्षस यहाँ आनेका साहस नहीं करता।

मैं सब सखाओंको कह चुका था कि गायें हाँक दो। हम सब द्वारिका चलेंगे। सखा मेरी बात मान भी गये थे। हम जाते तो बूढ़े गोप यहाँ बैठे रहते ? वे भी गोपियोंको, बालिकाओंको लेकर पीछे अवश्य आते।

अच्छा हुआ कि तभी दाऊ आगया। मुझे तो पता ही नहीं था कि द्वारिका कितनी दूर। दाऊने बताया कि गायें लेकर वहाँ पहुंचनेमें कई महीने लगते। मार्गकी थकावट, तृण-जलका अभाव, न गायें बचतीं और न गोप। हम सबका शव भी राम-श्यामको देखनेको नहीं मिलता। ब्रजका, गोप जातिका नाम ही मिट जाता।

अच्छा हुआ होता, आजके समान सबके सब रात-दिन तड़पते, कलपते तो नहीं रहते; किन्तु हमारे फूटे कपालमें तो कन्हाईके वियोगमें यह तिल-तिल कर जलना है। असुर इसके निमित्त बन गये हैं।

यह ग्रहण अच्छा आ गया। कुरुक्षेत्र अपने ब्रजसे बहुत दूर नहीं होगा, तभी तो सब गोप चल रहे हैं। दाऊ-कन्हाई आवेंगे। द्वारिकाके लोग आवेंगे। सब एक बार मिलेंगे तो सही।

कन्हाईसे पूछूँगा कि अभी कितने असुर और बचे हैं ? कोई ऐसी युक्ति क्यों नहीं करता कि सब इकट्ठे हो जायँ और उन्हें मार दे तू। कितने दिन और लगावेगा लौटने में ?

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि श्याम ब्रजके कुछ लोगोंको द्वारिका रख ले। बाबाको, मैयाको, बालिकाओंको तो साथ ले जाय। वह मिलेगा तो पूछूँगा। मुझ छोटे भाईकी इतनी बात नहीं रखेगा ? लेकिन ये सब ब्रज छोड़कर वहाँ रहना चाहेंगे ? कन्हाई मिलेगा तब सबसे पूछूँगा। ❋

अंशु—

अब कोई मुझे दुबला कहकर चिढ़ाता नहीं। हायरे! हृष्ट-पुष्ट गोपोंके व्रजमें सब चलते-फिरते कंकाल हो गये हैं। सबकी एक-सी दशा है। मैं तो जन्मसे क्षीण काय हूँ।

'अंशु! तू किसका अंश है?' मुझसे शैशवमें गोप-गोपियाँ ही नहीं, सखा तक पूछ लेते थे और मैं दाऊ दादाकी ओर अंगुली उठा देता था।

'तू श्यामका अंश नहीं है?' कोई भी कभी पूछ लेता था।

'उसका अंश तो तोक है।' मैं तब कहाँ जानता था कि अंश क्या होता है। दाऊ गोरा था तो मैं उसका अंश। कन्हाईके जैसा ही नीलसुन्दर तोक कन्हाईका अंश होगा, यह मेरी छोटी समझ थी। वैसे तो कन्हाई भी मेरा बड़ा भाई ही है। मुझ पर कम स्नेह नहीं था उसका।

अब समझता हूँ कि अंश क्या होता है। अग्निका अंश छोटी चिनगारी। वह अग्निसे छिटककर शीघ्र बुझ जाती है। भस्म बन जाती है। यह पूरा ही व्रज दाऊ-कन्हाईका अंश है और उन दोनोंसे पृथक होकर बुझ जानेके समीप पहुँच चुका है। इतना ही शेष रहा है कि यह अंश भस्ममात्र रह जाय। यह भी इसलिए कि कृष्णके लौटनेकी आशा इसे अभी जीवित किये हैं।

मैं तो पहिलेसे अत्यन्त क्षीणकाय हूँ। कन्हाई ही कहता था—'हमारा अंशु तो अंशुमालीका अंश है। वैसा ही किरणके समान उज्वल, तेजस्वी और दुबला-पतला। लेकिन प्रकाश करता, सबको उत्फुल बनाने वाला।'

यह सब अंशुमें अपना गुण तो नहीं था। यह अंशुमालीका प्रभाव था और हमारे व्रजका शंशुमाली कौन है, यह भी क्या किसीको जानना पूछना है?

अब हमारा अंशुमाली दूर चला गया, हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया तो अंशुका अर्थ भी क्या? उचित तो यह था कि यह उसी समय बुझ जाता, सत्ताहीन हो जाता; किन्तु हो नहीं सका। हमारा अंशुमाली जब यहाँ लौटकर आवेगा, उसे अंशुमाली ही रहना चाहिए। अंशु न मिले तो वह उदास खिन्न हो उठेगा।

अंशु है, लेकिन इस होनेका भी कोई अर्थ है ? जो अपना ही अन्धकार न मिटा सके, उसे कोई किरण कहेगा ? यह क्षीण शरीर अभी चलता-हिलता है, इसीका नाम जीवन हो तो ऐसा जीवन -- इतना विषदग्ध जीवन संसारमें सृष्टिकर्ता किसीको कभी न दे।

मैं अपनी ही कहे जारहा हूँ—करूँ भी क्या। दूसरे किसीकी कहने योग्य हूँ ? मैं अपना ही अन्धकार नहीं दूर कर पाता तो दूसरा मुझे कैसे दीखेगा। मैं तो छोटा हूँ, दुर्बल हूँ, अपनमें ही सीमित हो गया हूँ। अन्धकारमें भटकके, भयावह, उत्पीड़क अपने ही मांसाशी पिशाचके समान यह कन्हाईका अत्यन्त प्यारा छोटा भाई हो जायगा, किसीने कभी कल्पनाकी थी ?

कनूँ कहता था—'अंशुको अपनी तो सुधि ही नहीं रहती। यह दूसरोंकी ही खोज लेता दौड़ा करता है। यह दूसरोंको ही आलोक देता फिरता है। दूसरा भूखा न रहे, दूसरा कोई दुःख न पावे, इसी चिन्तामें यह दुर्बल हो गया है। इसे कोई पुष्प मिले या फल, दूसरे सखाओंको देने दौड़ेगा।'

अब कनूँका यह अंशु कितना स्वार्थी हो गया है, वह आकर देखता क्यों नहीं। इसे अब पता ही नहीं कि व्रजमें इसके अतिरिक्त भी कोई रहता है। सखा उलाहना देते हैं—तो मुख छिपाये, अंशु तो मुख छिपाये पड़ा ही रहता है कहीं।'

अब व्रजमें क्या है कि मैं किसीको दूँगा। सुनता हूँ कि कुरुक्षेत्रमें सूर्य-ग्रहणके समय स्नान करने द्वारिकासे हमारा कन्हाई भी आवेगा। दाऊ दादा आवेगा और उसके सब अपने आवेंगे। श्रीव्रजराज बाबा इसीसे चल रहे हैं और सबको साथ चलनेको कह रहे हैं। कन्हाई मिलेगा, अतः हमको चलना है, अन्यथा हम गोपोंने कहाँ राहु या सूर्यका कोई ऋण लिया है कि हम वहाँ दौड़े जाते।

अंशु तो अपने किरणमाली व्रजराजकुमारका है। वह मिलेगा और अंशु सचमुच प्रकाशमय अंशु हो जायगा। उज्वल, निर्मल, आलोकमय अंशु। इसमें ग्रहण भी नहीं लगना है। हमारा कन्हाई मिलेगा हमें—कितने युग बीत गये उससे पृथक हुए—अब वह मिलेगा, अवश्य मिलेगा।



तोक कृष्ण—

व्रजमें मैं सबसे छोटा था। सबका स्नेहपात्र और श्यामने तो मुझे सिर पर ही चढ़ा रखा था। मैंने जाना ही नहीं कष्ट, अभाव, अपमान होता क्या है। परिहासमें भी कोई मुझे खिझानेका साहस नहीं करता था। सब समझते थे कि तोक रूठेगा तो कृष्ण पता नहीं कितना उत्पात खड़ा करेगा।

मेरी कोई बात तो नहीं टालता था। यहाँ मैंने सदा उसीका उत्तरीय, उसकी वनमाला पहिनी। वह मेरा शृंगार अपने हाथों करता था। कितने स्नेहसे सजाता था मुझे।

खेलमें सखाओंका कोई दल जयी हो या पराजित, तोक सदा जयी रहता था। कृष्ण कहता था—'तू भी कभी हारता है क्या।

मैं खेलमें भी हारनेके लिए नहीं था। मैं चाहे जो करूँ; इतना ही नहीं, मैं जिससे जो कहूँ, वह भी वही करता था। कन्हाई एक बार दाऊ दादाकी बात भले टाल दे, मेरी बात कभी नहीं टालता था।

'तोक व्रजराजकुमारकी दूसरी मूर्ति है।' व्रजमें सब कहते थे। कहते अब भी हैं और जो देखता है मुझे वही गोदमें बैठा कर, हृदयसे लगाकर रुदन करने लगता है।

मैंने जाना नहीं था—मुझे कन्हाईने जाननेका अवसर ही नहीं दिया कि अपनी इच्छाको रोका कैसे जाता है। अपने इस छोटे भाईकी प्रत्येक बात वह पूरी करनेको सदा उद्यत रहता था।

अब जैसे मेरी कोई इच्छा ही न हो। मैं अपनी कोई इच्छा प्रकट करनेको भी स्वतन्त्र नहीं रह गया। बाबा, मैया और दूसरे भी जब गोदमें बैठा कर कुछ मुखमें देने लगते हैं, कुछ पहिनाने-सजाने लगते हैं, मैं उसे अस्वीकार भी नहीं कर पाता और उसको स्वीकार करनेमें मुझे कितनी पीड़ा होती है, अब किससे कहूँ। जिसे अस्वीकार करूँगा, उसीका अत्यन्त कातर स्वर सुननेको मिलेगा—'लाल ! अब तू भी ना करता है ?'

मैं कन्हाई जैसे रंगका, कुछ आकारका हूँ। पहिले वही अपने वस्त्राभरणोंमें सजाये रखता था और अब दूसरे प्रकारका वस्त्र पहिनना भी चाहूँ तो मेरी मैया ही

हा-हाकार करने लगती है। बाबा मुझे दूसरे प्रकारके आभरण छूने ही नहीं देता। सखा मेरे केशोंमें मयूर पिच्छ लगाये बिना नहीं मानते।

'लाल ! तू ही तो सबका अवलम्ब है। तुझे ही देखकर तनिक नेत्र शीतल होते हैं।' गोपियाँ पता नहीं क्या-क्या कहती हैं।

'लालजी ! अब छीनकर दही खाने वाले तुम्हारे अग्रज नहीं रहे तो तुम देने पर भी नहीं खाओगे ?' बालिकायें जब नेत्र भर कर हिचकियाँ लेने लगती हैं—'हमने तो तुम्हारे चिढ़ानेका कभी बुरा नहीं माना। हमने तो तुम्हें कभी कुछ नहीं कहा। अब हमारा क्या अपराध है कि तुमने भी मुख दिखाना छोड़ दिया ? तुम तो आजाया करो।'

मेरा हृदय क्या कहता है, मुझे कितनी पीड़ा होती है, कोई नहीं पूछता। जो मेरा सब कुछ था, जिसने मुझे व्रजमें सबका ही स्नेह पात्र बना रखा था, वही नहीं है और मैं सजा रहूँ, मैं प्रसन्न रहूँ, मैं दिनभर खाता ही रहूँ—कितना झेलूँ मैं यह सब विष ? कहाँ सीमा है इसकी।

'दादा ! तूने तो मुझे कहीं का नहीं रखा।' कान्हाई मिलेगा कुरूक्षेत्रमें तो उससे कहूँगा—'तुझे व्रजसे चले ही आना था तो अपने इस तोकको तू कुरूप बनाकर नहीं आसकता था ? इसे कोई कुष्ट जैसा रोग नहीं देसकता था ? इसे तो ऐसा कर आता कि इसको देखकर किसीको तेरा भ्रम न हुआ करे।'

श्यामसुन्दर भी क्या करे। वह किसी को कष्ट, रोग दे नहीं सकता। यह करना उसे नहीं आता। कृष्ण तो सुख, सुयश सम्मान ही देना जानता है। उसने यही दिया—बहुत-बहुत दिया मुझे। यह तो मेरा अभाग्य—अपने फूटे कपालका क्या करूँ।

कुरुक्षेत्रमें वह मिलेगा। उसका स्वभाव जानता हूँ। वह द्वारिका भले चला गया, स्वभाव तो उसका कहीं चला नहीं गया। उसे फिर वही 'तोक कहाँ ? तोककी धुन चढ़ेगी। उसे जो कुछ उत्तम मिले, जो कुछ प्रिय लगे, सब तोकके लिए चाहिये उसे।

यह भी जानता हूं कि मैं उसे रोक नहीं सकता। उससे रूठ नहीं सकता। मैं उससे एक बार भी मना नहीं कर सकता। वह मिलेगा और अपने असीम स्नेहमें डुबा देगा। उसका लाड़ उमड़ेगा-उमड़ेगा ही और तोक………… …।



सुबल—

अपने भाग्यका ही दोष है, और किसीका दोष कहा ही नहीं जासकता। एक वह भी भाग्य था जब हमारे सुख, हमारे गौरवकी कहीं समता नहीं थी संसारमें और एक यह भी दिन है कि लगता है कि बरसानेके स्वामी और उनके परिवारके समान भाग्यहीन कभी कोई ससारमें हुआ ही नहीं होगा।

कृष्णचन्द्र कितना सानुकूल था और दाऊ दादा तो जैसे अनुग्रह-विग्रह है ही। व्रजेश्वरी मैया अञ्चल फैलाकर माँगती थी कि बहिन मेरी उसकी बहू बनकर उसके आँगन आवे। व्रजराज बाबा भोले बाबा हैं। मेरे पिताकी प्रत्येक बात उनके लिए वेद वाक्य जैसा है।

हमारे यहाँ ही कौन था जो उस वनमाली मयूर मुकुटीको पराया माननेको एक क्षणको भी प्रस्तुत होता। मैया, बाबा तो अब भी उसे अपना ही मानते हैं और बहिन—अब तो सारा ब्रज जानता है कि बहिन उसके अतिरिक्त दूसरा नाम सुनते ही शरीर नहीं रख सकती। सब था, सभी कुछ तो था; किन्तु हायरे दैव ! कौन जानता था कि तू ही सानुकूल नहीं है।

गोकुल छोड़कर ब्रजराज बाबा यहाँ आ बसे और हमने मानो सब कुछ पा लिया। सबसे अधिक सुख, सबसे अधिक गौरव वजराजकुमारने मुझे दिया। पहले दिन मिलते ही वह भुजा फैलाकर मिला और जैसे सदाको मिल गया।

कन्हाईने मुझसे तो कभी कुछ छिपाया नहीं। वह तो बहिनसे मिलना चाहता था तब भी मुझसे कहता था। बहिन तो अतिशय भोली है। वह छिपाना क्या जाने। मैं उन दोनोंका सहज मध्यस्थ बन गया। दोनोंको मिलाकर कितना आनन्द पाता था मैं।

जानता था कि ये दोनों एक दूसरेके लिए ही हैं। दोनों एक दूसरेको देखे बिना व्याकुल रहते हैं। इन्हें कोई पृथक नहीं कर सकता। मेरी धारणा परम सत्य हो चुकी है अब। दैव दूसरा चाहे जो करले, बहिनके हृदयको बदलनेकी शक्ति तो उसमें है ही नहीं।

'तुझे देखकर तेरी बहिनका भ्रम हो जाता है।' वह कमल लोचन अनेकबार कहता था और मुझे हृदयसे लगा लेता था। बहिनसे मेरा रूप रङ्ग इतना मिलता है कि अनेकबार माँको भी भ्रम हो जाता है, यह तो मैं जानता ही था। मैं अनेकबार

बहिनके वस्त्र पहिनकर घरमें बैठ रहता और उसे अपने वस्त्रोंमें भेज देता था कि वह वनमें हो आवे। मेरी बहिन—उसका उदास मुख मुझसे कभी देखा नहीं जाता था और दैवने उसकी यह दशा देखनेको मुझे जीवित रखा।

कन्हाईका ही खिन्न बदन मुझसे कहाँ देखा जाता था। वह दूसरे सबके लिए भले नटखट रहा हो, चपल रहा हो, अपने इस सुबलसे तो उसने परिहास भी कभी नहीं किया। वह सदा सानुकल रहा मेरे। सदा मेरी बात तत्काल मान लेता था।

कितना प्रिय था उसे मेरे कन्धेपर भुजा रखकर चलना या खड़े रहना। अब भी लगता है कि उसकी वाम भुजा मेरे कन्धेपर ही है और उसका अलक मण्डित मस्तक मेरी ओर झुक आया है। झुक आया है उसके मस्तक पर लगा मयूर पिच्छ मेरे सिरपर छाया करता।

वही क्या वहाँ जाकर सुखी होगा? हाय! विश्वास होता कि वह वहाँ सुखी है, सानन्द है तो बहिन पता नहीं कबकी चुपचाप मर गयी होती और मर गया होता यह सुबल भी। लेकिन वह अपनेको हँसता, प्रसन्न ऊपरसे चाहे जितना दिखावे, जानता हूं कि बहिनके बिना वह प्रसन्न नहीं रह सकता। बहिनके बिना वह पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिए बहिन किसी प्रकार जी रही है और जी रहा है सुबल।

सुबलने ही दोनोंको मिलाया था पहले। सुबलके बिना दोनों कैसे मिलेंगे? सुबलको जीवित रहना चाहिए—दोनोंको मिलादेनेके लिए जीवित रहना चाहिए।

दादा श्रीदामकी बात दूसरी है। वह अधिक गम्भीर है। वह सब बात मर्यादा में रखकर करना चाहता है। इसीसे वह कन्हाईसे खीझ भी लेता था; किन्तु अब खीझ कहाँ गयीं उसकी? बहिनकी दशा····बहिनकी दशा अब किसीसे देखी जाती है?

अनुगत रहा हूं मैं सदा श्यामका और मुझे इसपर गर्व है। कृष्णने मुझे स्नेह दिया है और बहिनको भी मैंने जैसे मुझसे बना प्रसन्न ही किया है। अब यदि प्रसन्न कर पाता मैं उसे—धन्य हो जाता मेरा जीवन।

बाबा नहीं जारहे कुरुक्षेत्र, यह उचित कर रहे हैं। उनके जानेसे लड़कियोंको संकोच होगा। मैया कितनी दीना होकर कह रही थी—'लाला! तेरा ही भरोसा है। लालीको अपने सखासे मिला देना। बन सके तो वह इसे ले जाय द्वारिका।'

कुरुक्षेत्रमें मिलेगा कृष्णचन्द्र। मुझसे पहलेके समान भुजा भरकर मिलेगा। उसके दोनों चरण छातीसे दबाकर रोकर माँगूँगा—'मेरी बहिनको द्वारिका ले जा!'

लेकिन कितनी मानिनी है बहिन। वह जायगी इसप्रकार? कुछ नहीं सूझता। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरेको ठीक जानते हैं। ये दोनों स्वयं निर्णय कर लेंगे। बस एकबार ये मिल जायँ। कुरुक्षेत्रमें मैं इनका मिलन देखूँगा—अवश्य देखूँगा। ❋

श्रीदाम---

अपनी अधमताकी कोई सीमा ही नहीं है। पिता समझते थे, मैया समझती थी, छोटी बहिन और उसकी सहेलियाँ तक समझाती थीं; किन्तु यह बात ही समझमें नहीं आयी कि बरसानेका राजकुमार नन्दनन्दनसे कुछ कम है। मैं उससे स्पर्धा करता था।

मैंने कितना खिझाया, कितना झगड़ा मैं उससे। उसे भी पता नहीं मुझे खिझाने में क्या मिलता था। मुझे चिढ़ा देनेका कोई भी अवसर चूकता नहीं था वह।

मैं लड़ता-झगड़ता था, खीझता था पर उसके बिना रह कहाँ पाता था। कितनी बार, दिनमें कितनी बार कहता था—'अब तुझसे नहीं बोलूँगा। तेरे साथ नहीं खेलूँगा।' एक घड़ी भी तो यह रूठना नहीं टिकता था।

कितना नटखट—मैं रूठा बैठा होऊँ तो भी सामने आकर अंगूठा दिखाता, मटकता। मुझसे कैसे सहा जाय कि वह मुझे दुर्बल, थका अथवा पराजित कहे। मैं फिर उसके साथ दौड़ने, मल्लयुद्ध करने या कोई स्पर्धाका खेल खेलनेको उठ खड़ा होता था।

कितना सुकुमार था वह। इतने पर भी मैंने अनेकबार विवश किया कि वह पराजित होनेपर मुझे पीठपर ढोये। वह कभी दाब दिये बिना भाग भी खड़ा हो जाता था तो हो क्या गया। वह थक जाता था तो दूसरा क्या करता।

'वह हमारा सम्मान्य है। हमारा प्राण है।' पिता-माताकी यह बात मेरे गले ही नहीं उतरती थी। उसने कभी मुझे यह समझने भी तो नहीं दिया। एकबार भी तो मुझसे रूठा नहीं। लड़ा, झगड़ा, चिढ़ाया बार-बार; किन्तु रूठा नहीं। मैं ही रूठता रहा और जब भी मैं रूठा, उसने मना लिया।

मैं ही अधम हूं। वह यहाँ था तब भी मैंने उसे कहाँ सुख-सम्मान दिया। एक तनिक सी गेंदके लिए उसे भयानक सर्प कालियके ह्रदमें कूदनेको मैंने विवश किया। मैंने दौड़ाया न होता तो वह ह्रदमें क्यों कूदता ? ※

बार-बार पछताता था। सन्ध्याको घर पहुंचते ही दुःखी हो जाता था और निश्चय करता था कि अब उस सुकुमारसे नहीं झगडूँगा। अब उसे नहीं थकाऊँगा। वह चाहे जो करे या कहे, मैं उसका बुरा नहीं मानूँगा; किन्तु दूसरे दिन उसे देखते, उससे मिलते ही सब निश्चय भूल जाता था। फिर वही झगड़ना-चिढ़ना।

उसे देखे बिना रह नहीं पाता था। उससे पृथक होते ही हृदय छट पटाने लगता था और उसके साथ मिलकर भी रह नहीं पाता था। उसका तनिक भी चिढ़ाना सहन नही होता था। मुझसे ही प्रतिस्पर्धा करता था और ढिठाई पूर्वक मुझे खिझाता था।

※ 'कालियमर्दन' की पूरी कथा नन्दनन्दनमें गयी है।

मूर्ख था मैं। वह कहाँ अनुचित कहता था। वह यही तो कहता था कि मैं छोटा हूं। छोटा तो हूं—सहस्रबार छोटा हूं। वह क्या अनुचित कहता था यदि मुझे अपने चरण दबा देनेको कहता था। मैं उसके चरण दबाकर छोटा तो नहीं बनता।

'श्रीदाम! तू उससे स्पर्धा करता था, अब व्रजमें तू ही सर्वश्रेष्ठ बनकर रह।' कोई मुखसे नहीं कहता; किन्तु मेरा ही हृदय हा-हाकार करता मुझसे रात-दिन कहता है, मैं इसका क्या करूं?

तंग आकर व्रज छोड़ गया? यह स्वीकार करले तो श्रीदामा क्षणभर जी सकेगा? मैं अधम ऐसा ही हूं; किन्तु श्याम उदार कितना है। उसे किसी सखाका दोष दीखता है? वह तो मेरे दोषको भी अपना ही मान लेता था। मैं अकारण रूठता तो भी मनाता था मुझे।

'मैं कुरुक्षेत्र नहीं जाऊँगा।' मैंने यह अकारण तो नहीं कहा था। अपनी अधमता, अपनी कठोरताकी ओर देखते मेरा साहस नहीं होता कृष्णको मुख दिखलानेका। मुझे अब भी अपनेपर भरोसा नहीं है कि मिलनेपर मैं उससे—उस द्वारिकाधीशसे भी झगड़ नहीं पड़ूँगा और दूसरा भी भरोसा नहीं है कि वह इतना गम्भीर हो गया होगा कि मुझे अब चिढ़ावेगा नहीं।

'तू कहता क्या है?' पिताने सुनते ही मेरी ओर ऐसे देखा कि मेरे प्राण सूख गये। जीवनमें पहलीबार मैंने उनके मुखपर वह रोष, निराशा, वेदनाका भयानक भाव देखा। पहली बार उन्होंने आदेश दिया—'तू जायगा! तुझे जाना है।'

मेरी माता फटे-फटे नेत्रोंसे मेरी ओर देखती रह गयी, जैसे मुझे पहचानती न हो। जैसे मैं उसका पुत्र न होकर मथुरासे भेजा कंसका कोई राक्षस होऊँ।

'तू मुझे सचमुच मरी देखना चाहता है?' बहिनने—मेरी उस बहिनने कहा, जिसके मुखसे कठोर शब्द निकलना ही सम्भव नहीं है।

'दादा, तू चलेगा।' केवल सुबलने मेरे मुखकी ओर देखा और गम्भीर बनकर कहा—'तू चले बिना रह सकेगा? जी सकेगा?'

वह सबसे कह आया, ठीक कह आया कि मैं चल रहा हूं। सचमुच मैं चले बिना रह जाऊँ तो शरीर ही रहेगा, प्राण नहीं रह सकते। व्रजराजकुमारको कहीं स्वप्न में भी भ्रम हो जाय कि श्रीदामाको उसका सख्य, उसका सम्बन्ध स्वीकार नहीं—क्या होगा बहिनका? क्या होगा व्रजका? क्या होगा बरसानेका? श्रीदामा जायगा—अब गर्व किसका। जाकर उसके चरण पकड़ूँगा। दौड़कर—गलित गर्व श्रीदामा मिलेगा और कन्हाई इसे उठाकर हृदयसे लगा लेगा। ❋

भद्रसेन—

अपने कनूं को मैं जानता हूं। वह किसीकी भी उपेक्षा नहीं कर सकता। अपनाकर छोड़ना उसे आता नहीं है। अपनों को वह भूल जाय — कभी सम्भव नहीं हैं। वह व्रजका है, हमारा है और सदा हमारा रहेगा।

श्याम मथुरा रह गया या द्वारिका जाकर वहीं रुक गया है यह बात भी क्या विश्वास करने योग्य है? वह तनिक नटखट है। यहीं हमारे मध्य ही रहता कहीं छिप गया है थोड़ी देर को। स्वयं छिप गया है और हम सबको छिपे-छिपे देख रहा है। हंसता होगा कि हम उसे ढूँढ़ नहीं पाते हैं और मानते हैं कि वह द्वारिका जा बैठा है।

किसीको मेरी बात पर भरोसा नहीं; किन्तु कोई यह कह सकता हैं कि संसार के सब राक्षस मर गये? अब कोई राक्षस है ही नहीं। कहीं राक्षस है तो अब कोई ब्रजमें क्यों नहीं आता? राक्षस इतने मूर्ख नहीं हैं। भरी सभामें उनके राजा कंसको जिसने केश पकड़कर पटककर मारा डाला, उसके हाथों मर जाने की कोई शीघ्रता उन्हे नहीं है। वे सब जानते हैं कि नन्दनन्दन ब्रजमें पहुंचते ही उन्हे यम-लोक भेजदेने की मानो शपथ किये बैठा है।

असुर-राक्षस न सही, देवता ही कोई क्यों नहीं आ जाता। इन्द्रकी पूजा तो गोप सदाको छोड़ चुके। ब्रज में गिरिराज के अतिरिक्त किसी की पूजा होती नहीं। देवताओं का राजा हम गोपों से डर गया है? अरे, वह सहस्राक्ष है। उसे दीखता होगा। कि गोवर्धन-उठाने वाला ब्रजराज कुमार यहीं बैठा है। गिरिराज भी कहीं गये नहीं हैं।

वह कुरुक्षेत्र में मिलेगा? बाबा चल रहे हैं, मैया चल रही है, सब सखा चल रहे हैं, बरसाने की बालिकायें चल रही हैं तो मिलेगा ही। हमसे आगे दौड़ जायगा छिपकर औरु दिखावेगा जैसे वह सचमुच द्वारिकासे आया है।

सब कहते हैं कि वह सचमुच द्वारिका हैं। वहां उसने बहुत विवाह कर लिये हैं। अपनी पत्नियोंको, पुत्रोंको मी लेकर आवेगा। यदि ऐसा है तो?

तब तो बहुत बुरी बात है। इसका अर्थ है कि कन्हाई बहुत दुःखी है, बहुत ही व्यस्त है। बहुंत काम करना पड़ता है उसे और वह अवकाश ही नहीं पाता है।

मैं ही अपने श्यामको नहीं जानूंगा । कोई काम बीच में वह छोड़ नहीं पाता । खेलमें लगने पर तो उसे अपने भोजन-कलेऊकी स्मृति नहीं आती थी । वह घूपमें तपता रहता था और खेलता रहता था । उसे मैं डांटकर, झगड़कर छायामें लाता था । अब द्वारिकामें यह कौन करता होगा ? दाऊ दादा तो अपनी धुनमें बैठा रहता है ।

मथुरा पर मगधराजकी प्रतिवर्ष चढ़ाइयाँ होती रहीं । यादवों को वहाँ से द्वारिका ले जाना पड़ा । यादवोंकी व्यवस्था अब तक भी बनी नहीं लगती । अब भी उनका नगर निरापद नहीं हुआ । श्याम शरणगत को, सम्मुख आये असहायको छोड़ नहीं पाता ।

बहुत बुरी बात है तब । वह रात-दिन जुटा रहता होगा । उसे अपनी भूख-प्यासका भी स्मरण नहीं आता होगा । उसका भुवन सुन्दर शरीर दुर्बल हो गया होगा । उसका मुख सूख गया होगा । वर्षामें, घूपमें, शीतमें, बिना उत्तरीय वह भागता दौड़ता होगा । उसे कोई रोकने वाला वहाँ नहीं । कोई उसे बलात् छायामें दो घड़ी बैठा देने वाला नहीं । कोई स्मरण कराने वाला नहीं कि उसे भूख लगी है ।

वह ऐसे किसीकी सुनता भी तो नहीं । वहाँ कौन है जो कहे—'मैं थक गया मुझे क्षुधा लगी है, और जिसकी ओर देखकर वह वनमाली हंसकर बैठ जाय । जिसे कलेऊ करनेको स्वयं कलेऊ करने लगे । उसे अपनी क्षुधा, अपनी श्रान्ति तो किसी कार्यसे कभी रोक नहीं पाती ।

यादव इतने स्वार्थी हैं कि वे अपनी ही सुख-सुविधाकी बात देखते सोचते होंगे ? उन्हें सुकुमार श्यामका स्वेद सना, श्रान्त शरीर दुःखी नहीं करता होगा ? उन्हें उस कमल लोचनका ध्यान नहीं आता होगा ? यहाँ भी तो अनेक सखा खेल में लगने पर देख नहीं पाते थे कि कन्हाई कब थक गया है । श्यामका स्वभाव भी तो लोग समझ नहीं पाते और वह हठी सुनता भी तो सरलता से नहीं है । यहाँ भी कम उसे समझ पाते थे और उसे मना लेना तो भद्रके ही वशकी बात थी । वहाँ उसका ध्यान कौन रखता होगा ?

वह कुरुक्षेत्रमें मिलेगा । मिलेगा, मिलेगा तो सही; किन्तु द्वारिकासे आकर मिलेगा या यहींसे छिपकर आगे भाग जायगा और आगेसे आकर मिलेगा ?

यदि वह सचमुच द्वारिका ही है तो अपने इस भद्रसे छिपा सकेगा ? ब्रज से बाहर, अपनोंसे दूर वह सुखी रह सकता है ? वह दुर्बल नहीं हो गया होगा ?

तब उससे पूछना होगा —'कनूँ' तेरा भद्र मरा नहीं है। तू चाहे जितना व्यस्त रहे चाहे जितना श्रम करता रहे और मैं तेरे साथ न रहूँ, मैं तेरी कुछ सहायता न कर सकूँ तो मेरे जीवित रहेनेका लाभ ? तू भी नहीं जानता—सचमुच नहीं जानत; कि तेरे भद्रका जीवन-प्रयोजन और कुछ नहीं ? तू भी भद्रको भूल जा सकता है ?'

नहीं, कन्हाईको उलाहना देकर खिन्न नहीं कर सकता मैं। वह जैसे प्रसन्न रहे, सुखी रहे, मैं वैसे प्रसन्न; किन्तु वह प्रसन्न तो रहे ।

वह मिलेगा और हंसता, दौड़ता आकर लिपट जायगा। वह भले मुखसे न कहे, उसके कमल लोचन कहेंगे—'तू आ गया भद्र; अब तू सम्हाल लेगा मुझे। मैं निश्चिन्त हो गया।'

मिलेगा—मेरा कनूं मिलेगा मुझे।

—+—

चन्द्रावली—

वनमाली मिलेगा, मिलेगा तो वह इस भाग्यहीना चन्द्रावलीको। उससे उसका क्या मिलना, जिससे उसका वियोग कभी होता ही नहीं है।

मुझे कभी यह भ्रम नहीं हुआ कि वह कमलनयन श्रीराधाका है। कीर्तिकुमारी ही उसकी आह्लादिनी है। वह दूसरेको सन्तुष्ट करनेके लिए कुछ भी करे, उसे स्वयं सुख दूसरी कोई दे नहीं सकती।

मैं निर्लज्जा, धृष्टा बनी। मैं अत्यन्त स्वार्थपरा हूँ। अपने सुखके लिए मैं उस मयूरमुकुटीको पकड़ लेती थी, रोक लेती थी। वह संकोची—किसीका स्नेहभंग वह नहीं कर पाता। लेकिन मैं इतनी मूर्खा तो नहीं कि इतना न जान सकूँ कि जो मेरा सर्वस्व है, वह कहाँ सुखी होता है।

उस घनश्यामकी उदारताकी सीमा नहीं है। वह मुझ जैसी प्रगल्भाको भी रसदान कर देता था। मैं तो पिपीलिकाके समान रसलुब्धा स्वार्थिनी हूँ। मैंने कब उसके स्वार्थको, सुखको देखा। मुझे तो स्पर्धा सूझती थी और स्पर्धा भी किससे—इस अपनी बहिनसे जिसके भोलेपनकी सीमा नहीं है।

मेरी क्या समता राधासे । श्याम उसका सेवक वननेको प्रस्तुत, जिस पर राधा सानुकूला हो राधा कृपा पूर्वक देखले, गिरिधर उसका अनुचर और मैं राधाकी स्पर्धा करने चली थी। वह मेरी पितृव्य कन्या है, यह भी कोई स्पर्धाका आधार है ? उसका रूप—सिन्धुजा उसकी पदकान्तिकी स्पृहा नहीं कर सकती और उसका शील उसका औदार्य·········· ।

उस राधासे स्पृहा की मैंने । अब वियोगकी अनन्त ज्वाला मेरा भाग्य न वने तो दूसरेका वनेगी ? लेकिन यह दारूण वियोग भी मुझको दग्ध नहीं कर पाता। मैं जीवित रहकर उस हृदयहारी चरणोंका स्पर्श पानेकी अब आशा नहीं कर सकती, किन्तु यदि मर पाती—वह इतना निष्ठुर तो नहीं है कि चन्द्रावलीकी चिताभस्म पर एक वार अपने पद रखना भी अस्वीकार कर देता। मैं मरकर उसका चरण स्पर्श पा सकती हूँ।

मैं तो घोर स्वार्थिनी हूँ। मैंने कब उसका सुख देखा था कि अब देखूँगी। मेरे मरने पर वह दुःखी हो; किन्तु उसके कमल लोचनोंके विन्दु चन्द्रावलीकी चिताभस्म पर पड़ेंगे तो सही। मैं तो इसे सहलेनेको, सौभाग्य माननेको भी प्रस्तुत हूं, यदि मैं मर सकती।

मैं मर भी नहीं पाती हूं इस राधाके कारण । यह इतनी भोली—मैं इससे स्पर्धा करती थी इतनी अधमा और मुझे जीजी कहते न तब थकती थी, न अब थकती है। है। मैं मर जाऊँ तो यह जीवन रख सकेगी ?

'जीजी ! तुम उन्हें ला सकती हो। तुम्हीं उनके साथ ऐसा साहस कर सकती हो।" राधा मुझसे कंगालिनी बनकर अञ्जल फैलकर मिक्षा मांगने लगती है— 'जीजी ! उन्हें ले आओ। वे तुम्हारे ही रहेंगे। मैं दूरसे ही उनके दर्शन करके प्राण रख लूँगी। मुझपर इतनी कृपा करो जीजी।'

अब इसे कैसे समझाऊँ कि मयुरमुकुटी आवेगा तो तेरे आकर्षणमें ही बँधा आवेगा। तुझसे तो वह वियुक्त है नहीं। तेरी कपोलपल्लीके ये स्वेद-विकृत चित्र, दूसरेके करोंके हैं ? वह विमुक्त तो है इस चन्द्रावली जैसी भाग्यहीनासे। यह मी रूपगर्विता बनने चली थी सो उसने द्वारिकामें सहस्रों विवाह कर लिये। यह जानती हूं कि उन महारानियोंकी समता करने योग्य भी गोपकन्या चन्द्रावली नहीं हो सकती।

चन्द्रावली मर नहीं सकी। चन्द्रावती मुख छिपाकर यहाँ बैठी भी नहीं रह सकती। इसे कुरुक्षेत्र जाना है। यही तो होगा कि उसकी महारानियोंकी दासियाँ

व्यंग करेंगी। मेरा उपहास होगा वहाँ ; किन्तु चन्द्रावलीको जाना है—इसलिए जाना है कि उस वनमालीसे अपनी बात कहले। वह बात कहले जो केवल चन्द्रावली ही कह सकती है।

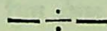
कुरुक्षेत्रमें वह मिलेगा वनमाली। उससे मुझे कहना है—'श्यामसुन्दर ! चन्द्रावली तो नगण्या है। यह तुम्हारी द्वारिकाकी महारानियोंकी दासी होने योग्य भी नहीं। यह निर्लज्जा है। इसका क्या सोचो। तुम्हारे इस चन्द्रमुखको एकबार और देख लेनेकी आशामें इसके प्राण अटके थे। वह आशा पूरी हो गयी। अब इसकी एक बात कृपा करके सुनलो। तुम्हारे चरणोंमें यह कंगालिनी एक निवेदन करनेकी धृष्टता करती है, तुम्हींने इसे धृष्टा बनाया है। तुम्हींने इसकी धृष्टताका बार-बार मान रखा है। यह बात भी सुनलो। फिर तुम्हें यह अपना कलंकित मुख, अपना फूटा कपाल फिर नहीं दिखलावेगी।

मेरी बहिनको तुमसे अधिक दूसरा कोई नहीं जानता, फिर भी यह धृष्टता कर रही है। तुम उसपर नहीं, अपने पर दया करो व्रजसुन्दर ! अपने पर दया करो।

जानती हूं कि राधासे तुम्हारा वियोग सम्भव नहीं है। तुम उसके हृदय और वह तुमसे अभिन्ना। लेकिन रसलोलुप ! तुम यह जो उसके साथ वियोगाभास उपस्थित करनेकी क्रीड़ा करते हो, यह भी वह सहन करने योग्य नहीं है।

तुम जानते हो कि सतीने जब दक्ष-यज्ञमें देहत्याग दिया था तो भगवान महादेव उन्मत्त हो गये थे। सतीके शवको कन्धेपर उठाये वे विरक्तोंके परमाराध्य, योगीश्वर मुकुटमणि तीनों लोकोंमें भटकते फिरे थे। तुम तो यह भी नहीं कर सकोगे। यदि राधा देहत्याग करती है तो मनमोहन ! तुमसे यह भी नहीं हो सकेगा। तुम राधा का शरीर अंकमें लेकर हिल भी नहीं सकोगे। तुम रुदन करोगे—तब तक रुदन करते रहोगे, जब तक तुम्हारा यह भुवनसुन्दर शरीर अश्रु बनकर सर्वथा निःशेष नहीं हो जायगा। अतः अपने पर दया करो।'

चन्द्रावलीको इतना ही कहना है उससे कुरुक्षेत्रमें मिलने पर।



रंगदेवी----

विशीर्णप्राय-दला, हिमहता कमलिनी समाना स्वामिनीको देखकर किसका हृदय विदीर्ण नहीं होगा। नित्योत्फुल्ला, स्मित-शोभितानना अपनी अधीश्वरीको देखे जैसे युग-युग बीत रहे हैं।

अपनी सुधि किसे हैं। प्राणभूता, हमारी सर्वस्वरूपा श्रीराधाकी जो दशा हो रही है, उसे देखना पड़ता है, यही क्या हमारा कम बड़ा दुर्भाग्य है।

रसिक शेखरके वियोग वड़वानलने हमारी निकुञ्जेश्वरीकी ऐसी अवस्था कर दी है कि उसका वर्णन सम्भव नहीं। पहिचान नहीं पाती हैं, वे पूछती हैं—'मैं कौन हूँ ?' तब हम सबको कैसे पहिचानेंगी ? हम उनकी चरण-सेविकाओंसे ही जब वे अनजानकी भाँति पूछती हैं—'आप कौन हैं ? इस कंगालिनी दुःखियापर आपने कैसे कृपाकी ?' तब जी चाहता है कि शिलापर मस्तक पटक दूँ।

मरण तो बहुत सरल है ; किन्तु यह जीवन ? लेकिन जीवन हमारा होता तो हम नष्ट कर देतीं। यह स्वामिनीको समर्पित जीवन—इस समय तो सेवाकी सबसे अधिक आवश्यकता है उन्हें।

'सखि ! मुझे अकेली रहने दे।' स्वामिनी जब कुछ चेतनामें होती हैं, कुछ पहिचानती हैं तब भी अत्यन्त कातर स्वरमें प्रार्थना करती हैं। इसकी पीड़ा कोई कैसे समझेगा। अपने ही अङ्गको जब कोई अपनेसे पृथक करनेकी विवशता अनुभव करने लगे—स्वामिनीने हम सबको तो सदा अपना अङ्ग ही माना। अपनी निभृत निकुञ्जकी परम एकान्त क्रीड़ाकी साक्षिणी रखनेमें संकोच नहीं किया, वही स्वामिनी अब हम सबसे भी एकान्त चाहती हैं।

यह वृन्दावन—इससे बाहर रसिकेन्द्र वनमाली मिलेंगे ? मैं स्वतन्त्र होती तो इस भूमिसे बाहर खड़े श्यामसुन्दरकी ओर भी देखना नहीं चाहती ; किन्तु मैं तो स्वाधीना नहीं हूँ। मेरा रोम रोम, मेरी श्वास-श्वास स्वामिनीकी। मेरा वृन्दावन वहाँ जहाँ मेरी निकुञ्जेश्वरी। वे कुरुक्षेत्र चलना चाहती हैं तो इस सेविकाको क्या आपत्ति। कुरुक्षेत्र सही ; किन्तु वहाँ श्रीद्वारिकाधीशकी महारानियाँ आवेंगी, यदि उनमें ठसक हुई—मेरे प्राण सह सकेंगे ?

कुरुक्षेत्र स्वामिनी चल रही हैं, अतः वहाँ चलना है और ये निकुञ्जेश्वरी चल रहीं हैं, अतः वहाँ वनमालीको मिलना भी है ही। ये तो इच्छा करें तो मयूरमुकुटी

अधमतम प्राणीको भी प्राप्त हो जाते हैं। प्रेम प्राप्त होता है इनकी पदरजके प्रसादसे और प्रेम परवश हैं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन लेकिन द्वारिकामें वे वासुदेव बनकर मिलेंगे। उनकी महारानियाँ मिलेंगी। स्वामिनी इतनी भोली, इतनी सरला, इतनी सहृदया हैं; किन्तु इनकी सहेलियोंसे इनकी किञ्चित अवज्ञा भी सही जायगी?

मेरी धारणा निर्मूल भी तो हो सकती है। वे कमललोचन ही मेरी मानिनी स्वामिनीकी अवज्ञा सहन कर लेंगे? श्रीराधाकी अवमानना उनकी अपनी अवमानना नहीं है? वे इनसे भिन्न रहते हैं? वे ऐसी कोई सम्भावना उपस्थित होने देंगे?

तब कुरुक्षेत्र क्यों? अपनी स्वामिनीकी अनुकम्पाने इतना तो स्पष्ट कर दिया है कि रसराज रसिक शेखर महाभावमूर्ति कीर्तिकुमारीसे संयुक्त ही रसराज हैं। इनके बिना वे नहीं और वे रसराज नहीं तो महाभाव किस आश्रयसे रहगा; लेकिन जैसे स्वामिनीका यह वियोगाभास समझमें नहीं आता, वैसे ही कुरुक्षेत्रकी यह यात्रा भी समझसे परे है।

इन दोनोंकी गति किसीकी मतिमें नहीं आती। मैं ही समझ नहीं पाती तो दूसरी कोई क्या समझेगी। कुरुक्षेत्रमें कदाचित् इस अहर्निशि कुररीकी भाँति क्रन्दन करती अपनी अधीश्वरी हंस किशोरीके श्रीमुखपर स्मित रेखाके दर्शन हो जायँ। हाय! कितने युग बीत गये लगते हैं इनके आननपर वह सहजोज्वल स्मित देखे। कुरुक्षेत्रमें इनका प्रसन्न मुखपङ्कज देखकर प्राण तृप्त होंगे।

कुरुक्षेत्रमें वनमाली मिलेंगे और मिलेंगे तो पूछेंगे ही—'सखि! तुझे भी कुछ चाहिए?'

बड़े नटखट, बड़े चपल हैं वे ब्रजेन्द्रनन्दन। लेकिन श्रीराधाकी सहेलियोंके सम्मुख तो सदा अतिशय विनीत। कदाचित ही कभी ऐसा प्रश्न भी करनेका साहस करते हैं। यदि कर ही लिया तो?

'उदार चक्रचूड़ामणि! अब आप वरदानोन्मुख ही हुए हो तो कहते जाओ कि हमारी स्वामिनीकी हम पर प्रीति अविचल रहे।' मुझे उनसे ही पूछ लेना है—'यह भी बतलाओ कि यह कुरुक्षेत्रमें मिलन क्यों? तुम्हें ब्रजसे बाहर भी कुछ रुचता है?'

जानती हूँ कि वे भी कुछ कहेंगे नहीं या कह देंगे—'सखि! तुम्हारी स्वामिनीसे अधिक तो मैं कुछ नहीं जानता। मैं भी उनके पद पंकजोंकी प्रीतिकी याचक ही हूँ। तुम्ही कृपा करो मुझ पर।'

वे ऐसी ही बातें करके विस्मृत करते मिलेंगे।



विशाषा—

विशाषे ! कुरुक्षेत्र तो तू चल रही है ; किन्तु वासुदेवसे तेरा कुछ परिचय है ? श्रीव्रजेन्द्र तनयको ही तू जानती है । उन वनमाली कमललोचन मयूरमुकुटीको जानती है अपनी कीर्तिकुमारीकी कृपासे ; किन्तु ये नन्दतनय व्रजसे बाहर जाते हैं ? कुरुक्षेत्रमें वासुदेव बने वे ही मिल सकते हैं ; किंतु यहीं व्रजमें वे विनोदी गिरिधरण लाल जब चतुर्भुज गिरिराज वन गये थे, तू उनके समीप जानेका साहस कर सकी थी ?

श्रीवृषभानुनन्दिनी ने तो तब भी उन्हें पहिचान लिया था । तब भी उन्होंने कहा था—'यह अपना ही छलिया है ।' लेकिन वे भी समीप नही गयी थीं । वे समीप जातीं—इनके सम्मुख वे विनोदी चतुर्भुज विशालरूप रख पाते ? तब द्वारिकामें ही इनके सम्मुख वे चतुर्भुज रह सकेंगे ?

द्वारिकासे उनकी महारानियाँ भी तो आवेंगी । उनका परिचय अपने चतुर्भुज भगवान वासुदेवसे है । श्रीकीर्तिकुमारीके सम्मुख यदि वे द्विभुज हो गये तो….'

उन द्वारिकाकी राजरानियोंका क्या होगा, क्या होगा वासुदेव चतुर्भुजका अथवा मेरा ही क्या होगा, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है । मेरा अब और होना ही क्या है । कोई मृतशवको क्या मारेगा । मारे भी तो उसकी पीड़ा क्या ? मेरी सखी, मेरी स्वामिनीकी जो स्थिति है, उसे देखते विशाषा क्या जीवित है ? मरण इससे सहस्र-सहस्र गुणित सुखद होता है ।

मेरी इस स्वामिनीका क्या होगा ? यह तो उन्मादिनी हो रही है । गगनमें मेघ देखते ही मयूरीके समान पुकारती है—'सखि ! मेरे घनश्याम आ गये ।'

तमालतरुसे भुजा फैलाकर लिपट जानेवाली मेरी इस भोली सखीका क्या होगा कुरुक्षेत्र पहुँचकर ? जब यह चतुर्भुज वासुदेवको देखेगी—नहीं भी देख सकती है । इसे देखकर तो पाषाण द्रवित हो जाते हैं । वे इतने पाषाण हृदय तो नहीं होंगे कि द्रवित न हो जायँ ।

हाय ! यह मानिनी कितनी दीना हो गयी है ! यह हम सबसे ही अनुनय करने लगी है—'सखि ! कुरुक्षेत्रमें उन वनमाली, पंकजाक्षसे कुछ कहना नहीं उनकी महारानियोंसे । वे सब मेरी सम्मान्या हैं । वे मेरे जीवन सर्वस्वकी प्रिया हैं ।

राजकन्याएँ हैं। ऐसा कुछ मत करना जिससे उनमें-से किसीकी भी अवमानना हो। उन मयूरमुकुटीको तनिक भी खेद नहीं होना चाहिए।'

'और आप ?' मैंने पूछ लिया।

'तू आज यह आप-आप क्यों करने लगी है ?' मुझ झिड़क दिया श्रीराधाने और मैं धन्य हो गयीं। इस उन्मादावस्थामें, इस वियोग-विह्वला रहने पर भी वे विशाषाको अपनी तो स्मरण रखती हैं। झिड़क तो तब आता जब ये दीना बनकर अनुनय करने लगती हैं।

'विशाषे ! बुरामत मानना सखि।' दूसरे ही पल इन परमोदाराने हृदयसे लगा लिया—'मैं इन दिनों चिड़चिड़ी हो गयी हूँ। तुम सबसे पृथक तो राधाकी स्थिति ही नहीं है; किन्तु आप कहकर तू मुझे अपने-से दूर तो मत कर। सुन, हम सब तो गोपकन्या हैं। हमारा क्या मान-सम्मान। वे कौस्तुभकण्ठ अपनी अतिशय उदारतावश राधाको अपनी कह लेते हैं। हम सब तो उसकी किंकरी हैं। उनकी महारानियोंकी भी सेवा-सम्मान हमारा सौभाग्य है। तुम सबको इसीसे बार-बार अनुनय करती हूँ कि वहाँ उनकी महारानियोंके सम्मुख राधाकी कोई प्रशंसा मत करना। यहाँ वे श्रीब्रजेन्द्रनन्दन इसे भी कुछ सम्मान देते थे, यह चर्चा पूछने पर भी नहीं। मेरे उन हृदयधनका कोई उपहास करे, यह मैं सह नहीं सकती, तुम सब इतना तो जानती हो।'

मैं क्या कहूँ कि क्या जानती हूँ, क्या नहीं जानती हूं। मैं कैसे अपनी इन परमाराध्याको समझाऊँ कि मैं सांकेतिक अवमानना भी नहीं सह सकती हूँ, वहीं यह भी जानती हूं कि वे रसराज तुम्हारी कभी कोई तनिक उपेक्षा करनेकी बात भी सोचे तो उसकी ओर स्वप्नमें भी मुख करनेका मन नहीं करेंगे।

मैं क्या करूँ, कुछ समझ नहीं पाती हूं। सखियाँ मुझसे पूछती हैं और मैं स्वयं ही निश्चय नहीं कर पाती हू कि मुझे क्या करना चाहिए। मैं कुरुक्षेत्र चल तो रही हूं, पर मेरा वासुदेवसे क्या परिचय। इन अपनी किशोरीकी कृपाका ही अवलम्ब है। इनकी कृपा ही प्रकाश देगी जब वे मिलेंगे। वे मिलेंगे तो अवश्य।

—×—

ललिता—

विचित्र स्थिति है श्रीवृषभानुनन्दिनीकी। उनका यह संयोगमें वियोग और इस वियोगाभासकी वेदनाकी भी कोई सीमा है।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दनसे इनका वियोग सम्भव नहीं। प्रतिदिन प्रभातकाल भागती हैं गवाक्षके समीप और कोई पद्मपुष्प हृदयसे लगाये जब विभोर लौटती हैं, वह अरुण सरोज इनके समीप कोई और फेंकनेका साहस कर सकता है। सायँ पुन: पथसे क्षिप्त कोई पुष्प इनके पदोंपर आ पड़ता है और उसे हृदयसे लगाये भावमग्ना हो जाती हैं।

'सखि ! कौन अनिपुणा है जो इतनी शिथिल वेणी बाँधती है निकुञ्जेश्वरी-की ?' मैं परिहासमें पूछती हूं—'यह चरणोंमें अलत्तक सजानेवाली भी कोई अत्यन्त ग्राम्या है। इनका नाम सूचित करो। इन्हें तब तक सेवासे पृथक करना पड़ेगा, जब तक ये अपने कार्यकी शिक्षा लेकर दक्षा न हो जायँ। इतना फैला अलक्तक, वह आर्द्र करोंसे ही चरणसज्जा करने लगी थी या उसके कर स्वेदार्द्र हो गये ?'

'तू मौन नहीं रहेगी ?' मेरे मुखपर कर रखकर लज्जारुणा श्रीराधा मुझे हृदयसे लगा लेती हैं और उनके रोमाञ्च कण्टकित, स्वेदार्द्र, कम्पित गात्रका स्पर्श पाकर धन्य हो जाती हूं।'

'तब आप उस अदक्षा पर इतनी सानुकूल हैं ?' मैं हँसती हूं—'वह भाग्य-शालिनी है कौन ? उसे देख तो लूँ कि कोई अविनय मुझसे न हो जाय। मैं तो उसे निकुञ्ज-प्रवेश वर्जिता बनाने जा रही थी।'

'तू मुझे ही निकुञ्जसे निकाल देना चाहती है ?' कीर्तिनन्दिनी मेरी ओर देखती हैं।

'ओह, तो वह आपसे इतनी अभिन्ना है ?' मैं फिर भी हँसती हूं।

'उन रसिक शेखरमें और मुझमें तुझे अन्तरका भ्रम होता है ?' मेरी भोली सखी रहस्य भी रखना जानती नहीं हैं।

'सखि ! वे चले गये व्रजसे।' इस नित्य संयोगमें चाहे जब वियोग दावानल धधकने लगता है—'वे नलिननयन चले गये। मैंने महामाणिक्य पाया था। मैं उस

महाधनको पाकर मत्त हो गयी। मेरा वह धन, मेरा सर्वस्व मुझसे विधाताने छीन लिया। सखि ! राधा कंगालिनी है।'

हाय ! मुझे इन परम सुकुमारीकी यह असाध्य वेदना भी देखनी पड़ती है। ये उन्मादिनी दौड़ती हैं कहीं भी, किसी भी ओर कोई तितली या पीत पुष्प देखकर 'पीताम्बर धारी आगये !' अथवा मयूर देखलेंगी तो—'आये मेरे मयूर पिच्छधारी।' एक पलको इन्हें छोड़ दूँ तो पता नहीं क्या करलेंगी अपना। इनके साथ दौड़ते, इन्हें सम्हालते लगता है कि क्षण-क्षण कल्पके समान दीर्घ हो गया है।

अपनी इन महाभावरूपा स्वामिनी, सखिकी ही अनुकम्पासे जानती हूँ कि इनका यह वियोग भी अभिनय है। जीवोंपर अतिशय अनुग्रह करनेके लिए। इन्होंने इस वियोगका—इस हलाहलसे कोटि गुणित दारूण विषका स्वयं वरण किया है जगतीको प्रेमकी परमपावन सुधाका आस्वादन करानेके लिए।

ये आह्लादिनी आदि शक्ति ही समर्था हैं वियोगकी इस चरमावस्थाको मूर्तिमान करनेमें और वियोगके बिना तो प्रेमका काञ्चन परिशुद्ध नहीं हुआ करता। संयोगमें प्रमाद, स्वसुखास्वादका मल निहित रह सकता है। वह वियोग-वह्निमें ही तो भस्म होता है।

संसारके अल्प प्राण-प्राणियोंपर करुणा करके ये महिमामयी धरापर पधारी और अब अपनी प्राप्तिके पथको स्वयं प्रशस्त कर रही हैं। इनके इस वियोगका चिंतन करके प्राणियोंके कलुष-कठोर हृदय विगलित होंगे, शुद्ध होंगे और वे इनके पादारविन्दकी प्राप्तिके अधिकारी बनेंगे।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन अनुग्रह विग्रह कहे जाते हैं, किन्तु अनुग्रहकी साकार घनीभूत मूर्ति तो श्रीराधा ही हैं। मयूरमुकुटीकी जीवों पर करुणा इनके रूपमें प्रत्यक्ष हुई है। वनमालीका वियोग वरण करके ये जीवोंको अनन्त अनन्त काल तक चिन्तनका संबल दें रही हैं।

यह सब इनके प्रसादसे जानती हूं; किन्तु इनकी यह दशा तो देखी नहीं जाती। सहा नहीं जाता इनका यह तिल-तिल, क्षण-क्षण दग्ध होते रहना। ललिता अपना जीवन देकर भी इन्हें क्षणभरको सुखी कर पाती।

कुरुक्षेत्रमें वे कमल लोचन मिलेंगे, इस आशामें कितनी उत्फुल हो गयी हैं इन दिनों। भोली बालिकाके समान प्रसन्ना। मुझे तो इनकी प्रसन्नतामें ही परमसुख है।

वे पङ्कजाक्ष कभी तुमसे पृथक हुए हैं ? तुम स्वयं संकल्प न भी करना चाहो तो इस किंकरीको अनुमति दे दो। यह उनको कल यहाँ ला खड़ा करेगी। श्रीराधाका आदेश सुनकर वे द्वारिका रह सकेंगे ? लेकिन इनसे मैं यह सब कह नहीं सकती।

मैं सामान्य जीवोंको इनकी निकुञ्ज सेवाकी अधिकारिणी बना देती हूं; किन्तु अपनी स्वामिनी पर तो मेरा वश नहीं है। ये कहती हैं—'ललिते ! उन वनमालीको तनिक भी संकोच न हो। वे सर्वथा स्वच्छन्द रहें। उनकी वेदना भी मुझमें ही परिसीम रहे। मैं भी उनका ही कार्य कर रही हूं। प्राणी इसका स्मरण करके उनके पाद पद्मोंकी प्राप्तिके अधिकारी बनेंगे। सखि ! तू मेरी सहायिका बनी रह।'

सेविका बनी रहूं, यही मेरा परम सौभाग्य। अब इन दिनों इनमें किञ्चित प्रसन्नता आयी है तो प्राणोंको पारितोष मिला। वे वनमाली मिलेंगे, वही निर्णय करेंगे कि इस व्यथाका अन्त कहाँ है।



श्रीराधा—

अभिन्ना सहचरियाँ भी मेरी व्यथाकी ही चिन्ता करती हैं, यही आश्चर्य है। प्राणोंकी पूर्णाहुति दिए बिना कहीं प्रेमका परमोज्वल रत्न प्राप्त होता है। वह प्रेम उन कमल लोचनके प्रेम पयोधिका कोई कण पा जाती राधा।

प्रेम तो है मेरी इन सखियोंमें। ये अहर्निशि मेरी ही चिन्तामें घुलती रहती हैं। इन्हें अपनी क्षुधा-पिपासा, स्नान-शृंगारकी सुधि नहीं। इनके सुकुमार शरीर क्षीण हो रहे हैं मेरे पीछे। अहैतुक, उज्वल प्रेम इनका। इनके प्रेमका कोई अंश मुझे प्राप्त हो जाता; किन्तु इनसे इसकी चर्चा भी करना इनको व्याकुल ही बनाना है।

कुरुक्षेत्रमें वे रसिक शेखर मिलेगे तो उनसे प्रार्थना करूँगी। राधाका कुछ भी हो, इन सहचरियों पर वे अनुग्रह करें। इन्होंने मेरे लिये अपनेको खपा दिया है। मैं उनके प्रेमकी अनधिकारणी हो सकती हूं, ये सब नहीं हैं। इनसी अधिकारिणी उन्हें त्रिभुवनमें नहीं मिलेंगी। इन्हें वे अवश्य अपना प्रेम प्रदान करें।

प्रेमके स्वरूप वही कमललोचन हैं । प्रेमके साकार विग्रह । उनको छोड़कर तो प्रेमकी कोई सत्ता नहीं । वे अनुग्रह करें तो प्राणोमें उनके चरणोंकी प्रीति जागे । वे रिझवार अपने प्रदत्त प्रेमपर ही रीझकर स्वयं उस प्रेमके परवश बनते हैं ।

मेरी सखियोंमें यह जो पावन प्रीति है, उन मयूर मुकुटीकी ही कृपा है । कृपा होनी चाहिए थी इन पर । ये सर्वथा स्वार्थ-गंधहीना—इनसी प्रेमकी पात्रा दूसरी कहाँ ; किन्तु ये सब तो पगली हो रही हैं । ये इस राधाके पीछे पड़ी हैं । इनमें एक भी मानती नहीं कि राधा प्रेम गंधशून्या पाषाणी है । इसमें प्रीतिका लेश नहीं ।

प्रेमका स्वभाव ही उन्मत्त बना देना है । इनके प्रेमने ही इन्हें पगली बना दिया है । इस प्रेमने ही तो वनमालीको भी विगलित कर दिया । अन्यथा क्या रखा है गोप कन्य। राधामें कि वे इसपर इतने रीझ गये ।

मुझमें न रूप है, न गुण और न उन घनश्यामके चरणोंमें प्रीति । मुझसे बहुत अधिक रूपवती तो मेरी सहेलियोंमें ही अनेक हैं । किसी विद्याकला, गुणमें भी मैं इन सबके समान नहीं । ये सब कितनी निपुणा, विनम्रा तथा सेवारत हैं । प्रीतिका लेश भी मुझमें होता तो मैं उन हृदय धनके इतने दीर्घ वियोगमें भी जीवित रहती ? इन अधम प्राणोंको पालती रहती ? मुझमें तो कुछ नहीं है, केवल इतना कि मैं उनकी हूं—केवल उनकी और वे प्रेमैकप्राण इसी नाते मुझे अपनाये रहे । वे अपनी सहज उदारताके कारणही राधासे प्रीति करते हैं । इसे अपनी बनाये रहना उनकी उदारता अतिशय उदारता ही है ।

उन्होंने द्वारिकामें बहुतसे विवाह कर लिए । उचित ही तो किया । जो उनके श्री चरणोंकी प्राप्तिकी अधिकारिणी थी, उनका वे कैसे त्याग कर सकते थे ? त्रिभुवन में तो कोई ऐसी देव, गन्धर्व, नाग, नर आदिकीं कन्या नहीं जो उन भुवन मोहनको देखकर उनकी प्राप्तिको परमाकुल न हो जाय और अपनी प्राप्तिकी अभीप्सा जिसके प्राणोंमें जाग चुकी हो, उसे अपना ही लेना तो उनका स्वरूप है । उनकी प्राप्तिकी प्यास प्राणोंमें जागी हो और तब भी वे अलभ्य रहें तो वे रसिक शेखर कहे जा सकेंगे ?

उन्होंने द्वारिकामें कुछ सहस्र राजकुमारियोंका वरण कर लिया, इसमें आश्चर्यकी बात तो नहीं है । आश्चर्य तो यह है कि उनके साक्षात् धरापर विद्यमान रहते भी देव-दैत्य, नर-नागादिकी कन्यायें दूसरोंको वरण कैसे कर पाती हैं । वरेण्य तो उन वनमालीको छोड़कर दूसरा कोई त्रिभुवनमें है ही नहीं ।

राधाका तो इसमें परम सम्मान, अत्यन्त सुयश है कि यह जिनकी चरणाश्रिता

है, वे ही एकमात्र सृष्टिकी कन्याओंकी वरमाला प्राप्त करने योग्य हैं और इतने उदार हैं कि किसी प्यासे प्राणको कभी निराश नहीं करते ।

मान-मान तो राधाकी मूर्खता थी । मैं उनका प्रेम प्राप्त करके कितनी प्रमत्ता हो गयी थी । कितना कष्ट दिया मैंने उनको । उन गुण निधि, मानद, परमोदारने कितना सम्मान दिया मुझे । कितने विवश बनकर मुझे मनाते थे । उनके सहज औदार्य को मैंने अपना स्वत्व मान लिया था । मुझे प्रसन्न करनेको वे क्या-क्या नहीं करते थे ।

उन्होंने तो मेरा मान भंग नहीं किया । परिस्थितिने उन्हें विवश कर दिया । अच्छा हुआ कि मुझ मूर्खाका मोह भंग हो गया । मैं समझ तो सकी कि मैं नगण्या हूं । मुझमें प्रीतिका लेश नहीं है । मैं केवल उन अपने कमल-लोचनकी प्रीति-पोषिता हू ।

उनकी महारानियाँ मिलेंगी मुझे कुरुक्षेत्रमें । उन महारानियोंकी, उनकी दासियोंकी भी पदरज सम्भव है इस अज्ञा गोपकुमारीको पवित्र करके इसमें कुछ प्रेमका सञ्चार करदे । वे तो सब परमपुण्यमयी हैं । सब प्रेम-मूर्तियाँ हैं सबने मेरे प्राणवल्लभकी सहधर्मिणी होनेका सौभाग्य पाया है । मैं उनके चरण पकडूँगी तो मुझ ग्राम्याको प्रेम-भिक्षा भी नहीं देंगी ?

कुरुक्षेत्रमें वे कमल-लोचन मिलेंगे । उन्हें तो किसीके अपराध कभी स्मरण नहीं रहते । वे अपने श्रीचरणोंमें प्रणत किसीकी उपेक्षा करना नहीं जानते । वे प्रेमकी मूर्ति किसीके प्रति कभी निष्करुण नहीं हुआ करते । वे तो स्मित-शोभितानन ही मिलेंगे और अपनालेंगे । अपनाना ही उनका स्वरूप है । द्रवित ही बनते रहते हैं वे । वे मेरे प्राण-वल्लभ········।

राधा ! तू अब पुनः अज्ञा नहीं बनेगी । तेरा मान फिर नहीं जागेगा । अब इसबार तू उनसे उनके पावन प्रेमकी भिक्षा माँगेगी ? छिः वे हँसेगे । उनको तो कोई प्रेमरहित दीखता ही नहीं । वे तो मुझसे ही प्रेम-याचना किया करते थे । वे क्या कुछ कभी परिवर्तित हो सकते हैं ? तू उनपर अविश्वास कर सकेगी ?

वे तो मिलेंगे ही । वे तेरे हैं । तेरा सौभाग्य तो यह कि कुरुक्षेत्रमें उनकी महारानियाँ मिलेंगी तुझे । उनकी अनुकम्पा, उनका स्पर्श तुझे प्राप्त होगा । तुझे उनसे प्रेमका प्रकाश मिलेगा ।

—प्रयाग कुम्भ अमा २०३३ वि०

